श्रीमन्निम्बार्कीयवैष्णवाचार्यश्रीहरिव्यासदेवाचार्यविरचितः

वेदान्तसिद्धान्तरत्नाञ्जलिः

श्रीवृन्दावनचन्द्रिकाव्याख्यासम्वलितः

द्वैताद्वैतवेदान्तः=तत्त्वत्रय-जीव-जगद्-ब्रह्म-युगल-स्वरूप-उपासना-मोक्षस्वरूप-श्रीभगवद्भक्तिनिरूपण-अर्थपञ्चकः

डॉ. स्वामी द्वारकादास काठियाबाबा

भारतीय विद्या संस्थान

श्रीमन्निम्बार्कीयवैष्णवाचार्यश्रीहरिव्यासदेवाचार्यविरचितः

वेदान्तसिद्धान्तरत्नाञ्जलिः

श्रीवृन्दावनचन्द्रिकाव्याख्यासम्वलितः

द्वैताद्वैतवेदान्तः=तत्त्वत्रय-जीव-जगद्-ब्रह्म-युगल-स्वरूप-उपासना-
मोक्षस्वरूप-श्रीभगवद्भक्तिनिरूपण-अर्थपञ्चकः

सम्पादक एवं व्याख्याकार

डॉ. स्वामी द्वारकादास काठियाबाबा

प्रकाशक

भारतीय विद्या संस्थान

वाराणसी-२२१००२

प्रकाशक
भारतीय विद्या संस्थान
(प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)
सी. २७/६५, जगतगंज, वाराणसी-२२१००२
फोन : (०५४२) २२०१६५५

ISBN–978-93-81189-61-0
प्रथम संस्करण : २०१७ ई.
मूल्य : ८००/-

संगणक :
ज्योति कम्प्यूटर
जैतपुरा, वाराणसी

।। श्रीश्रीराधावृन्दावनविहारी जयति।।

।। श्रीनिम्बार्कभगवते नमः।। ।। श्री सद्गुरवे नमः ।।

समर्पण

अनादिवैदिकनिवृत्तिपथप्रवर्तक-ब्रह्मविद्योपदेशक-लोकाचार्य-श्रीभगवदवतार-श्रीसनकसनन्दनसनातनसनत्कुमारश्रीनारदादि-द्वारा प्रवर्तित एवं तदनुग्रहभाजन जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य द्वारा उपबृंहित श्रुतिस्मृतिसूत्रसम्मत स्वाभाविक द्वैताद्वैतवेदान्तसिद्धान्तानुयायी जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधिपति श्रीस्वभूरामदेवाचार्य परम्परानुगत दार्शनिकश्रेष्ठऋषिवर व्रजविदेही महन्त व वैष्णव चतुः सम्प्रदाय श्रीमहन्त श्री१००८ स्वामी पूज्यपाद परात्परगुरु सन्तदास काठियाबाबाजी महाराज

Brajabidehi Mohanta and Chatusampraday's Shree Mohanta Shree 108 Swami Santadasji Kathia Baba

के
करकमलों में यह
श्रीवृन्दावनचन्द्रिका
हिन्दी व्याख्या
भक्ति गद्गद् हृदय से सादर
समर्पण करता हूँ।

सम्पर्क :
दासानुदास द्वारकादास काठियाबाबा
नैमिषारण्यवास्तव्य

प्रस्तावना

।। श्रीश्रीराधावृन्दावनविहारी जयति।।

।।ॐ नमो भगवते श्रीनिम्बार्काचार्याय।।

यस्योदनं जगत्सर्वं मृत्युर्यस्योपसेचनम्।
यस्य निश्श्वसितं वेदाः श्रीकृष्णं तं नतोऽस्म्यहम्।।१।।
प्रणमामि सदा राधां सर्वकामवरेश्वरीम्।
यस्याः कृपां विना कोऽपि कृष्णं ज्ञातुं हि नार्हति।।२।।
श्रीमद्धंसं कुमारांश्च नारदं निम्बभास्करम्।
श्रीनिवासं सदा वन्दे गुरुं राधाविहारिणम्।।३।।

जो सम्पूर्ण चराचर जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाला है, जिसके निःश्वास से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है, मैं उस परमात्मा श्रीकृष्ण को मन, वाणी और सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ।।१।।

जो समस्त कामनाओं और मनोरथों को पूर्ण करने वाली हैं, जिसकी कृपा के बिना कोई भी भगवान् श्रीकृष्ण को जान ही नहीं सकता है, मैं उस परा-शक्ति भगवती राधा को सदा प्रणाम करता हूँ।।२।।

श्रीहंस (नारायण) भगवान् को, सनकादिक (भगवान् सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार) को, श्रीनारद भगवान् को, श्रीनिम्बार्क भगवान् को श्रीश्रीनिवासाचार्यजी को और ब्रह्मविद्याप्रदाता गुरुदेव पूज्यपाद स्वामी श्रीश्री१००८राधाविहारीदासजी काठियाबाबा महाराज को मैं प्रणिपात करता हूँ।।३।।

श्रुति, स्मृति, ब्रह्मसूत्र, पुराणेतिहास सम्मत जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य कथित श्रीश्रीनिवासाचार्य प्रभृति महानुभावों से उपबृंहित मत का अवलम्बनकर किञ्चित् **'प्रस्ताव'** प्रस्तुत करता हूँ।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते[१]।।१।।

तस्य भावस्त्वतलौ[२]। तस्य भावतत्त्वम्। अर्थः—जो अद्वय ज्ञान है,

---

१. श्रीमद्भागवत १०/२/११।

२. पाणिनिसूत्रग्रन्थ ५/१/११९।

उसे तत्त्ववेत्ता महात्मा लोग तत्त्व कहते हैं। ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्द से पुकारते हैं। उसे श्रीनिम्बार्क महाप्रभु ने स्वकृत वेदान्तपारिजातसौरभ नामक ब्रह्मसूत्रवृत्ति ग्रन्थ में दर्शाया है—जन्मादिविकारशून्यं

स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तगुणसागरं सविभूतिकं **ब्रह्मैव** मुक्तोऽनुभवति[१]।।३।।

निरतिशयसुखरूपत्वामृतत्वस्वमहिप्रतिष्ठितत्वादीनां परमात्मन्येवोपपत्तेश्च भूमा **परमात्मैव**[२]।।४।।

अस्याचिन्त्यविचित्रसंस्थानसम्पन्नस्यासंख्येयनामरूपादिविशेषाश्रयस्याचिन्त्यरूपस्य विश्वस्य सृष्टिस्थितिलयायस्मात्सर्वज्ञाद्यनन्तगुणाश्रयाद् ब्रह्मेशकालादिनियन्तु**र्भगवतो** भवन्ति (ब्र०सू०नि०भा०१/१२)

ब्रह्मचतुष्पाद है—

श्रुतियों में वर्णित षड्विकाररहित स्वाभाविक अचिन्त्य गुणों के सागर सविभूतिक **ब्रह्म** का ही मुक्त जीव अनुभव करते हैं। निरतिशय सुखरूपत्व अमृतत्व अपनी महिमा में प्रतिष्ठितत्व आदि धर्म **परमात्मा** में ही उपपन्न होने से भूमा **परमात्मा** ही है। इस अचिन्त्य विचित्र संस्थान विशिष्ट असंख्य नाम रूपादि का आश्रय अचिन्त्यस्वरूप विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय, उन सर्वज्ञादि अनन्त गुणों का आश्रय, ब्रह्मा, शिव और कालादि के नियन्ता **भगवान्** से होता है।

तत्त्वत्रय—चित्, अचित् और ब्रह्म भेद से तीन प्रकार के तत्त्व हैं। **चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः।**[३] चित् और अचित् शक्ति से युक्त उस भगवान् के लिये नमस्कार है। भगवती श्रुति तत्त्व त्रय दिखलाती हैं—**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म ह्येतत्।**[४] भोक्ता=जीव चित्स्वरूप, भोग्य=प्रकृति अचित्स्वरूप जगत् और प्रेरक ब्रह्म ये तीन तत्त्व हैं। भोग्य उसे कहते हैं—जो पदार्थ दूसरों के उपयोग के लिए हो, अपने प्रयोजन के लिये न हो, और चेतनता रूपी गुण विहीन होता है, उसको अचेतन जड़-भोग्य पदार्थ जानना चाहिये। जीव असंख्य हैं, ऐसा ही श्रुतियों में सुना जाता है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।।[५]

---

१. ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्य व्याख्यात्रयोपेत ४/४/१९।

२. वही १/३/९ नि०भा०—'प्राणान्मे हृदयात्त्रयी विद्या प्रादुरभूत्' इति श्रीमुखवचनम्।

३. श्रीमद्भागवत् ७/३/३४। ४. श्वेताश्वतरोपनिषद् १२। ५. कठोपनिषद् २/२/१३।

जो नित्य चेतन असंख्य जीवों के नित्य चेतन एक ब्रह्म उनके द्वारा उपासित होकर अपेक्षित अर्थों का विधान करते हैं। यहाँ बहुवचन के निर्देश से जीवों का बाहुल्येन उपदेश है। अर्थात् चित्स्वरूप जीव अनेक हैं। **तत्राचिद्वर्गभिन्नो ज्ञानस्वरूपो ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिधर्मकोऽहमर्थरूपो भगवदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकोऽणुपरिमाणकः प्रतिशरीरं भिन्नो बन्धमोक्षार्हश्चित्पदार्थः।**[1]

उसमें अचिद्वर्ग से भिन्न ज्ञानस्वरूप ज्ञातृत्व कर्तृत्वादि धर्मक अहमर्थरूप भगवदधीन स्वरूप—स्थिति प्रवृत्ति से युक्त अणु—परिमाण प्रतिशरीरभिन्न बन्धमोक्ष के योग्य चित्पदार्थ है, जिसको जीवात्मा कहते हैं। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने एक ही श्लोक में जीव के स्वरूप को बतलाया है—

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः।।

(वेदान्तकामधेनु श्लो० १)

श्रुति और महर्षियों ने जीव को ज्ञानस्वरूप, श्रीहरि के अधीन, शरीरधारण और परित्याग के योग्य, अणु, ज्ञातृत्वधर्मयुक्त (ज्ञाता) प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न (अत:) अनन्त=असंख्य कहा है। जीवात्मा ज्ञानस्वरूपत्व होते हुए ज्ञातृत्ववान् है। जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में स्वयं ही स्वप्रकाश है।

अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः। (बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३/९)

एष विज्ञानमयः पुरुषः[2]**। विज्ञानमयश्चात्मा**[3]। इत्यादि श्रुति में जीव को ज्ञानस्वरूप ही बताया गया है। **परात्तु "तच्छ्रुतेः"** (२/३/४०) इस सूत्र में जीव का कर्तृत्व ब्रह्म के अधीन कहा गया है।

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् (२/३/१९) इत्यादि सूत्रों में जीव को अणु, **ज्ञोऽत एव** (१/३/१८) सूत्र में ज्ञाता, **कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्** (२/३/३२) इत्यादि सूत्र में कर्ता और **अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि**.....................(२/३/४२) सूत्र में ब्रह्म का अंश कहा गया है।

तद्गुणसारत्वात् तद्व्यापदेशः प्राज्ञवत् (२/३/२८) इस सूत्र में कहा

---

१. ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्य व्याख्यात्रयोपेत १/१/१।
२. बृहदारण्यकोपनिषद् २/१/१७।
३. मुण्डकोपनिषद् ३/२/७।

गया है कि जीव ज्ञानरूप गुणद्वारा विभु होने से भी स्वरूपतः अणु 'जीवात्मा अणु' है, ऐसा कहा गया है—एषोऽणुरात्मा[१] है। किन्तु ब्रह्म स्वरूपतः तथा गुणतः उभयतः ही विभु है। श्वेताश्वेतरौपनिषद् में उल्लिखित है—

उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः।।३।।

यह परब्रह्म ही वेदान्त में वर्णित (उद्गीत) है, उसमें तीन (जगत्, जीव और ईश्वर यह त्रितय) सुप्रतिष्ठित और वह अक्षर रूप में भी वर्तमान है। ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म के इन सभी भेदों को जानकर उसमें लीन हो जाते हैं और जन्म-जरा-मरण की यातना से छुटकारा पा जाते हैं।

श्रुति, स्मृति और ब्रह्मसूत्र के आधार पर श्रीनिम्बार्काचार्यजी का सिद्धान्त यह है कि 'ब्रह्म' चतुष्पाद है।

१. 'ब्रह्म' सत्-चित् और आनन्दस्वरूप है। इन स्वरूप में ब्रह्म स्थूल, सूक्ष्म, ह्रस्व दीर्घादि तथा कर्तृत्वादि सर्वप्रकार धर्मरहित है। वह एक अद्वितीय और निर्गुण अक्षरादि नामों से आख्यात् होता है!

२. सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही अचिन्त्य विचित्र संस्थान सम्पन्न अनन्त नाम रूप विशिष्ट इस जगत् की सृष्टि, पालन और संहार साधन करता है। वही इस जगत् के निमित्त और उपादान, उभय कारण है। इसलिये वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान सर्वनियन्ता सर्वव्यापी सर्वरूप है। इस रूप में उसकी ईश्वर संज्ञा होती है।

३. स्वयं ब्रह्म ही अपने स्वरूपभूत चिदंश को अनन्तरूप से प्रसारण करके अपने आनन्द स्वरूप से ही अनन्तरूप में प्रकाशित, अनन्त जगत् के बृहत्, बृहत्तर, बृहत्तम, क्षुद्र, क्षुद्रतर, क्षुद्रतम प्रत्येक अंश में पृथक्-पृथक् में अनुप्रविष्ट हुआ है। पृथक्-पृथक् रूप में प्रविष्ट उसके चिदंशसमूह ही जीव नाम से आख्यात् होते हैं।

४. ब्रह्म के जिन रूपों के प्रत्येक अंश में उसके अन्ततः चिदंश प्रविष्ट हुए हैं, उसी अनन्त रूपों का नाम ही जगत् है।

उपर्युक्त इन चारों रूपों में ही ब्रह्म पूर्ण है। इसलिये ब्रह्म को

---

१. मुण्डक ३/१/९।
२. श्वेताश्वतरोपनिषद् ७।

चतुष्पादयुक्त कहा जाता है। अक्षर स्वरूप में प्रमाण—**एतद्वै तदक्षरं गार्गि! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्**[1]। हे गार्गि! ब्राह्मण, उसे अक्षर कहते हैं, वह स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं, ह्रस्व नहीं और दीर्घ नहीं है। **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**[2]। हे सोम्य! सृष्टि के पहले यह जगत् एक अद्वितीय सत्स्वरूप ही था। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**[3]। अर्थात् ब्रह्म सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप है। **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्**[4]। (भृगुने) जान लिया कि आनन्द ही ब्रह्म है। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म[5]। ब्रह्म विज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है। अक्षर ब्रह्म के स्वरूप के विषय में अक्षरमम्बरान्तधृतेः (१/३/१०) इत्यादि और उसके साधन के विषय में अक्षरधियां त्ववरोधः (२/३/३३) इत्यादि सूत्रों में और उसके ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्य में उपदेश है। ईश्वरस्वरूप में प्रमाण—**यतो वा इमानि भतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि-संविशन्ति तद् ब्रह्म**[6]।

जिससे दृष्ट श्रुत ये भूतवर्ग उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीते हैं, जिसमें लीन होते हैं और मुक्त होते हैं, उसको जानों वह ब्रह्म है। हमारे पूर्वाचार्य पूज्यपाद श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी ने वेदान्तरत्नमञ्जूषा नामक ग्रन्थ में 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या इस प्रकार की है—

"तच्छब्दः सर्वज्ञसर्वशक्तिविश्वात्मपरब्रह्मभूतस्वतन्त्रसत्ताश्रयप्रतिपादनपरः। त्वम्पदश्च तदात्मीयतदात्मकपरतन्त्रसत्ताश्रयजीवात्मवाचकः असिशब्दश्चोभयपदार्थसम्बन्धाभिधानपरः। स च सम्बन्धः तदात्मकस्य त्वम्पदवाच्यस्य तत्पदार्थेन सह स्वातन्त्र्यसत्त्वाभेदसहिष्णुपरतन्त्रसत्त्वभेदरूपः तत्पदार्थवृत्तिस्वतन्त्रसत्ताश्रयाभिन्नःत्वम्पदार्थ इति वाक्यार्थः।"

सर्वज्ञ सर्वशक्ति विश्वात्मा स्वतन्त्र सत्ताश्रय परब्रह्मरूप[7] तत् यह शब्द

१. बृहदारण्यकोपनिषद् ३/८/८ ।
२. छान्दोग्योपनिषद् ६/२१/१ ।
३. तैत्तिरीयोपनिषद् २/१ ।
४. वही, ३/६ ।
५. बृहदारण्कोपनिषद् ३/६/२० ।
६. तैत्तिरीयोपनिषद् ३/१ ।
७. अस्माकं भारतीय संस्कृतौ सनातनधारायां वा परिदृश्यते यद् चरणः पादः आचार्यः देवः इत्यादयः शब्दाः विशेषणरूपेण उत सम्मानरूपेण व्यवह्रियन्ते तथैव तल्लक्ष्यते। यथास्य ग्रन्थकारस्य नाम माधवमुकुन्दः श्रीनिवासाचार्यस्य नाम श्रीनिवासः।

ब्रह्म का वाच्य है। **तस्य वाचकः प्रणवः।** उसका वाचक प्रणव है। तच्छब्द का वाच्य है और परब्रह्म के आत्मीय ब्रह्म के अधीन सत्ताश्रय जीवात्मा का वाचक त्वम्पद है। असि शब्द ब्रह्म का और जीवात्मा का सम्बन्ध बतलाने के लिये है और वह सम्बन्ध त्वम्पद वाच्य जीवात्मा का ब्रह्म के साथ अभेद सम्बन्ध है। स्वातन्त्र्यसत्त्व अभेद सहिष्णुता परतन्त्रसत्त्व भेदरूप है। विश्वात्मा स्वतन्त्र सत्ताश्रय सर्वज्ञ सर्वशक्ति तत्पदार्थ से अभिन्न तदात्मक परतन्त्र सत्ताश्रय सर्वज्ञ सर्वशक्ति तत्पदार्थ से अभिन्न तदात्मक परतन्त्र सत्ताश्रय अभिन्न त्वं पदार्थ है। इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ अध्याय में उल्लिखित **तत्त्वमसि** महावाक्य का अर्थ निष्पन्न हुआ।

पूज्यपाद श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने वेदान्त सिद्धान्तरत्नाञ्जलि नामक ग्रन्थ में कहा है—**वेदान्तो नाम श्रुतिशिरोभागो ब्रह्मसूत्रगीतादीनि च।** उपनिषद् ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता और आदि पद से श्रीमद्भागवत इस प्रस्थान चतुष्टय को वेदान्त कहते हैं।

स्वाभाविक भेदाभेद सिद्धान्त समर्थनदक्ष निखिल शास्त्र पारावारीण अस्मादाचार्य श्रीमाधवमुकुन्ददेवाचार्यजी ने 'अध्यासपरपक्षगिरिवज्र' नामक ग्रन्थ में बताये हैं—

अथ सार्वज्ञ्यसर्वशक्त्यादिकारुण्यवात्सल्याद्यनन्तधर्मनिलयो दोषलेशास्पृष्ट-सीमाभिन्नाभिन्नत्वाश्रयो भगवान् परब्रह्माख्योऽस्य विषयः। सार्वज्ञ्य, सर्वशक्त्यादि, कारुण्य, वात्सल्यादि अनन्त कल्याण गुण सागर, दोषों के लेशमात्र से अस्पृष्ट स्वाभाविक भेदाभेदाश्रय भगवान् परमात्मा परब्रह्म वासुदेव श्रीपुरुषोत्तम इस वेदान्तशास्त्र का विषय है। मुमुक्षु अधिकारी है। विषयविषयिभाव लक्षण सम्बन्ध और श्रीभगवद्भावापत्तिलक्षण मोक्ष प्रयोजन है।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि'' ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

इत्यादि श्रुतिस्मृतिशास्त्र ने ब्रह्म का ही अंश जीव है, ऐसा ही कहा। जैसे सूर्य अपनी प्रभा की व्याप्ति से जल में रहते हुए भी जलगत शैत्य गुणों से लिपायमान नहीं होता, बल्कि जल को ही अपनी उष्णता एवं प्रकाश से उष्ण बनाकर प्रकाशित करता हुआ उसकी शीतलता को बढ़ाता है न कि चन्द्र जलगत द्रव से आद्रभाव को प्राप्त होता है। उसी प्रकार जीव परमात्मा जीवांशगत गुण दोषों से सर्वथा अस्पृष्ट है। जीवांशों के सुखदुःखों का अंशी परमात्मा को अनुभव नहीं होता है।

जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने भेदाभेदवाद को ब्रह्मसूत्रभाष्य में किस प्रकार से स्थापन किया है, अब हम उसे दिखलाते हैं। श्रीभगवत्पाद ने **ब्रह्मसूत्र** (२/१/१३) के भाष्य में बतलाया है—जैसे समुद्र और तरङ्ग अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं, जैसे सूर्य और उसकी प्रभा अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं, जैसे सूर्य और उसकी प्रभा अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं, ऐसा ही भोक्ता जीव और नियन्ता ब्रह्म अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं। **अविभागेऽपि समुद्रतरङ्गयोरिव, सूर्यतत्प्रभयोरिव तयोर्विभागः स्यात्।** सूत्रभाष्य २/१/२२ में श्रीभगवत्पाद ने कहा है—जैसे वज्रवैदुर्यादि पृथ्वी का विकार होने से पृथ्वी से अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं, ऐसे ही ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी अपने स्वरूप से जीव भिन्न है। तथाहि—**भूविकारवज्रवैदुर्यादिवद् ब्रह्माभिन्नोऽपिक्षेत्रज्ञः स्वरूपतो भिन्न एव।**

श्रीनिवासाचार्यैरुपबृंहितं च भाष्ये—**तत्र चांशांशिनोः सर्वलोकवेदप्रसिद्धगुणगुणिवद् भेदाभेदः सम्बन्धः। तत्र स्वरूपेण जीवस्य ब्रह्मभिन्नत्वेऽपि पृथक्-स्थितिप्रवृत्त्यभावाद् ब्रह्माभिन्नत्वम्।** इस सूत्र २/३/४२ के भाष्य में कहा है—अंशांशिभाव रहने से जीव और परमात्मा में भेदाभेद श्रुति दिखलाती है—जीव परमात्मा का अंश है चूँकि ज्ञ (सर्वज्ञ) ईश्वर और अज्ञ जीव है। स्वाभाविक भेदाभेदवाद का संक्षिप्त सार (असर्वज्ञ) अनीश जीव दोनों ही अज हैं (जन्मादि षट् विकारशून्य हैं), इस श्रुतिवाक्य में जीव और ईश्वर में भेद उपदिष्ट हुआ और तुम वही (ब्रह्म) हो, इस श्रुतिवाक्य में अभेद उपदिष्ट हुआ है। **अंशाशिभावाज्जीवपरमात्मनोर्भेदाभेदौ दर्शयति–जीवः परमात्मनोऽशः "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावि" त्यादिभेदव्यपदेशात् "तत्त्वमसी" त्याद्य- भेदव्यपदेशाच्च।**

इस सूत्र ३/२/२८ के भाष्य में कहा है—जीव और पुरुषोत्तम में भी ऐसा ही (भेदाभेद) सम्बन्ध जानना चाहिये। कारण उन दोनों में भेद और अभेद दोनों ही बताये गये हैं। जैसे प्रभा और प्रभावान्, इन दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध हैं, ऐसे ही जीव के साथ ब्रह्म का भेदाभेद सम्बन्ध है। जीव ब्रह्म का अंश और नित्य होने से यह भेदाभेद सम्बन्ध भी नित्य और स्वाभाविक है।

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् (ब्र०सू०३/२/२८) प्रकाशाश्रयवद्वातेजस्त्वात् ब्रह्म के साथ चेतन=जीव अचेतन=जगत् का अहिकुण्डल दृष्टान्त और प्रकाशाश्रय दृष्टान्त द्वारा स्वाभाविक भेदाभेद ही सम्बन्ध शास्त्र प्रतिपाद्य है,

यही सिद्ध हुआ। भेदप्रतिपादक श्रुतिस्मृति वाक्यों का और अभेद प्रतिपादक श्रुतिस्मृति ने भेद और अभेद दोनों का ही उपदेश किया है, तब दोनों की वाचक श्रुतियाँ ही तुल्यबल हैं, अतः भेद और अभेद दोनों को ही तुल्यरूप से ग्रहण करने से ही श्रुति की मर्यादा और प्रामाण्य रक्षित होता है। इसलिये भगवत्पाद श्रीनिम्बार्काचार्य ने भेद और अभेद दोनों को ही तुल्य रूप से ग्रहण करके जो शास्त्र सम्मत भेदाभेदवाद अथवा द्वैताद्वैत सिद्धान्त का स्थापन किया है, इसी में ही भगवती श्रुति की मर्यादा और प्रामाण्य सम्पूर्ण रूप से संरक्षित हुआ है।

यह सम्पूर्ण परिदृश्यमान नामरूपात्मक जगत् ब्रह्मात्मक है। ब्रह्म से ही जगत् उत्पन्न हुआ है, तथा ब्रह्म में ही जगत् का लय होता है एवं स्थिति काल में ब्रह्म के ही वजह से चेष्टा करता है। अतएव तज्जत्व तल्लत्व तदनत्व (तच्चेष्टत्व) होने से निखिल जड़ चेतन वस्तु ब्रह्मात्मक है, इसलिए यह अखिल चराचर जगत् ब्रह्म से अभिन्न है, इतरेतर अत्यन्त विलक्षण होने से स्वरूप से भिन्न है। इस वेदान्तशास्त्र का विषय चिदच्छिक्तियुक्त सर्वभिन्नाभिन्न ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीपुरुषोत्तम है।

अब अचित् वस्तु जगत् का ब्रह्म के साथ जो भेदाभेद सम्बन्ध है, वह किस प्रकार से श्रीभगवत्पाद उसे दर्शाते हैं—

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः (ब्र०सू०२/१/१४।) कारण से कार्य का अनन्यत्व (अभेद) है, अत्यन्त भिन्नत्व (भेद) नहीं है। मृत्तिका ही सत्य है, घट शरावादि विकार समूह नाम के द्वारा ही पृथक् है, यह चराचर विश्व ब्रह्मात्मक है, ब्रह्म सत्य है, तुम ब्रह्म ही हो, यह प्रकाशित जगत्, सभी ब्रह्म हैं, इत्यादि श्रुतियाँ ही उसमें प्रमाण है। **कार्यस्य कारणानन्यत्वमस्ति नत्वत्यभिन्नत्वम् कुतः? ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'' ''तत्सत्यं तत्त्वमसि'' ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''**

अंशो नाना व्यपदेशाद्, अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके (ब्र०सू०२/३/४२)

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ३/२/२० इस एक ही सूत्र तथा उसके निम्बार्कभाष्य में स्पष्ट रूप से कहा है कारण में कार्य भिन्नाभिन्न सम्बन्ध से रहता है—''मूर्त्तामूर्त्तस्याप्रतिषेध्यत्वं द्रढयति—मूर्त्तामूर्त्तादिकं विश्वं स्वकारणे भिन्नाभिन्नसम्बन्धेन स्थातुमर्हति भेदाभेदव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्। तस्मात्सर्वज्ञः

सर्वाचिन्त्यशक्तिविश्वजन्मादिहेतुर्वेदैकप्रमाणगम्यः सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासाविषयस्तत्रैव सर्वं शास्त्रं समन्वेतीत्यौपनिषदानां सिद्धान्तः।"

—ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्यव्याख्यात्रयोपेतम्

ब्रह्म का मूर्त और अमूर्त उभय रूपता का प्रतिषेध नहीं है, इसको दृढ़ करने के लिये सूत्रकार कह रहे हैं कि—जैसा सर्प का वलयाकार अंश कारणरूप अंशी—सर्प से भिन्नाभिन्न सम्बन्ध से स्थित रहता है, ऐसा ही मूर्त (स्थूल) और अमूर्त (सूक्ष्म) विश्व (जगत्) अपना कारण ब्रह्म में भिन्नाभिन्न सम्बन्ध से अस्तित्व संस्थित रहता है। कारण ब्रह्म और विश्व में भेद और अभेद दोनों ही श्रुति ने उपदेश किया है। इसलिये सर्वज्ञ सर्वाचिन्त्यशक्ति जगज्जन्मादि के कारण एकमात्र वेद प्रमाणद्वारा जानने योग्य, जीव और जगत् से भिन्न होते हुए अभिन्न भगवान् वासुदेव सब की आत्मा, विश्वात्मा ही जिज्ञासा का विषय है, उन्हीं में ही सकल शास्त्रों का समन्वय है, यही औपनिषदों का सिद्धान्त है।

भेदाभेदवाद समस्त शास्त्रों का सिद्धान्त है।

समस्त शास्त्रों का सम्यक् अवलोकन-आलोडन-विचार करने से देखा जायेगा कि सब में ही यह भेदाभेद उपदिष्ट हुआ है। यहाँ कुछ शास्त्र वाक्य उद्धृत किये जा रहे हैं। उसे जरा ध्यान से देखें—

सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदनम्।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम्।।
परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे।।
अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्त्येकमूर्त्तिकम्।।[१]

जन्मादि षट् विकारशून्य, जगत्स्रष्टा, सर्वज्ञ विश्वात्मा मुमुक्षु द्वारा अन्वेषणीय विश्वाविश्व=भिन्नाभिन्न ब्रह्म को मैं नमस्कार करता हूँ। हे भगवन्! आप स्थूल और सूक्ष्म दोनों गतियों को जानने वाले, आप विश्व की आत्मा (आश्रय), सब के अध्यक्ष, जगत्कारण विश्वद्रष्टा हैं। आप इस संसार से भिन्न

---

१. श्रीमद्भागवत ८/३/२६, १०/१६/४८, १०/४०/७० ।

होते हुए, अभिन्न हैं, आपको हमारा नमस्कार है। अपर निर्मल शुद्ध चित्त वाले उपासक गण उपदिष्ट विधि के अनुसार बहुत मूर्ति एक मूर्ति रूपी आप की उपासना करते हैं। शुकशास्त्र भेदाभेदवाद का ही निर्णय किया।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्।।[१]

अन्य साधक गण ज्ञानयज्ञ के द्वारा यजन करते हुए एकत्व=अभेद से पृथक्त्व=भेद से बहुत प्रकार से सर्वान्तर्यामी मेरी उपासना करते हैं। इस प्रकार गीताशास्त्र में भेदाभेदवाद उपदिष्ट हुआ।

हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो।[२] योऽनेक एकः[३] हे इन्द्रियों के स्वामिन्! हे प्रभो! आप को नमस्कार है, आप मेरी रक्षा करें। जो परमात्मा एक है, अनेक है, हम उसका भजन करते हैं।

ओं नमो वासुदेवाय तस्मै भगवते सदा।
व्यतिरिक्तं न यस्यास्ति व्यतिरिक्तोऽखिलस्य यः।।[४]
नित्यानित्यप्रपञ्चात्मन् निष्प्रपञ्चामलाश्रित।
एकानेक नमस्तुभ्यं वासुदेवादिकारण।।[५]

जिसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जो अखिल जगत् से अतिरिक्त है उस भगवान् वासुदेव को सदा नमस्कार है। हे नित्य अनित्य प्रपञ्चात्मन्! हे प्रपञ्चातीतस्वरूप! हे निर्मलात्मज्ञानियों के आश्रय! हे एक! हे अनेक! हे आदिकारण वासुदेव! आपको नमस्कार है।

अन्तर्यामी जगद्रूपी सर्वसाक्षी निरञ्जनः।
भिन्नाभिन्नस्वरूपेण स्थितो वै परमेश्वरः।।[६]

जो अन्तर्यामी जगद्रूपी सर्वसाक्षी निर्मलस्वरूप परमेश्वर है, वह भिन्नाभिन्न स्वरूप से स्थित हैं। पूर्वोक्त भागवत, गीता, विष्णुपुराण और बृहन्नारदीयपुराण में उद्धृत—

"भिन्नाभिन्नस्वरूपेण स्थितो वै परमेश्वरः" इत्यादि वाक्यों द्वारा भेदाभेद ही स्पष्टतः उपदिष्ट हुआ है। चूँकि केवल 'द्वैत' कहने से अभेदवाचक और

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता ९/१५। २. श्रीमद्भागवत १०/४०/३०। ३. वही ४/१०/३२। ४. विष्णुपुराण १/१९/१८। ५. वही १/२०/१२। ६. बृहन्नारदीयपुराणम् ३/२/७४।

केवल 'अद्वैत' कहने से भेदवाचक श्रुति-स्मृति इत्यादि वाक्यों का वर्जन करना पड़ता है या गौण कहना पड़ता है। किन्तु "द्वैताद्वैत" सिद्धान्त में भेद और अभेद उभय वाचक श्रुति-स्मृति वाक्यों का मुख्य रूप से ग्रहण होता है। किसी भी एक को वर्जन करना या गौण कहना नहीं पड़ता है। अतः द्वैताद्वैत सिद्धान्त के द्वारा ही समस्त शास्त्रों का यथार्थ सामञ्जस्य होता है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी ने स्पष्ट कहा—एकस्त्वमेव सदसद् द्वयमद्वयं च[१]। एक ही परमात्मा स्थूल, सूक्ष्म और द्वैत-अद्वैत हैं। इसलिये जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य ने इस भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रवर्तन किया है। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य, इस मतवाद के प्रवर्तक हैं। आचार्य श्रीमाधवमुकुन्ददेवजी ने अन्य मतवादों का खण्डनकर, इस मतवाद को ही मण्डन किया है। अभीतक ब्रह्म का चतुष्पाद और भेदाभेद का संक्षेप सार दर्शाया गया है, उससे स्पष्ट हो गया है कि जीव और जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं। इसलिये भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने कहा है—

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मत्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता।।

(वेदान्तकामधेनु)

चेतनाचेतनात्मक समस्त वस्तु ही ब्रह्मात्मक है, यह श्रुति—स्मृति में उल्लिखित है, इसलिये वे सब ही यथार्थ हैं। समस्त वस्तु विषयक विशेष ज्ञान यथार्थ (प्रमा) है, मिथ्या नहीं। श्रुति और ब्रह्मसूत्र में भोक्ता=चिद्वर्ग, भोग्य=अचिद्वर्ग, प्रेरिता=ईश्वर, ये त्रिविधरूप=तत्त्वत्रय निर्णीत हुए हैं। अतः ये त्रिरूप तीन प्रकारक तत्त्व यथार्थ हैं। परन्तु मायावादी कहते हैं कि एकमात्र ब्रह्म ही है, कारण, ब्रह्म सत्स्वरूप है, एक अद्वितीय है, जीव ब्रह्म से पृथक् कुछ नहीं है और जगत् का अस्तित्व ही नहीं है, मिथ्या है—**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।**

उनकी यह युक्ति शास्त्र सम्मत नहीं है और युक्तिसङ्गत भी नहीं है। श्रुति ने स्पष्ट ही कहा है कि—**'अहं ब्रह्मास्मि'**=मैं ब्रह्म हूँ। **'तत्त्वमसि'**=तुम वही हो। **'एषोऽणुरात्मा'**=यह आत्मा अणु है। **'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः'** अर्थात् जीव केशाग्र के शतभाग सदृश सूक्ष्म है।

---

१. श्रीमद्भागवत ८/१२/८

यस्मिन् 'सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः' अर्थात् जिस समय ज्ञानी पुरुष का समस्त भूत आत्मस्वरूप हो जाता है।

'ऐतदात्ममिदं सर्वम्=यह सब आत्मस्वरूप है।

'ऐतदात्ममिदं सर्वम्'=यह सब आत्मस्वरूप हो जाते हैं।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'=यह परिदृश्यमान जगत् सब कुछ ब्रह्म है। **इदं हि विश्वं भगवान्**[1]=यह विश्व, सारा संसार भगवान् ही है। **''तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्**[2]**''** अर्थात् उस भगवान् के अवयव समूह के द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है। यदि जीव ब्रह्म से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है और जगत् का अस्तित्व ही नहीं है, मिथ्या है तो ये सारी श्रुति वाक्य क्या व्यर्थ है? इस प्रकार और भी श्रुतियाँ हैं, जिनसे जीव का ब्रह्म से पृथक् अस्तित्व और जगत् की सत्यता प्रमाणित होती है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**[3] इत्यादि श्रुति द्वारा जगत् की सत्यता सिद्ध होती है।

यथा ह्यवहितो बह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्॥
(भा० १/२/३२)

दूसरी बात ब्रह्म ही जगत् रूप से प्रकाशित है, अर्थात् जगत् उसका प्रकट रूप है। **''तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति''** (छान्दोग्योपनिषद् ६/२/३)

उस सद् ब्रह्म ने ईक्षण किया कि मैं ही बहुत रूप से अर्थात् जगत् रूप से हो जाऊँ। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ब्रह्म ने अपनी शक्ति का विक्षेप करके अपने को ही जगदाकार का परिणमित किया, ब्रह्म ने ही अव्याकृत स्वरूप में रहकर ही अपनी शक्ति और कृति द्वारा जगत् रूप में परिणत है। (ब्र०सू० निम्बार्कभाष्य १/४/२६)

इस प्रकार ब्रह्म में सृष्टि कर्तृत्व श्रुति में सुना जाता है, उसमें अव्यक्त रूप से कृतृत्व और व्यक्तनामरूप से कर्मत्व है कार्य—कारण का तादात्म्य होने से। उसमें हेतु परिणाम है; आत्मकृतेः परिणामणात् (ब्र०सू०१/४/२६)।

इसलिये यह दृश्यमान चिदचिदात्मक जगत् सत्य है, प्रमाण प्रतिपत्र है, समस्त जगत् एतदात्मक है और ब्रह्म व्याप्य रूप से जड़-चेतन सभी वस्तु ब्रह्मात्मक है।

१. श्रीमद्भागवत १/५/२०। २. श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/१०। ३. तैत्तिरीयोपनिषद् २/१/१।

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः[१]।

मूलं हि विष्णुर्देवानाम्[२]।

हे सोम्य! इमाः सर्वा प्रजाः सद्=ब्रह्म मूलं=कर्तृ यासां ताः सन्मूलाः। अर्थात् ये सारी प्रजा सकल भूतप्राणी, सद ब्रह्म मूल=करने वाला, चलाने वाला मालिक जिनके वे सन्मूल हैं। भगवान श्रीविष्णु ही जीवों के मूल हैं।

ये सारी प्रजा=जड़चेतन सन्मूल हैं, ब्रह्म सत्यस्वरूप हैं, ज्ञानस्वरूप हैं और अनन्त स्वरूप है। अतः तीनों ही तत्त्व सत्य हैं, श्रुति द्वारा साधित हैं।

अंशो ह्येष परस्य=यह जीवात्मा परमात्मा का अंश है।

अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि (ब्र०सू०२/३/४२) इत्यादि श्रुति ब्रह्मसूत्रों में जीव को ब्रह्म का अंश कहने से भी जीव का पृथक् अस्तित्व और **जन्माद्यस्य यतः** (ब्र०सू०१/१/२) ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म से जगत् मिथ्या होने से मिथ्या जगत् की सृष्टि कहना व्यर्थ होता है।

इसी बात को ही गीताजी में स्वयं श्रीभगवान् ने कही है—**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**। जीवलोक में जीव मेरा ही अंश है। **विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्**। मैं ही एकांश द्वारा समस्त जगत् को धारण करके स्थित हूँ। इस प्रकार शास्त्र प्रमाण द्वारा चित् अचित्=जीव जगत् की सत्यता सिद्ध हुई। इसलिये भगवान् बादरायण ने कहा है—

चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः। भा०७/३/३४। चित् अचित्=जीव जगत् शक्ति से युक्त उस भगवान् के लिये नमन करते हैं।

ब्रह्म सगुण निर्गुण है—

ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः[३]।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च[४]। अर्थः—वह ब्रह्म सर्वज्ञ है, काल का भी काल है, गुणी=सगुण है और सर्ववित् है। कर्मफल प्रदाता सर्वभूतान्तरात्मा साक्षी चेतन और केवल निर्गुण=माया (प्रकृति) के गुण—दोषों से सर्वथा रहित है, निर्गुण शब्द का अर्थ है। अर्थात् दोषास्पृष्ट नित्यसिद्ध—चिद्घन—ज्ञानघन सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीविग्रह है। इक्ष्वाकुवंशी महाराज मुचुकुन्द ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ६/८/४। २. श्रीमद्भागवत् १०/४/३९। ३. श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/१६। ४. वही ६/११।

—

बिल्कुल यही बात कही है—**निरञ्जन निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम्**[१]। हे भगवन्! आप निरञ्जन निर्गुण हैं, आपके जोड़ का कोई नहीं है, आप ज्ञानस्वरूप परम पुरुष हैं, आपकी शरण में मैं हूँ। स्वभावत: ही अविद्यादि समस्त दोषों से अस्पृष्ट स्वाभाविक समस्त कल्याण गुणगणों का सागर परब्रह्म का स्वरूप है। **निर्गुणं गुणभोक्तृ च**[२]। **सगुणो निर्गुणः स्वदृक्**[३]। **गुणमयं निर्गुणं मामनुवर्णयन्**[४]। **मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना**[५]। हे अर्जुन! अव्यक्तरूप मेरे द्वारा यह सारा संसार व्याप्त है। श्रीभगवान् के इस रूप का दर्शन केवल भक्तिमान निष्ठावान व्यक्ति ही करते हैं।

हमारे पूज्यपाद परमगुरुदेव श्रीश्री१००८ स्वामी धनञ्जयदासजी काठिया-बाबाजी महाराज तर्कतर्क-व्याकरणतीर्थ ने कहा है कि—भेदवादी और अभेदवादी दोनों ही कहते हैं कि भेद और अभेद (द्वैत और अद्वैत) परस्पर विरुद्ध है, इसलिये दोनों एकत्र रह नहीं सकते हैं। अत: भेदाभेद नाम से कोई वाद ही नहीं हो सकता है। परन्तु उनकी यह उक्ति भ्रान्तिपूर्ण है। कारण भेद और अभेद अन्यत्र विरुद्ध होने पर भी अंश और अंशी के स्थल में विरुद्ध नहीं है। अंश और अंशी में भेदाभेद कैसा है? सो विचार करने से यह उत्तम रूप से बोधगम्य हो जायेगा। इसलिये दृष्टान्त के सहित इस विषय को प्रदर्शित किया जा रहा है—शाखा-वृक्ष का अंश है, अंश शाखा, अंशी वृक्ष से अभिन्न है, यह सब कई स्वीकार करते हैं, कारण शाखा, वृक्ष को छोड़कर रह नहीं सकती, शाखा सम्पूर्ण अवयव से वृक्ष के अन्तर्गत है। वह वृक्ष से यदि पृथक् वस्तु होती तो वह वृक्ष की शाखा ही नहीं हो सकती। अत: शाखा वृक्ष से अभिन्न ही है। परन्तु वृक्ष से अभिन्न होने पर भी उसको वृक्ष का अंश ही कहना पड़ेगा, शाखा सम्पूर्ण वृक्ष नहीं है। वृक्ष-शाखा को अतिक्रम करके भी वर्तमान है, वृक्ष-शाखा से व्यापक है, आकृति से बृहत् है, अत: शाखा वृक्ष से भिन्न भी है। इस प्रकार विचार करने से देखा जाता है कि अंशी रूपी वृक्ष और अंशरूपी शाखा में भेद और अभेद दोनों ही हैं, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म के साथ जीव और जगत् का भी भेद और अभेद दोनों ही हैं, कारण जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्म के शक्ति रूप अंश है। जैसे हम लोगों का एक अखण्ड आत्मा (जीवात्मा) है, और इस आत्मा की दर्शन

१. श्रीमद्भागवत १०/५/५७। २. श्रीमद्भगवतगीता, १३/१४। ३. श्रीमद्भागवत ३/३२/३६। ४. वही ३/९/३९। ५. श्रीमद्भगवतगीता ९/४।

शक्ति, श्रवण शक्ति मनन शक्ति, १० सेर वस्तु उठाने की शक्ति इत्यादि अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं। जब हम लोग नींद में रहते हैं, तब वे सब शक्तियाँ आत्मा में लीन हो जाती हैं, जब जागते हैं, तब वे सारी शक्तियाँ प्रकाशित होती हैं और आत्मा उन सब शक्तियों के द्वारा पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं। वे शक्तियाँ जब निद्रित काल में आत्मा में लीन होकर आत्मा के साथ एक हो जाती हैं और जाग्रत् काल में अपने-अपने पृथक्-पृथक् रूप से प्रकाशित होकर पृथक्-पृथक् कार्य करती हैं, तब उन शक्तियों को आत्मा का अंश ही कहना होगा, कारण वे सब शक्तियाँ एक ही आत्मा के विभिन्न रूप से प्रकाशमान हैं। किसी एक शक्तिरूप अंश को ही सम्पूर्ण आत्मा नहीं कहा जा सकता है। कारण उस शक्ति से भिन्न और भी अनेक शक्तियाँ आत्मा की हैं, आत्मा उस एक एक शक्तिरूप अंश से व्यापक है। अत: उस एक एक शक्ति आत्मा से भिन्न है, फिर उस शक्ति की आत्मा से पृथक् सत्ता न रहने से आत्मा से वह अभिन्न भी है, अत: आत्मा के साथ उन शक्तियों का भेद और अभेद दोनों ही है। ऐसा ही एक अखण्ड ब्रह्म भी जीव और जगत् रूप अनन्त शक्तियों का आधार है, अनन्त जीव और जगत् रूप पृथक्-पृथक् शक्तियाँ उस अनन्त शक्तिमान ब्रह्म का अंश होने से ब्रह्म से उन सब शक्तियों का पृथक् सत्ता नहीं है। अत: वे सब जीव और जगत् रूप अंश ब्रह्म से अभिन्न है। फिर अंश रूपी पृथक्-पृथक् जीव और जगत् मात्र ही अंशी रूपी ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म उन सबों से व्यापक है, अत: ब्रह्म से जीव और जगत् भिन्न भी है। इस प्रकार से ब्रह्म के साथ जीव और जगत् का भेद और अभेद दोनों ही है। अत: भेदवादी और अभेदवादी ने जो कहा है कि भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध होने से एकत्र नहीं रह सकते हैं, इसलिये भेदाभेदवाद नाम से कोई वाद नहीं हो सकता है, उनकी यह उक्ति भ्रान्तिपूर्ण है।

स्वाभाविक भेदाभेदवाद में मोक्षप्रापक श्रीविग्रहोपासना

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञै: सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस:॥[1]

जो कृष्णवर्ण है तथा कान्ति से अकृष्ण गौरवर्ण राधासम्बलित है, अथवा कान्ति से कृष्णवर्ण (तमालवर्ण) उसमें अकृष्ण (गौरवर्ण) चमक रहा

१. श्रीमद्भागवत ११/५/३२ इत्यत्र इत्थम्भूतलक्षणाद्वारा लक्ष्य-लक्षणभाव सम्बन्ध विज्ञेय। यथा माया राधायाधव: स्वामी माधव:।

है अर्थात् नील मेघ के समान सुन्दर जिनका श्यामवर्ण है तथा कान्ति से बिजली के समान अकृष्ण गौरतेज शोभायमान हो रहे हैं। ये पाणि—पाद आदि अङ्ग, कौस्तुभमणि, मकराकार कुण्डल, वनमाला आदि उपाङ्ग, सुदर्शन चक्र आदि अस्त्र, सनकादि एवं नारदादि पार्षदों से संयुक्त है, विवेकी पुरुष यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय सत्सङ्ग इत्यादि द्वारा राधाकृष्ण जुगलजोड़ी की उपासना करते हैं। जिनमें प्रायः लीलाकथा गुण-धाम, स्वरूप-माहात्म्य एवं युगल नामों का सङ्कीर्तन हुआ करता है। पद्मपुराण के निर्वाणखण्ड में कहा है कि श्रीभगवान् ब्रह्माजी को अपने वेदगोप्य स्वरूप का दर्शन कराये थे। यह नव किशोर नटवर मूर्त्ति है, गोपवेश है, कदम्ब के नीचे हाथ में वंशी लिये विराजमान है, नील मेघ के समान श्यामल है, पीतवसन धारण किये हैं गले में वनमाला सुशोभित है, श्रीमुखपर स्मित हास्य है, चारों ओर गोप बालक और गोप बालिकाएँ खड़ी हैं। ऊपर बताये गये श्रीभगवान् सारे रूप दिव्य अप्राकृत स्वयं प्रकाश, चिद्धन—ज्ञानघन स्वेच्छामय ज्योतिर्मय स्वरूप है। इसलिये श्रीनिम्बार्क महाप्रभु ने कहा—

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात् सन्दृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्।।

(वेदान्तकामधेनु, श्लो०८)

जिन्होनें भक्तों की इच्छा से बड़े ही सुन्दर ध्यान व उपासना करने योग्य श्रीविग्रह धारण किया है, जिसकी शक्ति चिन्तातीत है, जिसकी आशय अभिप्राय सहित चेष्टा अविचिन्त्य दुर्विभाव्य है। ब्रह्मा शिव एवं इन्द्रादि लोकपाल जिसके श्रीचरण कमलों की सदा वन्दना करते हैं उस भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों को छोड़कर जीवों की दूसरी गति नहीं है। अर्थात् श्रीभगवान् के पदारविन्दों से भिन्न संसार सागर को पार करने के लिये दूसरा कोई उपाय नहीं देखा जाता है। इसलिये इस दुस्तर संसार समुद्र से पार होने का यह अतीव सुगम मार्ग है। अनन्य भाव से भगवान श्रीकृष्ण की शरण में जाकर एकमात्र उनके पदारविन्द रूपी नौका का सहारा लेना चाहिये। पृथ्वी देवी ने हाथ जोड़कर भगवान् श्रीकृष्ण का स्तवन करती हुई बिल्कुल ही यही बात कही है—

भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन नमोऽस्तुते[1]। हे परमात्मन् मैं आप को

---

१. श्रीमद्भागवत १०/५९/२५

मन, वाणी और शरीर से नमस्कार करती हूँ आप भक्तों की इच्छा से सुचिन्त्य श्रीविग्रह धारण करते हैं। जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य ने कृष्ण के सहित राधा का साक्षात् ब्रह्मस्वरूप में ध्यान किया है—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।।
अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।।[1]

स्वभावतः ही जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाचों दोषों से शून्य और माया के गुण-दोषों से सर्वथा रहित है, जो अप्राकृत अनन्त कल्याण गुणों का आधार है, जो वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध इन चारों व्यूहों का अङ्गी है, जो सबका वरणीय है, प्रकृति से परे परब्रह्मस्वरूप हैं, उस कमलनयन पाप तापहरण करने वाले श्रीकृष्ण का हम ध्यान करते हैं। उसके वामाङ्ग में वृषभानुतनया राधा परमानन्द से विराजमाना है। वृषभानुनन्दिनी राधा-कृष्ण के समान सौन्दर्य-माधुर्य-कारुण्यादि गुणयुक्त है, सहस्र-सहस्र सखियाँ उसकी सेवाकर रही है सब के मनोरथ को पूरण करने वाली उस देवी का हम सदा स्मरण करते हैं। श्रीनिम्बार्क महाप्रभु के पाद-स्पर्श से सम्भूत औदुम्बाराचार्यजी ने औदुम्बरसंहिता में लिखा है—

निर्माय सह कृष्णेन श्रीराधाऽर्चां हरिप्रियाम्।
साहित्येनैव सम्पूज्य नित्यमेति परा गतिम्।।
राधया सहितं कृष्णं यः पूजयति नित्यशः।
भवेद् भक्तिर्भगवति मुक्तिस्तस्य करे स्थिता।।

जो उपासक श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण की उपासना=नित्य सेवा-पूजा करता है वह परमगति को प्राप्त होता है, उसकी भगवान् में भक्ति होती है और मुक्ति उसके हाथ में रहती है। भगवान् हरि की प्रिया परमाह्लादिनी परा शक्ति आदि शक्ति राधा ही नर्मदा आदि, स्वर्नदी की धारा बनकर प्रवाहित हो रही हैं। राधा की धारा ही उल्टा शब्दरूप है।

जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में बताया

---

१. वेदान्तकामधेनु ४-५

हैं कि पुनः-पुनः साधना की आवृत्ति करनी चाहिये, कारण "**श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**" इत्यादि श्रुति ने ब्रह्म-दर्शन के लिये उपदेश किया है। (ब्र०सू०नि०भा०४/११)

श्रवण-मनन निदिध्यासन उपाय रूप से गुण तथा विनियोग हैं क्योंकि वे दोनों परम्परा से मोक्ष का उपाय (साधन) हैं। उनमें वेदान्त वाक्यों को श्रीभगवान् के स्वरूप गुणादि परत्व निश्चय कर वेदान्त वाक्य प्रतिपाद्य ध्येय श्रीभगवत्स्वरूपादि को साक्षात् दर्शन कर्ता आचार्य मुख से उनके अनुभूत वाक्यार्थ का ग्रहण 'श्रवण' पद का अर्थ है। श्रुत जो उपदिष्ट अर्थ को अपने अनुभव विषय करने के लिये शास्त्रानुसार युक्ति से विचार विशेष का नाम 'मनन' है। श्रवण-मनन विषय रूप अर्थ का साक्षात्कार के लिये असाधारण कारण अनवरत ध्यान निदिध्यासन शब्द का अर्थ है। इसलिये बताये गये लक्षण श्रवण-मनन साध्य निदिध्यासन को अत्यन्त अप्राप्त होने से निदिध्यासन की अपूर्व विधि है, ऐसा जानना चाहिये। श्रवण-मनन विषय रूप ब्रह्म का अवच्छिन्न प्रत्याकार ब्रह्म साक्षात्कार असाधारणकारण ध्यान है। अतः मुमुक्षु जनों को ब्रह्मका निरन्तर चिन्तन (ध्यान) उपासना आमरण उत्क्रान्ति पर्यन्त करते रहना चाहिये। ध्यान करते रहना चाहिये।

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्। (ब्र०सू०४/१/१२)

तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री दास्यं पुनर्जन्मजन्मनि स्यात्।
महानुभावेन गुणालयेन विषज्जस्तत्पुरुषः प्रसङ्गः॥

—श्रीमदभा० १०/८१/३६

१. दास्यभाव के उपासक का उपासना भाव यह है कि श्रीभगवान् मेरे प्रभु हैं, मैं उसका दास हूँ—"दासोऽहं तव केशव" अर्थात् मैं श्रीभगवान् का दासमात्र हूँ। जो उसके दास होते हैं, उनका किसी प्रकार स्वातन्त्र्य नहीं रहता हैं, यथार्थ प्रभु के वे अङ्गस्वरूप हो जाते हैं, उनका स्वतन्त्र्य इच्छा और आत्मप्रीति नहीं रहती है, प्रभु की इच्छा ही उनकी इच्छा, प्रभु की प्रीति सम्पादन करना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है, यथार्थ दास प्रभु श्रीभगवान् की सेवा का उपकरण और यन्त्रस्वरूप हो जाते हैं।

हनुमानजी, गरुड़जी इत्यादि दास्यभाव के उपासक हैं।

२. सख्यभाव के जो उपासक होते हैं वे श्रीभगवान् को अपने सखा,

अपने परममित्र और परमसुहृत् के रूप में मानते हैं। अर्थात् श्रीभगवान् की भावना भावभक्ति उपासना सुहृत् सखा, मित्र रूप से करते हैं। उनका ये सारे भाव स्वाभाविक होते हैं। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध महापुरुष एवं व्रज के प्रसिद्ध नागाजी महाराज श्रीचतुरचिन्तामणिदेवाचार्यजी सख्यभाव के साधक थे। श्रीनागाजीमहाराज का विस्तृत जीवनचरित योगिराज श्रीश्रीरामदास-काठियाबाबाजी महाराज के जीवन-चरित पुस्तक में वर्णित है

मोक्षस्वरूप

मोक्षस्वरूप के प्रसङ्ग में ब्रह्मसूत्र के चौथे अध्याय के चौथे पाद में और उसके निम्बार्कभाष्य में वर्णित है—ब्रह्मज्ञानी पुरुष का जब देहान्त होता है, तब वे अर्चिरादि मार्ग में गमन करके[1], स्वीय स्वाभाविक चित्स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मभावापन्न होते हैं। वे अपहतपाप्मा (निष्पाप) जरारहित, मृत्युरहित, शोकहीन, क्षुधा-तृष्णारहित, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प होते हैं। वे जन्मादि विकार शून्य होते हैं और अपने को स्वभाविक अचिन्त्य अनन्त गुणसागर सर्वविभूतिसम्पन्न ब्रह्मस्वरूप ही अनुभव करते हैं। ब्रह्म आनन्दस्वरूप होने से वे ही आनन्दमय हो जाते हैं और अपने स्वरूपगत चित् के द्वारा उस आनन्द को अविच्छिन्न भाव से सर्वदा अनुभव करते हैं। वे स्वीय सङ्कल्प के अनुसार शरीर धारण करके भगवद्-लीलारस का भोगकर सकते हैं, अशरीर भी रह सकते हैं। मुक्ति दशा में जीव, अज्ञान के कार्य शुभाशुभ कर्म वासनारूप भोग से सर्वथा रहित होते हैं। वे सदा सर्वदा अखण्ड प्रज्ज्वलित दीपक की भाँति आविर्भूत बृहद् ज्ञान-गुणों से विशिष्ट होकर सभी प्रकार के शोकों से तथा तृष्णाओं से रहित होकर ब्रह्म की महिमा सार्वज्ञ्य आदि लक्षण साम्य को प्राप्त कर ब्रह्म के साथ ही आहार, विहार, रमण आत्म-क्रीड़ा करते हैं। मुक्तावस्था में जीवात्मा अपरिच्छिन्न ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप विग्रह से युक्त होकर ब्रह्म के समान गुणवाले हो जाते हैं।

मम साधर्म्यमागताः। गी०१४/२

जगत् सृष्ट्यादि व्यापार को छोड़कर अपर सर्वविध ऐश्वर्य मुक्त पुरुषों का होता है। जगत्सृष्ट्यादि सामर्थ्य केवल एकमात्र ब्रह्म का ही है—

---

१. एक एव मार्गोऽर्चिरादिर्ज्ञेयोऽतस्तेनैव ।
विद्वांसो गच्छन्ति। ब्र०सू० ४/३/९ निम्बार्कभाष्य।

"स कारणं कारणाधिपः । मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" इत्यादि। "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इस श्रुति वाक्य में मुक्त पुरुष का ब्रह्म के साथ मात्र भोग विषय में ही समता रहने का उपदेश है, सामर्थ्य में समता रहने का उपदेश नहीं है। स्वयं श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है—

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।(४/१०)

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।।(६/२२)

बहुत भक्त मेरा अलौकिक जन्म और कर्म विषयक ज्ञानरूपी तप के द्वारा मेरे भाव=स्वरूप को प्राप्त हुए हैं। भक्त स्वरूपानुभव सम्बन्धी भूमा अनन्त ब्रह्म सुख को प्राप्त कर उससे अधिक दूसरे लाभ को नहीं मानता है। चूँकि उनका इस दुःखालय संसार में पुनरागमन नहीं होता है। वे पुनरावृत्ति वर्जित श्रीभगवद्भाव को प्राप्त कर चुके हैं।

ब्रह्मज्ञानी उस आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त होकर सदा के लिये आनन्दमय हो जाते हैं। एसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। यही मोक्ष है। 'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते' यही भगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष है।

श्रीहंसाद् भगवत्स्वरूपत इयं पारम्परी प्रस्तुता

पश्चाच्छीसनकादिकर्षिपरमाचार्यवलीमण्डिता।। इत्यादि।

शास्त्रीय ग्रन्थों के व्याख्याकार आचार्यों की यह परम्परा चली आ रही है कि शास्त्रों में अधिकरण नाम पञ्चाङ्ग होते हैं—१. विषय, २. संशय, ३. पूर्वपक्ष, ४. उत्तरपक्ष और ५ प्रयोजन। इस प्रकार शास्त्र में अनुबन्ध चतुष्टय होते हैं। इस वेदान्तशास्त्र का अधिकारी श्रीभगवद् भावार्पात्तरूप मोक्षकामी, वह वेदान्त वाक्यों का आचार्य मुख से श्रवण, मनन व निदिध्यासन इष्ट साधन समर्थ तथा अभीष्ट फल सम्पादन समर्थ एवं अभीष्ट फल साधन विषयक के आश्रय वेदान्तशास्त्र का अधिकारी है तथा प्रकारक अधिकार की शुद्धि के लिये श्रद्धापूर्वक गुरु शरणागति एवं वस्तु तत्त्व का याथात्म्य विवेक, वैराग्य प्रपत्ति तथा उनकी कृपा के लिये प्रार्थना आदि अपेक्षित हैं, ऐसा जानना चाहिये। श्रुति के अनुसार तीन तत्त्व हैं—भोक्तृत्व, भोग्यत्व और प्रेरकत्वरूप। 'तत्त्व' शब्द का अर्थ है—प्रमाणबोधित त्रिकालवर्ती पदार्थ। चित्, अचित् एवं ब्रह्म रूप तत्त्वत्रय के साधक सैकड़ों, हजारों, श्रुति, सूत्र

एवं स्मृति वाक्य हैं, जैसाकि ब्रह्मसूत्र के निर्माता भगवान् श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यासाचार्य ने उपक्रमसूत्र में ही जिज्ञास्य ब्रह्म, जिज्ञासु जीव और अज्ञान के मूलभूत त्रिगुणुणात्मिका माया यह तत्त्वत्रय दर्शाया है। अन्यथा जिज्ञासा की उपपत्ति नहीं हो सकती, इस सम्बन्ध में श्रुत्यादि शास्त्र वचन हैं— भोक्ता=जीव, भोग्य=प्रकृति (माया) और प्रेरिता=परमात्मा यह तीन प्रकार कहा गया, सब जानकर ब्रह्म होता है। (श्वेताश्वतरोपनिषद् १/१२) सब भूतक्षर=जगत् है, कूटस्थ अक्षर जीव कहा जाता है। अन्य उत्तम पुरुष परमात्मा है, ऐसा कहा गया है। (श्रीमद्भगवदगीता १५/१६) यहाँ अचित् वर्ग से ज्ञानस्वरूप ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मवान अहमर्थरूप श्रीभगवान् के अधीन स्वरूप स्थिति प्रवृत्तिवाला अणुपरिमाणी शरीर में भी बन्धमोक्ष के योग्य चित्पदार्थ कहलाता है, जैसाकि श्रुति वचन है—उस मनोमय से अन्य अन्तरात्मा विज्ञानमय है। (मुण्डकोपनिषद् ३/१२) जिस प्रकार लवणखण्ड सम्पूर्ण लवणमय होता, उसी प्रकार जीव प्रज्ञानधन ही है।

इस प्रस्वाप काल में यह पुरुष स्वयं ही विशेषत: ज्योति होता है (बृहदारण्यकोपनिषद् ४/२/९) अरे! यह आत्मा अविनाशी है अनुच्छित्ति-धर्मा है, जो यह जानता है, पुरुष ही द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, मन्ता और बौद्ध है, यह पुरुष जानता ही है। इत्यादि श्रुतिवचन स्पष्ट प्रमाण हैं, जो आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञाता है 'ज्ञोऽत एव' (ब्रह्मसूत्र २/३/१८) अहमर्थभूत आत्मा को ज्ञाता ज्ञानाधिकरण, यह ब्रह्मसूत्र स्पष्ट रूप से बतलाता है। 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (ब्र०सू० २/३/३२)। आत्मा ही कर्ता है। स्वर्ग को चाहने वाला पुरुष यज्ञ करे, मोक्ष को चाहने वाला पुरुष ब्रह्म की उपासना करे, इत्यादि, भुक्ति-मुक्ति उपाय बोधक शास्त्र प्रमाण हैं। यही अच्छे कर्म करवाता है, यह आत्मा अणु है, जीव पाप और पुण्य से बँधे जाते हैं।

बाल के अग्र का जो सौ भाग है उसका भी फिर सौ प्रकार विभाजित का जो भाग है। अति सूक्ष्म है उसके समान वह जीव अति सूक्ष्म है, जानना चाहिये और वह अनन्त के लिये समर्थ है (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/९), बुद्धि के गुण से और आत्मगुण् से ही आराग्रमात्र अवर भी देखा गया है। शरीर में उत्क्रमण, गमन पुन: इस लोक में लिये आगमन का श्रुति में सुना जाता है (ब्र०सू०२/३/१९)। जीव को प्रस्तुत करके वह महान् है, ऐसा अतद् वचन से जीव अणु नहीं है, इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—'इति चेन्न' ऐसा

नहीं है, मध्य में परमात्मा का अधिकार होने से (निम्बार्कभाष्य ब्र.सू. २/३/२१), बृहद् गुण हैं, जिसमें ऐसा ब्रह्म है, प्राज्ञवद् आत्मा विभु गुणत्व होने से नित्य विभु है, ऐसा उपदिष्ट है। दृष्टान्त में बृहद् ही प्राज्ञ गुणों से भी बृहद् है, दार्ष्टान्त में तो जीव अणु परिमाणक गुण से विभु है, यही विशेषता है (निम्बार्कभाष्य ब्र०सू० २/३/२८)। नित्य अविनाशी जीवों का नित्य अविनाशी परमात्मा है। चेतन-चित्स्वरूप जीवों का परमात्मा चेतन है (कठोपनिषद् २/२/१३)। यहाँ बहुवचन के निर्देश से जीवों का बाहुल्येन उपदेश है। अर्थात् जीव अनेक हैं 'नित्यो नित्यानाम्' इत्यादि श्रुति द्वारा जाना जाता है कि अनन्त ब्रह्माण्डों में नित्य चेतन जीव अनन्त हैं। 'अंशो नाना व्यपदेशात् इत्यादि। यह ब्रह्मसूत्र स्पष्ट रूप में जीवों को नाना=असंख्य कहा है। इसलिये जीव अनन्त (असंख्य) हैं। कोई एक अजन्मा प्रीयमाण निश्चय अनुवर्तन करता है। अन्य अज (जीव) भोगा हुआ भोग का परित्याग कर देता है। (श्वेताश्वेतरोपनिषद् ४/५) निरञ्जन निर्मल जन परमात्मा की समानता को प्राप्त होते हैं। वे पुनः इस संसार में लौटते हैं (छान्दोग्योपनिषद् ८/१४)। ऊपर लिखे गये अर्थों का साधकों को अनुसन्धान करना चाहिये। 'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपः' इत्यादि। गीताशास्त्र ईश्वर के समान समस्त जीव नित्य हैं, ऐसा बता रहे हैं। अचित् पदार्थ भी तीन प्रकार के होते हैं—प्राकृत, अप्राकृत और काल भेद। इनमें तीनों गुणों का आश्रय द्रव्य प्राकृत कहलाता है और वह अनित्य है और परिणाम आदि विकारी है, जिसमें भगवती श्रुति प्रमाण निम्न प्रकार हैं—'गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुधा विभोः, अजामेकाम्।' अब अप्राकृत का वर्णन करते हैं—त्रिगुणात्मक प्रकृति काल इन दोनों से अत्यन्त भिन्न, अचेतन, प्रकृति मण्डल से भिन्न देश में वृत्ति, नित्य विभूति, विष्णुपद, परमव्योम, परमपद तथा ब्रह्म लोकादि शब्द से पुकारे जाते हैं। अप्राकृत परम धाम अथवा परमपद को 'वैष्णव' कहते हैं—'पर पदं वैष्णवमामतन्ति' (श्रीमद्भागवत २/२/१८) 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' तथा 'मत्प्रसादात् परां शान्तिं, स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्' इत्यादि। श्रुति एवं स्मृति का डिण्डिम घोष है। वह श्रीभगवदीय धाम अनादि सङ्कल्प से श्रीभगवान् एवं उनके नित्यमुक्त जनों के भोग्य आदि-रूप से बहुत प्रकार के हैं और वह परिणाम आदि विकारों से सर्वथा रहित हैं, वह कालातीत है। जैसाकि शास्त्र

वचन है—'कालमुहूर्तादिमयश्च कालो न यद् विभूतेः परिणाम हेतुः। प्राकृत और अप्राकृत दोनों भेद से भिन्न अचेतन, द्रव्य विशेष को काल कहत हैं। वह नित्य है और विभु है, जैसाकि श्रुति का वचन है—'अथ नित्यमिह वै पुरुषः प्रकृतिः कालः' इत्यादि। दूसरी श्रुति है—'संदैव सौम्ये दमग्र आसीत्।'

इस श्रुति में सृष्टि से पहले अग्र शब्द वाच्य काल के विषय में सत्यत्व का श्रवण है। ब्रह्म पदार्थ कहे जाने वाला जगत् कर्तृत्व आदि गुण गणों के आश्रय परब्रह्म नारायण वासुदेव आदि शब्दों के प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण हैं, जो चित्, अचित् तथा ब्रह्म पदार्थों के उस-उस प्रकरण में कथित उस-उस गुण स्वरूप आदि विशेषत्व बोधक वाक्यों द्वारा जिनमें परस्पर वैलक्षण्य का आदेश है। जैसे—'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् तथा आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। तत्त्वमसि। अयमात्मा ब्रह्म। सर्वं खल्विदं ब्रह्म। इदं विश्वं भगवान् । त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते तदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मि''।

सृष्टि के आदि में इदम्=यह शब्द से कहे जाने वाला कार्य जगत् सत्स्वरूप था। एक शब्द जगत्कारण में एकत्व को विधान करता है और एवकार अन्य योग व्यवच्छेदार्थक उसके समान को निषेध करता है। परब्रह्म श्रीकृष्ण के समान तथा उससे बढ़कर दूसरा कोई है ही नहीं। (छा०उ० ६/२), सृष्टि के आदि में एक आत्मा श्रीकृष्ण ही थे। तुम वही हो। यह आत्मा ब्रह्म है। निश्चय ही यह सब ब्रह्म है। यह विश्व (संसार) भगवान् है (श्रीमद्भागवत १/५/२०)। हे भगवन्! हे देवते! मैं तुम हूँ, मैं जानता हूँ, उस आत्मा को, मैं ब्रह्म हूँ इत्यादि। अभेद परक वचनों द्वारा चित् और अचित् का ब्रह्म तादात्म्य का उपदेश है। इस प्रकार ''जो नित्य चेतन असंख्य जीवों के नित्य चेतन एक ही उनके द्वारा उपासित होकर अपेक्षित अर्थों का विधान क़रता है यानी अपने उपासकों के मनोरथ पूर्ण करता है (कठोपनिषद् २/२/१३)। जीव और ईश्वर के मध्य में ज्ञ (सर्वज्ञ) है, अतएव ईश है और जीव तो अज्ञ है और अनीश है। दोनों जीवात्मा और परमात्मा अजन्मा है। जीवात्मा और परमात्मा दो पक्षी हैं। गमन साधन रूप में पर्ण शब्द से कहा गया पक्ष तुल्य ज्ञानादि गुणवान व नित्य सम्बन्धी है, युक् शब्द गुणपर है, समान गुणवाले दोनों सखा हैं, चैतन्य आदि समान नामक उपकार्य और उपकारक भाव से वर्तमान हैं, समान एक वृक्ष की भाँति छेदन योग्य शरीर का आलिङ्गन करके मौजूद हैं। उन दोनों के बीच में दूसरा शरीर से अलग जीव उसमें आसक्त होकर पिप्पल यानी शरीर सम्बन्ध कृत कर्म फल को

खाता है, यानी भोगता है। दोनों से भिन्न व दोनों के नियन्तृ रूप में वर्तमान परमात्मा उसमें अनासक्त है, उन फलों को न खाता हुआ ही अतिशय प्रकाशित होता है, श्वेताश्वेतरोपनिषद्। परमात्मा गुणों के ईश हैं और प्रकृति तथा पुरुष के नियन्ता है' वही। प्रकृति और पुरुष से परे है। सबको अपने वश में करने वाला, सबका मालिक है, अद्वितीय सद्वस्तु है, सर्वगत वशी है, वही श्रीकृष्ण स्तुति करने योग्य है। समस्त जनों के हृदय में प्रविष्ट है और सबका शासक है। यह तुम्हारी आत्मा, अन्तर्यामी अमृत है (छान्दोग्योपनिषद्), इत्यादि। भेद विधायिनी श्रुतियों द्वारा भेद की सिद्धि होती है। इसी प्रकार भेद परक ब्रह्मसूत्र हैं—'भेदव्यपदेशाच्चोन्यः। भेदव्यपदेशाच्च। अधिकन्तु भेदनिर्देशात्। अनुपपत्तेतुस्तु न शारीरः। कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च। पत्यादिशब्देभ्यः।'

इस प्रकार श्रुतिस्मृतिसूत्रसम्मत स्वाभाविक भेदाभेदवाद की ही सिद्धि होती है। इसी प्रकार भेद परक भगवान् के श्रीमुख का वचन है—'हे महाबाहो! जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है (गी०७/५)। इस जीवलोक में यह सनातन जीव मेरा ही अंश है (गी०१५/७)। इस संसार में क्षर=नाशवान और अक्षर=अविनाशी—ये दो प्रकार के पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के शरीर तो नाशवान और जीवात्मा अविनाशी है। इन दोनों क्षर और अक्षर यानी जड़ और चेतन से उत्तम पुरुष परमात्मा है, ऐसा कहा गया है (गी०१५/१६-१७) । हे अर्जुन! मैं सब भूत-प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ आत्मा (ईश्वर) हूँ (गी०१०/२०)। अज्ञ अनीश जीव अपने सुख-दुःख पुण्य-पाप के कारण ईश्वर से प्रेरित होकर स्वर्ग अथवा नरक गमन करता है। सब स्वतः परमात्मा के दास-सेवक-किंकर हैं। अन्यथा उनका लक्षण बन्धन व मोक्ष में नहीं होता। संसार का बन्धन, स्थिति तथा मोक्ष का कारण परमात्मा है। भव-पाश से बँधने वाला और भवपाश से छुड़ानेवाला मोक्षदाता परब्रह्म सनातन भगवान् श्रीविष्णु ही हैं।

श्रीमद्भगवतमहापुराण के अनुसार कैवल्य (मोक्ष) के दाता एकमात्र भगवान् श्रीविष्णु ही हैं। ऐसा समस्त देवगणों ने एक स्वर में डिण्डिम घोष किया है—

वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः।।

(श्रीमद्भा० १०/५१/२०)

जो परमात्मा श्रीविष्णु हैं, वह तो नित्य निर्गुण कहे गये हैं। वह फलों से भी लिप्त नहीं होते जैसा पद्मपत्र जल में रहता है, वह जल से लिपायमान नहीं होता।

इत्यादि भेद विषयक इतिहास तथा पुराण आदि के वाक्यों द्वारा जीवात्मा और परमात्मा भेद का प्रतिपादन हुआ है। इन भेद विषयक श्रुति, सूत्र और पुराण वाक्यों में अत्यन्त अभेदवादी के मत में निर्विषयत्व की आपत्ति होने से बाधकी प्रसक्ति होगी। ऐसी स्थिति में उनके लिये अर्धनास्तिकता दोष की आपत्ति दुर्वार हो जायेगी। यह दोष केवल भेदवादी मत में भी समानरूप से लागू होता है, कारण इनके मत में अभेद वाक्यों के बाध का प्रसङ्ग होता है। एक प्रकार के वाक्य के बाध के बिना केवल भेद किम्वा केवल अभेद का समर्थन नहीं किया जा सकता। द्वैताद्वैत सिद्धान्त में तो दोनों प्रकार के वाक्यों में किसी प्रकार के विरोध की शङ्का नहीं है। इस मत में अर्थात् द्वैताद्वैत सिद्धान्त में क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, प्रकृति, पुरुष, क्षर तथा अक्षर आदि तद्व्याप्यत्व तथा तदधीनत्व आदि हेतुओं से ब्रह्म से अभिन्नत्व तथा सर्वात्मत्व सर्वव्यापकत्व सर्वतन्त्र स्वतन्त्रत्व आदि धर्मों से भीन्नत्व भी है, ऐसे प्रतिपादन के द्वारा दोनों प्रकार के वाक्यों की चरितार्थता होती हैं। जैसा कि श्रुति वचन है—

अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।
यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।।
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अस्वातन्त्र्यात् तदन्येषामसत्त्वं विद्धि भारत।
किमनेन जगन्नाथ सर्वं त्वद् बशगं जगत्।।
अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम्।
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः।। इत्यादि।

सभी वैष्णवाचार्य चित्-अचित् शक्तियुक्त भगवान् तीन, तत्त्व, शाश्वत मानते हैं। यह बात हम पहले कह चुके हैं। इस प्रकार जो वस्तु जिसके अधीन होती है, उसमें उसके साथ अभेद व्यवहार होता है, ऐसी व्याप्ति छान्दोग जन मानते हैं, जैसाकि प्राणेंन्द्रय सम्वाद में उस छान्दोग्यउपनिषद् में

उल्लिखित है—"नैव वाचो न चक्षूंषि न मन इत्याचक्षते" श्रुतियों में प्रसिद्ध तत्त्वों का प्राण आधीन होने से ही उनमें प्राणाभिन्नत्व कहा गया है और भेद व्यवहार भी क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ तथा परमात्मा में स्वरूप एवं स्वाभाविक वैलक्षण्य प्रतिपादन होने से मुख्य रूप में ही उपपन्न होता है। 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद नान्यतोऽस्ति द्रष्टा द्वितीयाद्वै भयं भवति"। इत्यादि भेद निषेध का व्यवहार परमात्मा से इतर स्वतन्त्र सत्त्वावच्छिन्न वस्तु के निषेध से ही उपपन्न होता है। इस प्रकार किसी भी वाक्य के विरोध की शङ्का की गन्ध भी नहीं है। इसलिये भेद विषयक एवं अभेद विषयक वाक्यों में परस्पर बाध्य-बाधक भाव् नहीं कहा जा सकता, उचित कारण नहीं। श्रुति के दोनों वाक्य समान बलवान हैं। इसी तात्पर्य को हृदय में धारण कर भगवान सूत्रकार परस्पर विरुद्धार्थक भेद वाक्यों एवं अभेद वाक्यों का विना विरोध के समन्वय का प्रकार बतलाने के लिये चेतन तथा अचेतन तत्त्वों का ब्रह्म के साथ स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध में ही निर्दोषत्व की स्थापना के लिये घटक सूत्रों की रचना की है। जैसे—

अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दाश कितवादित्वमधीयत एके। उभयव्यपदेशात्त्वहि कुण्डलवत्। प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वाद। एकः सन् बहुधा बहून् प्रविष्टः त्वमेकोऽसि बहुधा बहून प्रविष्टः इत्यादि, घटक श्रुतियाँ हैं। इसलिये इस वेदान्तशास्त्र का विषय ब्रह्म शब्दाभिधेय सर्वज्ञ स्वाभाविक अचिन्त्य अनन्त यावत् आत्मवृत्ति गुणशक्ति आदि के आश्रय भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। विषय-विषयी भाव लक्षण सम्बन्ध हैं, इसका पूर्वोक्त लक्षणयुक्त मुमुक्षु अधिकारी तथा श्रीभगवद्भावापत्तिरूप लक्षण मोक्ष, यहाँ प्रयोजन है।

पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही परतत्त्व हैं, वह एक अद्वितीय सद्वस्तु हैं, समस्त प्राकृत गुणों से परे हैं, अकारणकरुणावरुणालय ज्ञान-बल-ऐश्वर्य आदि विविध गुणों के प्रकाशक एवं सौन्दर्य माधुर्य सौकुमार्य आदि दिव्य गुणों से युक्त शुद्ध सत्त्वमय उनका चिद्घन ज्ञानज्ञान सच्चिदानन्द आनन्दमय दिव्यमङ्गल श्रीविग्रह है। उसी सर्वाधार विश्वात्म परमात्मा भूमा श्रीकृष्ण में सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम जगत् प्रतिष्ठित है। श्रीभगवद्भावापत्तिरूप लक्षण मोक्ष शब्द का अर्थ है—'बहवो ज्ञानतपसा पूतामद्भावमागताः' इस श्रीभगवद् वाक्य से जाना जाता है कि श्रीभगवान् के भाव को यानी सार्वज्ञ्यादि लक्षणों को प्राप्त होना मोक्ष कहलाता है।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य का परिचय

श्रीविष्णुचक्रपरिपवितनैमिषेऽस्मिन्
श्रीवालखिल्यऋषिसंस्कृतपुण्यभूमौ ।
तद्द्वापरान्तसमये ननु सुतो वक्ता
प्रख्यापितं सपदि भागवतं पुराणम्।।१।।
श्रीशौनकादिऋषिभिः सममेव तत्र
सम्पीतवानरुण एष ऋषिर्द्विरेकः।
सद्यस्तु भागवतपद्ममधूत्तमं यत्
पुत्राय तस्य पुनरारुणये नमोऽस्तु।।२।।

भगवान् श्रीविष्णु के सुदर्शनचक्र द्वारा सब ओर से अच्छी प्रकार अति पवित्र इस वैष्णव क्षेत्र नैमिषारण्य में षष्टिसहस्र निर्मल श्रीवालखिल्य ब्रह्मर्षियों के संस्कार से पवित्र भूमि में, उस द्वापर के अन्त में श्रीसूतजी ने शीघ्र ही श्रीमद्भागवत जैसे महापुराण का भली-भाँति वर्णन किया है।।१।। (अष्टभू वैकुण्ठ नैमिषारण्य श्रीभगवान् के मूर्तिमान् स्वरूप हैं।)

श्रीशौनकादिक इत्यादि ८८ हजार ऋषियों के साथ मधुर गुञ्जार वाले भ्रमर अरुण ऋषि ने श्रीमद्भागवत के उत्तम मधु (रस) का पान करके पुनः अपने पुत्र आरुणि (भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य) को पान कराया। हम उन्हें तन,मन, एवं वचन से नमस्कार करते हैं।।२।।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य का प्रादुर्भाव द्वापर के अन्त में ही हुआ था। यह बात उनके शिष्य श्रीगौरमुखाचार्य ने ही लिखी है—

अध्यक्षो द्वापराचार्यः-श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्रम्।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा की भावदीपिका-संस्कृत-टीका में ठीक यही बात लिखी है—

निखिलभुवनजन्मस्थितिलयःहेत्वानन्दकन्दनन्दनन्दनश्रीकृष्णावतारसमसायिकः।

इसलिये श्रीभगवत्परमात्मपरब्रह्म श्रीकृष्णावतार समकालीन भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य का प्रादुर्भाव हुआ था। हमारे परामाध्य परमगुरुदेवश्री १००८ स्वामी धनञ्जयदासजी काठियाबाबा तर्कतर्कव्याकरणतीर्थ महाराज 'निम्बार्कवेदान्त

का संक्षिप्त सार' नामक ग्रंथ में लिखते हैं कि—भगवान् श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने के कुछ समय बाद एकबार यह भारत भूमि तमोगुण की प्रधानता से धर्म-कर्म से रहित नास्तिकों और पाखण्डियों के तथा आसुर राक्षसभाव वाले मनुष्यों के निवासस्थली के रूप में बदल गयी। उस समय वेदों के द्वारा बताये गये धर्मशास्त्रों के विहित कार्य प्रायः लुप्त हो गये थे। संसार के मङ्गलमय के कारण श्रीहरि के गुणों का गान प्रायः सुनाई नहीं पड़ता था।

सभी ओर अधर्म का वातावरण व्याप्त था। सभी मनुष्य पुण्य कर्मों से विमुख होकर पाप कर्मों में लिप्त हो गये थे। सारी भारत भूमि पाप के भार से पीड़ित थी। इस प्रकार ऐसे समय में आकाश मार्ग से श्रीहरि के गुणों का गान करते हुए देवदर्शन श्रीदेवर्षि नारदजी पृथ्वी पर आये। अधर्म में लगे हुए सभी जनों को देखकर अत्यन्त चिन्तित हुए। भारतवासी लोगों को देखकर उनको अधर्म से बचाने के लिये देवलोक गये और वहाँ देवगणों के साथ परामर्श किये। इसके बाद समस्त देवगण और देवर्षि नारदजी, ब्रह्माजी के समीप ब्रह्मलोक में गये, उनसे पृथिवी पर बढ़ रहे अत्याचार से रक्षा के लिए निवेदन किया। इसके बाद ब्रह्माजी, श्रीनारदजी और देवगणों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के पास गये। वहाँ जाकर ब्रह्माजी ने नारद द्वारा, देवगणों, मृत्युलोक के प्राणियों की दुर्दशा का चित्रण करके उन सभी के उद्धार के लिये निवेदन किया। ब्रह्मा इत्यादि देवताओं की प्रार्थना को सुनकर गोलोक विहार भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए, पृथिवी पर बढ़ रहे अधर्म के विनाश के लिये अच्छी प्रकार उचित समय का विचार करके सभी प्रकार की शक्ति से युक्त, सभी कार्य करने में समर्थ, अपने प्रिय आयुध श्रीसुदर्शनचक्र को अवतार के लिये आदेश प्रदान किया। श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र में लिखा है—हे लम्बी भुजाओं वाले, करोड़ों सूर्य की प्रभा के समान प्रभा वाले, हे विष्णु के सुदर्शन! अज्ञानरूपी अन्धकार में पड़े हुए प्राणियों का आप सन्मार्ग प्रदर्शित करने की कृपा करें। भगवान् श्रीकृष्ण के आदेशानुसार दक्षिण भारत की गोदावरी नदी के किनारे वैदुर्यपत्तन (इस समय मूंगी पैठन बताते हैं) नामक गाँव में सदगृहस्थ ब्राह्मणश्रेष्ठ परमभागवत अरुण ऋषि से जयन्ती देवी में कार्तिक मास सुदी शुक्लपक्ष की पूर्णिमा तिथि में, पाँचों ग्रहों की उच्च स्थिति में, सूर्य के अवसान समय में, मेष लग्न में, दसवें मास में, श्रीहरि के

करकमल में विराजित श्रीसुदर्शनचक्र ने मानव के रूप में अवतार लिया, जो आगे चलकर निम्बार्क नाम से प्रसिद्ध हुए। अतः कार्तिक पूर्णिमा को श्रीनिम्बार्क-जयन्ती जन्ममहोत्सव मनाया जाता है।

श्रीनिम्बार्क स्वामी का प्रारम्भिक नाम नियमानन्द था। इनके शिष्य श्रीऔदुम्बराचार्यजी ने कहा है—

ब्रह्मर्षिविष्णोर्नियमस्त्वमेवमानन्द आहुर्नियमानन्दं त्वाम्।
सङ्कल्पनिर्देशसमाधिपूत्रे तस्मै नमः सर्वसमृद्धिकर्त्रे।।

(श्रीनिम्बार्कविक्रान्तिः, श्लोक ४४)

एकादशी के निर्णय के अवसर पर निम्बार्कमत का अत्यन्त आदर के साथ 'भगवान्' शब्द के साथ किया गया है, यह दिखाई देता है श्रीनिम्बार्काचार्यजी के मत में यह भी प्रतिपादन किया गया है कि यदि कोई वाञ्छित फल की प्राप्ति करना चाहता है तो उसे एकादशी तिथि के उपवास में उदयव्यापिनी तिथि ग्रहण करनी चाहिये। इस श्लोक को प्रसिद्ध स्मृतिकार श्रीकमलाकर भट्टजी ने अपने 'निर्णयसिन्धु' में और श्रीभट्टोजी दीक्षित ने भी भविष्यपुराण के आधार पर इसका उल्लेख आदर के साथ किया है।

श्रीमन्निम्बार्कीय वैष्णवाचार्य जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टजी ने अपने द्वारा विरचित श्रीमद्भगवद्गीतातत्त्वप्रकाशिका नामक ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि—

बहुभिराचार्यैः स्वस्वमतानुसारेण व्याख्यातमिदं शास्त्रं परन्तु तेषां सर्वज्ञत्वाभावात् तत्तद् व्याख्यानानां शास्त्रविरुद्धांशेनापि युक्तत्वान्न सर्वमुमुक्षपादेयत्वं किन्तु–

निम्बार्को भगवान् येषां वाञ्छितार्थफलप्रदः।
उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे।।

इति भविष्यपुराणे श्रीविव्यासवचनाच्छ्रीनिम्बार्काचार्यस्यैव भगवच्छब्दाभिहितत्वेन सर्वज्ञत्वात् सर्वेभ्यः प्राचीनाचार्यत्वाच्च तद्व्याख्यानस्यैव सर्वश्रुति-सूत्राविरुद्धत्वेन परमश्रेयोऽर्थिभिरुपादेयत्वम्।। इति संक्षेपः।

चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता अतिपाप्मानमरातिं तरेम्।।

लोकस्य द्वारमर्चिष्मत् पवित्रं ज्योतिष्मद् भ्राजमानं महत्स्वत्।
अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके सुधितान् दधात्।।

यजुर्वेद (काठक ३ प्रश्न तृतीयानुवाद)

पवित्रं विततं.............चरणं पवित्रं........अर्चिष्मत् ज्योतिष्मत् ।

इत्यादि वैदिक मन्त्रों का श्री निम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र में नैमिषारण्य निवासी महर्षि श्रीगौरमुखाचार्य ने स्पष्ट शब्दों में श्रीनिम्बार्क भगवान् के नामों को बतलाया है—

चक्रं चमत्क्रियायुक्तं चमत्कृतिहृतेक्षणम्।
लोकद्वारं महोदारं ज्योतिष्मच्च प्रभाकरम्।।
उद्धृता सुरमर्चिमत् सहस्रचरणं चरम्।
पवित्रं विततं प्राणं प्रतत्पुराणमुत्तमम्।।

(श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र ८०/२/८३)

इससे सिद्ध हो गया कि भगवान् श्रीनिम्बार्क वैदिक ऋषि हैं। इसी प्रकार श्रीमद्भागवतस्थ वेदस्तुति में—

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः।
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।।

सूक्ष्मदृष्टि वाले आरुणि (अरुण पुत्र भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य) ऋषियों की उपासना सम्प्रदायों में समस्त सम्प्रदायों का मूलप्राप्य दहर नामक हृदयावच्छिन्न परब्रह्म की उपासना करते हैं। प्राचीन ऋषि प्रणीत सद्ग्रन्थों के अनुसार तथा साम्प्रदायिक विद्वानों का अभिमत है कि आज से और युधिष्ठिर के छठें सम्वत्सर में द्वापर के अन्त में कलि के प्रारम्भ में सुदर्शनचक्र का अवतार भगवान् निम्बार्काचार्य का प्रादुर्भाव कार्तिक मास की पूर्णिमा तिथि में हुआ था। श्रीभविष्यपुराण में और भृगुसंहिता में जो प्रमाण रूप में प्राप्त हैं, उसको यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

सूत उवाच

सुदर्शनो द्वापरान्ते विष्ण्वाज्ञप्तो जनिष्यति।
निम्बादित्य इति ख्यातो धर्मग्लानिं हरिष्यति।।
शृणुष्व चरितं तस्य निम्बार्कस्य महात्मनः।
यमाह भगवान् कृष्णः कुरु कार्यं ममाज्ञया।।

मेरोश्च दक्षिणे पार्श्वे देवनद्यास्तटे शुभे।
देशे तैलङ्गके रम्ये देवर्षिवरसेविते।।
तत्रावतीर्य सद्धर्मान्नारदाद् देवदर्शनात्।
लब्ध्वा भूमौ वर्त्तयस्व नष्टप्रायान्ममाज्ञया।।
माथुरे नैमिषारण्ये द्वारवत्यां ममाश्रमे।
सुदर्शनाश्रमादौ च स्थितिः कार्या त्वयाऽनघ।।
ओमित्यादेशमादाय भगवाञ्छ्री सुदर्शनः।
भक्ताभीष्टप्रदः साक्षादवतीर्णो महीतले।।
देशे तैलङ्गके पुण्ये द्विजवर्यो महामनाः।
सुदर्शनाश्रमे पुण्ये भृगुवंशसमुद्भवः।।
नाम्नाऽरुण इति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः।
ऋषिरूपधरश्चासीज्जयन्त्या भार्यया सह।।
समाहितं तेन तेजो विष्णुचक्रसमुद्भवम्।
दधार मनसा देवी जयन्ती पतिदेवता।।
तेजसा शुशुभे तेन चन्द्रेणेव दिशाऽमला।
अथ सर्वगुणोपेते काले परमशोभने।।
कार्तिकस्य सिते पक्षे पूर्णिमायां वृषे विधौ।
कृत्तिकाभे महारम्ये उच्चस्थे ग्रहपञ्चके।।
सूर्यावसानसमये मेषलग्ने निशामुखे।
जयन्त्यां जयरूपिण्यां जजान जगदीश्वरः।।
येन सर्वमिदं विश्वं वेदधर्मे नियोजितम्।
विरञ्चिरेकदा तस्मिन्निम्बार्कस्याश्रमे शुभे।।
समागत्याह भो ब्रह्मन् प्राप्तोऽहं क्षुधयाऽन्वितः।
यावत्सूर्यः स्थितो व्याम्नि तावन्मां भोजय द्विज।।
इति श्रुत्वा तथेत्युक्त्वा ददौ तस्मै च भोजनम्।
तदा तु भगवान् सूर्यो ह्यस्ताचलमुपागतः।।
मुनिना ऋषिणा तेन निम्बवृक्षे तदा शुभे।
स्थापितं तेजसा स्वेन तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम्।।
तत्तेजः सूर्यसङ्काशं दृष्ट्वा वेधाः स्मयान्वितः।
भिक्षुवेषधरं बालं मुनिं सूर्यमिवापरम्।।

ननाम दण्डवद्भूमौ तपसा तस्य तोषितः।
उवाच वचनं रम्यं साधु साध्विति पूजयन्।।
निम्बादित्य इति ख्यातो वसुधायां भविष्यति।
इति भविष्यपुराणे प्रतिसर्गपर्वणि चतुर्थखण्डे सप्तमेऽध्याये।।

सूतजी ने कहा—भगवान् श्रीविष्णु के आज्ञानुसार श्रीसुदर्शन द्वापर के अन्त में श्रीनिम्बार्काचार्य के रूप में अवतार लेकर धर्म की ग्लानि-हानि को हरेंगे, अर्थात् धर्म की रक्षा करेंगे। उन महात्मा भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य के पावन चरित्र को सुनो, जो कि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—मेरी आज्ञा का पालन करो। सुमेरु पर्वत के दक्षिण भाग में देवनदी के तटपर देवताओं तथा ऋषियों द्वारा सेवित तैलङ्गदेश (आन्ध्रप्रदेश) में सद्धर्म देवदर्शन श्रीमन्नारदजी से प्राप्त ब्रह्मविद्यावाले भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य धरा-धाम में अवतीर्ण होकर धरती पर नष्ट प्राय: धर्म की स्थापना करेंगे। मेरी आज्ञा से मथुरा में, नैमिषारण्य में, द्वारका में, बदरिकाश्रम में और सुदर्शनआश्रम में तुम्हें रहना चाहिये। भक्तों का अभीष्ट प्रदान करने वाले भगवान् श्रीसुदर्शन ओम् ऐसा आदेश को स्वीकार करके इस धरा-धाम (आन्ध्रप्रदेश) पर अवतीर्ण हुए। उस पुण्य तैलङ्ग देश में सुदर्शनआश्रम में द्विजश्रेष्ठ भृगुवंश में उत्पन्न वेदों में और वेदाङ्गों के पूर्ण ज्ञाता, ऋषिरूपधारी, महामना अरुण नाम से विख्यात् अपनी जयन्ती भार्या के साथ जीवन यापन करते उन्होंने अपने में निहित विष्णुचक्र समुद्भव तेज को मन से अपनी पत्नी पतिव्रता देवी जयन्ती ने धारण किया, जिससे चन्द्रमा के तेज के समान सारी दिशाओं में सुशोभित हुई। इसके बाद समयानुसार कार्तिक मास की पूर्णिमा तिथि में, वृष राषि में, चन्द्रमा के रहने पर, कृतिका नक्षत्र में, पाँच ग्रहों की उच्च स्थिति में, सूर्यावसान के समय में सायंकाल मेष लग्न में अरुण ऋषि से जयन्ती देवी में सारे संसार के गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य प्रकट हुए। जिन्होंने सभी को वैदिक धर्म में नियोजित किया। एकबार सर्वलोक पितामह स्वयं श्रीब्रह्माजी भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य के शुभ आश्रम में आये और उन्होंने कहा कि हे ब्रह्मन्! मैं भूख से पीड़ित हूँ। जबतक सूर्य आकाश में स्थित है तबतक मुझे भोजन कराओ। यह सुनकर भगवान् निम्बार्काचार्य ने कहा कि ठीक है, ऐसा कहकर उन्होंने अपने योग-बल से उन्हें भोजन दिया, उसी समय भगवान् सूर्य अस्ताचल की ओर चले गये। उस समय मननशील मन्त्रद्रष्टा निम्बार्क भगवान् ने अपने तेज से तेजस्वरूप सुदर्शन को निम्ब-वृक्ष पर स्थापित

किया। उसी समय उन ऋषि को और उनके प्रभाव को देखकर ब्रह्माजी आश्चर्य चकित हो गये। भिक्षुक का वेष धारण करने वाले दूसरे सूर्य के समान देदीप्यमान बालक मुनि की तपस्या से प्रसन्न होकर भूमिपर गिरकर दण्डवत् प्रणाम किया। ब्रह्माजी ने साधु-साधु ऐसा कहकर उनका पूजन करते हुए प्रिय मधुर वचन बोला—आगे चलकर तुम निम्बादित्य अथवा निम्बार्क नाम से पृथ्वी में ख्याति प्राप्त करोगे। यह कथा भविष्यपुराण में प्रतिसर्ग पर्व में चतुर्थ खण्ड में सातवें अध्याय में लिखी है।।७।।

शुक्र उवाच

भवेदेतादृशी पत्री यज्जीवस्य महामते।
स किं फलमवाप्नोति विस्तराद् वद मे प्रभो।।

भृगु उवाच

मेषलग्नोदये जन्म तदीशे तात भावके।
प्रशंसिते कुले जन्म उच्चवंशे महामुने।।
श्यामवर्णोऽपि जायेत लम्बदेहो भविष्यति।
मुखं च लम्बकं तात भृकुटिः शुभ मानद।।
दिव्यकान्तिः प्रजायेत अर्कवन्मुनिपुङ्गव।
आजानुलम्बको बाहुः कृष्णाज्ञया जनिष्यति।।
मेरोश्च दक्षिणे पार्श्वे नर्मदातटके शुभे।
निम्बादित्य इति ख्यातो भगवांश्च सुदर्शनः।।
द्वापरान्ते कलेरादौ देशे तैलङ्गके शुभे।
पिताऽरुण इति ख्यातो जयन्ती जननी सती।।
कोषगेहे निशानाथो धनधान्यसुखं कवे।
प्रतिष्ठा यादृशी लोके तपोबलं च तादृशम्।।
भातृगेहे तमः प्रोक्तो भातृयोगविहीनकः।
स्वयन्त्वेक पितुर्गेहे भातृभग्नीसुखं न तु।।
मातृगेहे देवनाथः सुशीला जननी कवे।
पतिव्रता भवेन्माता यौवने नष्टतां गता।।
पुत्रनाथश्चाष्टमे च सन्ततेश्च सुखं न तु।
बुद्धिस्तीव्रतरा चैव विद्यायुक्तोऽपि भो कवे।।

देवविद्या महाप्राज्ञ वेदधर्मप्रचारकः।
तत्त्वज्ञानप्रबुद्धश्च नारदाच्च महामुने।।
रिपुनाथोऽष्टमे चैव शुत्रुचिन्ता यदा कदा।
अन्ते च मुनिशार्दूल शत्रवो नष्टतां गताः।।
दारगो भाष्करिः प्रोक्तो भृगुपुत्रेण संयुतः।
दारयोगो न जायेत योगमार्गे रुचिः कवे।।
आयुर्गोहि चन्द्रपुत्रो दिवानाथेन संयुतः।
पूर्णायुः सुखदं शर्मन् दीर्घजीवी भविष्यति।।
उच्चस्थाश्च ग्रहाः पञ्च जन्मकाले महामते।
निशामुखे भवेज्जन्म वृषे च रजनी करे।।
कार्त्तिके च शुभे मासे पूर्णिमायां तिथौ मुने।
जातोऽयं नियमानन्दो गोदावरीतटे मुने।।
भाग्यगेहे शिखी प्रोक्तो भाग्यदो धनदः कवे।
पूर्वपुण्यप्रभावेन भृगुवंशे जनिर्मुने।।
तात गेहे भूमिपुत्रः पिता तस्य प्रतापवान्।
अरुणाख्य ऋषिर्नाम्ना वेदवेदाङ्गपारगः।।
यौवनेऽपि महाप्राज्ञ पितुर्मृत्युर्भविष्यति।
लाभनाथः सप्तमे च लाभदो धनदः कवे।।
सिद्धिलाभो भवेत् तात राधाकृष्णप्रसादतः।
ख्यातिः कीर्तिश्च बहुला धर्मलाभः सदा भुवि।।
देवदर्शनमाप्नोति दीर्घजीवी भविष्यति।
श्रुतिस्मृतिपुराणेषु पारगश्च स्वयं कवे।।
व्ययनाथः केन्द्रवर्त्ती व्ययं दीर्घं प्रजायते।
साधूनां भोजने दाने बहुद्रव्यव्ययं कवे।।
दीनानां पालनं चैव धर्ममार्गे व्ययं बहु।
पूर्वकर्मप्रभावेन सोऽवतीर्णश्च भूतले।।

शुक्र उवाच

पूर्वजन्मनि किं कृतं कर्म तद् घोररूपकम्।
तन्मे वद महायोगिन् येनाभूच्च त्रिकालज्ञः।।

भृगुरुवाच

सुदर्शनस्य चांशोऽयं पूर्वजन्मनि भो मुने।
चैकदा समये तात कृष्णश्च चाज्ञापयत् स्वयम्।।
धर्मप्रचारणार्थाय चावतरतु भूतले।
तेनादिष्टेन मुनिना वेदधर्मः प्रचारितः।।
अथापयत् सम्प्रदायं स्वनाम्ना च महामते।
ग्रन्थाश्च विविधा ब्रह्मन् वेदवेदान्तमूलकः।।
निर्मिताश्च महाप्राज्ञ भक्तानां मोक्षहेतवे।
दिग्विजयी महाबुद्धे स्वीयविद्याप्रभावतः।
अलौकिकाणि कर्माणि कृतानि च महामते।
ब्रह्मचारी स्वयं तात पूर्णत्यागी तथा मुने।।

इति श्रीभृगुशुक्रसम्वादे जन्मकुण्डल्यां योगाध्याये फलादेशः समाप्तः।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य का जीवन-परिचय भृगुसंहिता में निम्न प्रकार वर्णन है कि—शुक्र ने कहा—हे भगवन्! आप मुझे यह बतलाने की कृपा करें, इस प्रकार की जन्म-पत्रिका जिसकी हो उसका क्या फल प्राप्त होगा? भृगु ने कहा—हे तात! जिसका जन्म मेष लग्न में होता है और लग्नेश भी लग्न में ही स्थित हो तो प्रशंसित उच्च वंश में जन्म होता है। श्यामवर्ण, लम्बा शरीर, मुख लम्बा, शुभ भौंहे, दिव्य कान्ति, सूर्य के समान तेज, जानु पर्यन्त लम्बी-लम्बी भुजाएँ, भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा से उत्पन्न होगा। सुमेरु पर्वत के दक्षिण भाग में नर्मदा के तट पर निम्बादित्य (निम्बार्क) के नाम से प्रसिद्ध भगवान् सुदर्शन द्वापर के अन्त में और कलियुग के प्रारम्भ में तैलङ्ग देश में अरुण नाम से प्रसिद्ध पिता और जयन्ती नाम की माता के गर्भ में, चन्द्र के प्रभाव से धन-धान्य से सम्पन्न बालक का प्रादुर्भाव होगा। जैसे बल और तप होगा, उसी के अनुसार प्रतिष्ठा की भी प्राप्ति होगी। भाई के घर में तम होने के कारण भाई का योग नहीं है। अपने पिता के घर में अकेला और भाई तथा बहन से रहित होगा। माता के घर में देवनाथ होने के कारण सुशीला माता होगी। माता पतिव्रता होगी और युवावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त होगी, पुत्रेश अष्टम भाव में होने के कारण सन्तति सुख नहीं होगा। बुद्धि विशेष तीव्र होगी और विद्वान् भी होगा। (देवविद्या) संस्कृत का

ज्ञाता, महान् बुद्धिमान्, वेद-धर्म का प्रचारक, श्रीमन्नारद भगवान् से ज्ञान प्राप्त करने वाला शत्रुभाव के स्वामी ८वें भाव में होने के कारण कभी-कभी शत्रु चिन्ता भी होगी। अन्त में शत्रु भी नष्ट हो जायेंगे। जाया भाव में शनि होने क कारण शुक्र के साथ है। अत: पत्नी का योग नहीं है तथा भक्ति मार्ग में रुचि होगी। आठवें भाव में सूर्य और चन्द्र स्थित हैं। अत: पूर्णायु: की प्राप्ति तथा सुखद जीवन होगा।

जन्मकाल में पाँच उच्च ग्रहों के कारण, सायंकाल जन्म होने से वृष राशि में चन्द्र के रहने से कार्तिक मास की पूर्णिमा तिथि को गोदावरी नदी के किनारे 'नियमानन्द' (निम्बार्क) का जन्म हुआ। भाग्यगृह में शिखी होने के कारण भाग्यशाली, धनी होगा। पूर्व पुण्य के प्रभाव से भृगुवंश में जन्म होगा। दशवें भाव में मङ्गल होने के कारण इनके पिता प्रभावशाली होंगे। जो कि वेद और वेदाङ्गों के पूर्ण ज्ञाता अरुण नाम के ऋषि होंगे। युवावस्था में ही माता-पिता की मृत्यु हो जायेगी। आय भाव के स्वामी सातवें भाव में होने के कारण लाभ होता रहेगा। जातक धनी होगा। श्रीश्रीराधाकृष्ण की प्रसन्नता से सिद्धि लाभ होगा। इसके साथ ही प्रसिद्धि यश, धर्मलाभ भी होगा। देवदर्शन प्राप्त होगा। दीर्घजीवी होगा। श्रुति और स्मृतियों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होगा। व्यय-भाव के स्वामी केन्द्र में स्थित होने के कारण व्यय लम्बा होगा। साधुजनों को भोजन कराने, दान देने में अत्यधिक धन व्यय होगा। दीनजनों के पालन और धार्मिक कार्यों में बहुत व्यय होगा। पूर्व कर्म के अनुसार श्रीसुदर्शन का अवतार हुआ।

शुक्र ने पूछा कि हे योगिन! आप मुझे यह भी बतलाने की कृपा करें कि पूर्व जन्म में इन्होंने कौन से कर्म किये थे जिनके कारण वे त्रिकालज्ञ हुए। भृगु ने कहा—हे तात! एकबार स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय आयुध सुदर्शनचक्र को आदेश प्रदान किया था कि धर्म के ही प्रचार-प्रसार के लिए भूतल में अवतार धारण करो। अत: उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण के आदेशानुसार श्रीसुदर्शन ने श्रीनियमानन्द के रूप में जन्म लेकर धर्म का प्रचार किया। अपने नाम से ही निम्बार्क सम्प्रदाय को चलाया, अनेक वेद-वेदान्त मूलक सद्ग्रन्थों का प्रणयन किया, जो भक्तों के मोक्ष के लिये है। अपनी विद्या के प्रभाव से दिग्विजयी भी हुए। ब्रह्मचारी और पूर्ण त्यागी होते हुए, इन्होंने अनेक प्रकार की अलौकिक कार्य भी किये। इस प्रकार का वर्णन भृगुसंहिता

में भृगु शुक्र सम्वाद में वर्णित है। योगाध्याय फलादेश पूर्ण हुआ।

पहले कहा गया है कि 'नर्मदा-तट पर जन्म ग्रहण करेंगे' फिर यहाँ कहा गया—'गोदावरीतट पर जन्म ग्रहण करेंगे' इन उक्तिद्वय का सामञ्जस्य कैसे हो सकता है? ऐसा प्रश्न उठता है। इसका उत्तर यह है कि नर्मदा-तटवर्ती जयन्ती देवी के पित्रालय में गर्भस्थ हुए और गोदावरीतट पर स्थित अरुणाश्रम में भूमिष्ठ हुए थे, इसलिये दोनों स्थान में जन्म ग्रहण की बात कही गई है, ऐसा ही समझना चाहिए।

'द्वापर के अन्त में कलियुग के प्रारम्भ में' इस वचन के द्वारा सुदर्शन-चक्र के अवतार भगवान् निम्बार्काचार्य के आविर्भाव-काल का निर्धारण श्रीमद्भगवद्विभूति महर्षि भृगुजी के द्वारा किया गया है। वे अकाट्य प्रमाण हैं। इसलिये अपने सम्प्रदाय की इतिहास परम्परा के द्वारा ५१०९-५१०१० निम्बार्काब्द वर्ष पूर्व श्रीनिम्बार्क भगवान् का आविर्भाव-काल 'द्वापरान्ते कलेरादौ' से सिद्ध होता है।

वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार भगवान् श्रीविष्णु के धाम, उनके हाथ में स्थित आयुध सभी चिन्मय हैं, प्राकृत जड़ वस्तु नहीं है। श्रीसुदर्शनचक्र के विषय में चिन्मय आयुध का वर्णन है। नाम, रूप, लीला और धाम ये नित्य हैं।

पुराणातिलक श्रीमद्भागवतमहापुराण में किया गया है—

व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्यविषयात्मनाम्।
सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद् विभुः।।
(१/८/१३)

दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम्।
भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत् कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः।।
(१०/६६/४२)

त्वमग्निर्भवान् सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पतिः।
त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च।।
सुदर्शन! नमस्तुभ्यं सहस्राराच्युतप्रिय।
सर्वास्त्रघातिन्! विप्राय स्वस्ति भूया इडस्पते।।

त्वं धर्मस्त्वमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञभुक्।
त्वं लोकपालः सर्वात्मा त्वं तेजः पौरुषं परम्।।

(९/५१३,४,५)

भगवान् श्रीविष्णु के सुदर्शनचक्र ने सारी वाराणसी को जलाकर पुनः अक्लिष्टकर्मा=बिना परिश्रम से कर्म करने वाला भगवान् श्रीकृष्ण के पार्श्व में=कर कमल में विराजने लगा। सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने अनन्य प्रेमियों पर शरणागत भक्तों पर बहुत बड़ी विपत्ति आयी हुई जानकर अपने प्रिय निजायुध सुदर्शनचक्र से उन निजजनों की रक्षा की। राजा अम्बरीष ने कहा—हे सुदर्शन! आप अग्नि स्वरूप हैं। आप ही परम समर्थ सूर्य हैं। आप ही समस्त नक्षत्र-मण्डल के अधिपति चन्द्रमा हैं। जल, पृथ्वी, आकाश, वायु, पञ्च तन्मात्रायें और सम्पूर्ण इन्द्रियों के रूप में आप ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के प्यारे हजार दातों वाले चक्रदेव! मैं आपको साष्टांग प्रणाम करता हूँ। समस्त अस्त्र-शस्त्रों को नष्ट कर देने वाले एवं पृथ्वी के रक्षक, आप इन ब्राह्मण की रक्षा कीजिये। आप ही धर्म हैं, मधुर एवं सत्य वाणी हैं, आप ही समस्त यज्ञों के अधिपति हैं और स्वयं भी हैं तथा यज्ञ के भोक्ता हैं। आप समस्त लोकों के रक्षक एवं सर्वलोक स्वरूप भी हैं। आप परमपुरुष परमात्मा श्रेष्ठ तेज भी हैं।

श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति प्रोक्त, भृगुसंहितोक्त नियमानन्द शब्द नारद परिव्राजक उपनिषद् में भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य का नाम नियमानन्द के रूप में उपलब्ध होता है।

श्रीनिम्बार्कसहस्रनाम में भी नियमानन्द नाम प्राप्त होता है—

नियमानन्द इष्टदः। नैमिषारण्यसंत्राता नैमिषारण्यपावनः। नैमिषारण्य-विख्यातो नैमिषखण्डसंस्तुतः। नियम के आनन्द स्वरूप, अभीष्ट को देने वाले, नैमिषारण्य के सम्यक् रक्षक, नैमिषारण्य को पवित्र करने वाले, नैमिषारण्य में विख्यात् नैमिष खण्ड में सम्यक् स्तुत भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य। इसी प्रकार की पर्यालोचन करने से यह निश्चय होता है कि श्रीनिम्बार्क भगवान् द्वापर के आचार्य हैं।

इनकी माता का नाम जयन्ती देवी और पिता का नाम अरुण ऋषि था। वे दोनों दाक्षिणात्य भृगुवंश के तैलङ्गदेश के ब्राह्मण थे। शास्त्र के विधि-

विधान के द्वारा नियमानन्द का अन्नप्राशन, विद्यारम्भ, उपनयन आदि संस्कार के द्वारा द्विजत्व करके, माता-पिता के दक्षिण भारत को छोड़कर उत्तर भारत प्रस्थान करते समय उनके साथ नियमानन्द भी आ गये। वे उत्तर भारत में आ करके व्रजमण्डल के अन्तर्गत गोवर्द्धन पर्वत के समीप निम्बग्राम (नीम गाँव) में आश्रम बनाकर सुखपूर्वक निवास करने लगें।

एक दिन उनके आश्रम में एक संन्यासी गिरिराज की मनोहारी तलहटी में दिवस के अवसान के समय अतिथि रूप में आये। उस समय ऋषि और उनकी पत्नी ध्यान में मग्न थे। अत: उनकी सेवा करने का अवसर नियमानन्द को प्राप्त हुआ। उनको भोजन कराने की कोई भोज्य वस्तु नहीं थी। अरुणपुत्र श्रीनियमानन्द ने अपने योगबल के द्वारा ही भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य चार प्रकार के अन्न अतिथि के सामने प्रस्तुत किये और भोजन करने के लिये निवेदन किया। सूर्यास्त को देखकर अतिथि ने भोजन को अस्वीकार कर दिया। लेकिन श्रीनियमानन्द ने उनसे कहा—इस समय सूर्यास्त नहीं हुआ है, आप भोजन करें। इस प्रकार कहकर नियमानन्द भगवान् श्रीविष्णु के सुदर्शनचक्र को आवाहन करके अपने आश्रम में बड़े नीम के वृक्ष पर स्थापित कर दिया और चक्र सूर्य की भाँति प्रभायुक्त होकर संयासी के सन्निकट सूर्य के समान प्रकाशित हुआ। संन्यासी ने चक्र को साक्षात् सूर्य मानकर आनन्द के साथ भोजन किया। अरुणपुत्र नियमानन्द ने संन्यासी को भोजन कराकर सुदर्शनचक्र को पुन: प्रत्यावर्तन कर दिया। अतिथि ने देखा कि उस समय चारों ओर अन्धकार है और रात्रि का चौथा अंश बीत गया है। इस अपूर्व घटना के कारण आचार्य का नाम निम्बार्क हुआ।

श्रीमत् औदुम्बराचार्य ने इस अलौकिक घटना को इस प्रकार वर्णन किया है—वन में स्थित तुम्हारे पिता के आश्रम में आये हुए भिक्षा करने वाले भिक्षुक को आश्रम के (सम्प्रदाय के अनुसार) रात्रि में भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिये, इस आशङ्का से भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा-पूजा में लगे हुए सुदर्शनचक्र का आवाहन करके सुन्दर तर्जनी के नाखून से लम्बी भुजाओं के द्वारा आकाश को प्रसारित करके, निम्ब के अग्रभाग पर स्थापित करके, सूर्य की तरह अपने को सूचित कर अस्ताचल गये हुए सूर्य की भावना को हटाकर निश्चित मन से भिक्षुक को भोजन कराया। जिस प्रकार द्रौपदी सहित

पाण्डवों के भोजन कर लेने के बाद दुर्वासा के आने पर और भोजन करने की बात सुनकर द्रौपदी ने भगवान् श्रीकृष्ण की प्रार्थना व चिन्तन किया उससे प्रभावित होकर श्रीभगवान् ने जैसे बटलोई के एक छोटे शाक के टुकड़े से तृप्त होकर, दुर्वासा को तृप्त किया और दुर्वासा के शाप से बचाया, उसी प्रकार नियमानन्द ने अपने पिता के आश्रम में आये हुए संन्यासी को भोजन करने के लिये सुदर्शन का आवाहन करके संन्यासी को भोजन कराकर संन्यासी से बचाना था। ऐसे श्रीनिम्बार्काचार्य को हम नमस्कार करते हैं।

इस सर्वाश्चर्यमयी घटना को देखकर श्रीनियमानन्द को एक असाधारण अवतार महापुरुष स्वरूप जानकर संन्यासी ने उनके श्रीचरणों में साष्टाङ्गदण्डवत् प्रणाम किया। निम्ब (नीम) में अर्क (सूर्य) को धारण करने के कारण निमयानन्द का नाम निम्बार्क (निम्बादिव्य) नाम पड़ा। इस प्रकार आचार्य ऋषि के निम्बार्क नाम का निर्वचन हुआ।

उपर्युक्त संन्यासी कोई दूसरा नहीं था। बल्कि ब्रज की धूलि के अनुरागी ही सर्वलोक पितामह चतुरानन स्वयं ब्रह्मा ही थे। जो ब्रज की धूलि के लोभ से ब्रजमण्डल में कोई भी लता वृक्षादि होने के लिये प्रार्थना किये थे—

तद् भूरि भागयमिह जन्म किमप्यटव्यां।
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।।

(श्रीमद्भा० १०/१४/३४)

श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति ग्रन्थ में भिक्षु शब्द से ब्रह्माजी को ही ग्रहण किया गया है। श्रीभविष्यमहापुराण के प्रतिसर्ग पर्व की अद्भुत घटना का निम्बार्क नाम से उल्लेख पहले कहा गया है। नहीं तो पहले कहे हुए भविष्यपुराण से विरोध होता है।

यहाँ यों समझना चाहिये। जिस प्रकार भगवान् श्रीविष्णु ने स्त्री वेष धारिणी मोहिनी बनकर असुरों को मोहित कर देवताओं को अमृतपान करा करके बाद स्वयं श्रीहरि का रूप ग्रहण किया। उसी प्रकार संन्यासी के वेष में ब्रह्माजी ने नियमानन्द के आश्रम में आकर के निम्बार्क नाम से प्रसिद्ध कराने के लिये तथा उनका योगैश्वर्य—बल-प्रभाव को देखने के लिए सायंकाल में भोजन की याचना की।

कुछ दिनों के बाद भगवान् श्रीहरि के आदेशानुसार एक दिन देवर्षि

नारद निम्बार्क आश्रम में आये। अरुण ऋषि ने देवदर्शन देवर्षि नारद को आते हुए देखा। एकाएक आसन से उठकर उनका विधिवत् पूजन किया। श्रीनारद ने ऋषि-दम्पति के पुत्र श्रीनिम्बार्क भगवान् को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होकर उन ऋषि-दम्पति से कहा कि—आपका ये पुत्र साधारण नहीं है। बल्कि साक्षात् भगवान् श्रीविष्णु का ही सुदर्शनचक्र है। पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश के अनुसार अधर्म का विनाश तथा धर्म की रक्षा के लिये आपके पुत्र के रूप में अवतार लिया, तुम्हारा यह पुत्र अपने नाम से वैष्णव सम्प्रदाय का प्रवर्तन करेगा। हे ब्रह्मन्! लौकिक व्यवहार के अनुसार मैं तुम्हारे पुत्र को शिक्षा-दीक्षा प्रदान करने के लिये यहाँ आया हूँ। ऐसा कहकर देवर्षि नारद ने सम्पूर्ण विद्या के साथ श्रीनिम्बार्क भगवान् को ब्रह्मज्ञान (ब्रह्मविद्या) देकर उसके बाद वहाँ से वे देवलोक चले गये। इस बात का उल्लेख श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र में मिलता है—

सनम्रो नारदद्रष्टा नारदशिष्य इष्टभाक्।
नारदादिष्टसन्धर्त्ता नारदहार्दमर्मवित्।।

श्रीनिम्बार्क विनम्र हैं, नारद के द्रष्टा हैं, नारदजी के शिष्य हैं, इष्ट (अभीष्ट) प्रदान करने वाले हैं। अपने गुरु नारदजी से इष्ट मन्त्र प्राप्त कर सम्यक् धारण करने वाले हैं और नारद भगवान् के हृदय को जानने वाले निम्बार्क भगवान् ने एकबार तीर्थाटन करने की मन में धारणा बनायी। तीर्थाटन करते हुए एकबार भगवान् श्रीविष्णु की पुरी को गये। वहाँ के सज्जनों ने उन्हें श्रीकृष्ण का अवतार मानकरके उनकी पूजा नहीं की थी। लेकिन कुछ अधर्मरत, ईर्ष्यालु जनों ने उनकी बढ़ रही ख्याति से अत्यन्त विचलित होकर उनका वध करने के लिये जब उनके समीप आये, तब श्रीनिम्बार्क भगवान् ने उनके नायक को देखा। उसी समय समीप में स्थित उदुम्बर वृक्ष से एक फल आचार्य चरण के कमलवच्चरणों में गिरकर फल, फूटकर दो भाग में हो गया। उसके अन्दर से दिव्यरूप सर्वाङ्ग सुन्दर पुरुष प्रकट हुआ, जो आगे चलकर औदुम्बराचार्य के नाम से विख्यात् हुआ। इन औदुम्बराचार्य श्रीनिम्बार्काचार्यजी के प्रथम शिष्य के रूप में स्वीकृत हुए। इस अत्यन्त आश्चर्य जनक चमत्कार को देख करके भयभीत होकर अधर्मरत लोगों का समूह अदृश्य हो गया। जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार दूर हो जाता है। औदुम्बराचार्य अपने गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य का स्तवन करते हुए कहते हैं—

एवं सदा ध्येयकलेवरस्त्वं देवर्षिशिष्यत्वमिहैक्षयिष्यन्।
ऐतिह्यनिर्वाहकृते सदाविः श्रुत्यर्थशिक्षी भगवन्गुरोऽभूः।।
आम्नायनिः श्वासवरौ प्रभू वा काश्येश शिष्यत्वमजादिशिक्षौ।
देवर्षिशिष्याय नमो नमस्ते तस्मै नमस्ते श्रुतिरक्षकाय।।
(श्रीनिम्बार्कविक्रान्तिः, श्लो० ४०-४२)

हे भगवन्! हे गुरो! इस प्रकार आपका विग्रह सदैव ध्यान करने योग्य है। अर्थात् आपका कलेवर सबका ध्येय है। इस मर्त्यलोक में सदा शास्त्रमर्यादा के निर्वाह के लिये आपकी वेदार्थ शिक्षा है। देवर्षि नारद जी से श्रुति=वेदोपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्या का लाभ करके आप उनके शिष्य हैं, यह दिखलाने के लिये आप इस धरा-धाम पर आविर्भूत हुए हैं। परमात्मा के निःश्वासरूप वेद का प्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्ण-बलराम ब्रह्मादि देवों के शिक्षादाता हैं, उन दोनों ने भी जैसे सान्दीपनि मुनि का शिष्यत्व ग्रहण किया था, वैसे ही आपने भी सुर तथा असुरों से स्तुत्य 'देवर्षि नारदजी का शिष्यत्व' ग्रहण करके इस जगत् में गुरु-शिष्यभाव की सुदृढ़ रूप में शिक्षा दी है और जगत् को श्रीगुरु की चरण-सेवा का आदर्श दिखलाया है। देवदर्शन देवर्षि नारदजी के शिष्य श्रुतियों की रक्षा करने वालों में सुदर्शनचक्रावतार जगद्गुरुभगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य को पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ।

परमाचार्यैः श्रीकुमारैरस्मद्गुरवे श्रीमन्नारदायोपदिष्ट भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य'' इत्यत्र भूमा प्राणो न भवति। किन्तु श्रीपुरुषोत्तमः कुतः प्राणादुपरि भूम्न उपदेशात्। ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्यम् ।।१/३/८।। भगवान् भाष्यकार श्रीनिम्बार्काचार्य कहते हैं—परमाचार्यः=परमगुरु श्रीकुमारगण=भगवान् सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार हमारे गुरु श्रीमन्नारदजी को उपदेश दिये विशेष रूप में तो जानने योग्य भूमा=परमात्मा ही हैं, श्रुति के इस स्थल पर भूमा प्राणविशिष्ट जीव नहीं है। किन्तु श्री=राधा से युक्त, लोक में और वेद में प्रसिद्ध पुरुषोत्तम=कृष्ण हैं, चूँकि प्राण से बढ़कर भूमा का उपदेश, छान्दोग्योपनिषद् में उल्लेख है।

सम्पूर्ण श्रीनिम्बार्कचरित का संक्षेप में एक ही श्लोक में वर्णन है—

आदौ देवर्षितः प्राप्य मनुराजं ततः श्रीवज्रे यत् तपस्या
सूर्यास्ते निम्बवृक्षे तरणिकरणतो ब्रह्मणे भोजनं च।

पादस्पर्शात् तथौदुम्बरऋषिजननं निम्नगाऽऽविष्कृतिश्च
ब्राह्मे सूत्रे स्ववाक्यार्थरचनकरणं धन्यनिम्बार्कवृत्तम्।।१।।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य की रचनायें—

१. **श्रीब्रह्मसूत्रभाष्य** जो **वेदान्तपारिजातसौरभ** नाम से प्रसिद्ध है।

२. **श्रीवेदान्तकामधेनु** (दशश्लोकी) का प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत और हिन्दी में अति विस्तृत व्याख्यान है।

३. **मन्त्ररहस्यषोडशी**—श्रीकृष्णअष्टादशाक्षरमन्त्रराज का व्याख्यान।

४. **प्रपन्नकल्पवल्ली**—श्रीमन् मुकुन्द शरणागति मन्त्रार्थ व्याख्यारूप ग्रन्थ।

५. **प्रातःस्तवः**—श्रीराधाकृष्ण भक्तिरस परक ग्रन्थ।

६. **श्रीराधाष्टकम्**—श्रीराधा माहात्म्य स्वरूप दर्शन ग्रन्थ।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य के इन सद् ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रपत्ति-चिन्तामणि, सदाचारप्रकाश, श्रीमद्भगवद्गीतावाक्यार्थ, उपनिषद् भाष्य रचनायें थीं। जो अधुना अनुपलब्ध हैं।

श्रीहरिव्यासदेवाचार्य और उनकी रचनाएँ-

श्रीश्रीभट्टपाद के प्रधान शिष्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्य ही थे।

श्रीनाभाजी महोदय ने 'भक्तमाल' नामक ग्रन्थ में इन महापुरुष का निम्न प्रकार से परिचय दिया है—

खेचरि नर की सिष्य निपट अचरज यह आवै।
बिदित बात संसार सन्त मुख कीरति गावै।
बैरागिन के बृन्द रहत सँग स्याम सनेही।
ज्यों जोगेस्वर मध्य मनो सोभित बैदेही।।
श्रीभट्ट चरन रज परस तें सकल सृष्टि जाकों नई।
हरि ब्यास तेज हरि भजन बल देबी कों दीच्छा दई।

भक्तमाल छप्पय ७

अर्थात् श्रीहरिव्यासजी ने भगवद्जन की शक्ति-बल से देवी माँ को भी मन्त्रोपदेश दिया था। अपनी दिव्य गति से आकाश में भ्रमण करने वाली देवी मनुष्य की शिष्या बनीं, यह सुनकर नितान्त ही अचरज होता है। यह बात

१. द्रष्टव्य—भक्तमाल-अङ्क, गीता प्रेस, गोरखपुर, सन् २०१३ ई०

सम्पूर्ण संसार में प्रसिद्ध है तथा सन्तजन अपने मुख से श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी की इस कीर्ति का गुणगान करते हैं। भगवान् श्रीश्यामसुन्दर के श्रीचरणकमलों में अनुराग करने वाले परम स्नेही विरक्त महात्माओं का समूह सदा ही आपके साथ रहता था। विरक्तों के मध्य आपकी ऐसी शोभा होती थी, जैसे योगेश्वरों के मध्य श्रीविदेहराज जनक शोभा पाते थे। अपने सद्गुरु देव श्रीभट्टजी के चरणकमलरज के स्पर्श से श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी के सम्मुख समस्त सृष्टि के लोग सिर झुकाते थे।

आचार्य श्रीहरिव्यासदेवजी का जन्म गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपने श्रीभट्टजी से दीक्षा ली थी।

गुरुजी की आज्ञानुसार इन्होंने 'युगलशतक' ग्रन्थ का संस्कृत-भाष्य लिखा। आचार्यजी 'रसिक सम्प्रदाय' शाखा के प्रवर्तक तथा प्रथम आचार्य थे। श्रीहरिव्यासदेवाचार्य का इतना प्रभाव पड़ा कि श्रीनिम्बार्कसम्प्रदाय की इस शाखा के सन्तों को लोग 'हरिव्यासी' कहने लगे।

जगद्-विख्यात् सन्त महापुरुष श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के ऐसे महान् साधक हुए, जिनसे स्वयं योगमाया माँ दुर्गा ने वैष्णवी दीक्षा ली थी।

श्रीप्रियादासजी ने इसका वर्णन अपने कवित्तों में करते हुए कहा है—

चटथावल गाँव बाग देखि अनुराग भयौ लयौ नित्त नेम करि चाहैं पाक कीजियै।
देवीको स्थान काहू बकरा लै मार्यौ आनि देखत गलानि इहां पानि नहिं पीजियै।
भूख निसि भई भक्ति तेज मिड़ गई नई देह धरि लई आय लखि मति भीजियै।
'करौ जू रसोईं' 'कौन करै कछु और भई' 'सोई मोकों दीजै दान शिष्य करि लीजियै'॥
करी देवी शिष्य सनि नगरको सटकी यों पटकी लै खाट जाकी बड़ौ सरदार है।
चढ़ी मुख बोलै हौं तो भई हरिव्यासजी जौ न दास होहु तौ पै अभी डारौं मार है।
आये सब भृत्य भए मानौ नए तन लए गए दुःख पाप ताप किए भव पार है।
कोऊ दिन रहे नाना भोग सुख लहे एक श्रद्धाकै स्वपच आयो पायौ भक्तिसार है।[१]

अर्थात् एकबार श्रीहरिव्यासदेवाचार्य सन्तों की जमात के साथ घूमते-घूमते चटथावल नामक गाँव में पहुँचे। वहाँ एक सुन्दर बाग देखकर प्रसन्न हुए और वहीं रुककर नित्य क्रिया करके भोजन करने का विचार किया। उस

बाग में एक देवी का मन्दिर था। वहाँ देवी के सम्मुख किसी व्यक्ति ने एक बकरे को लाकर वध किया। यह ग्लानि से भरे हुए दृश्य को देखकर उन्होंने जल तक नहीं पिया। सभी सन्त भूखे रहे। दिन बीत गया, रात्रि आ गयी। उपवास पूर्वक हरि स्मरण से भक्ति का तेज तो बढ़ा परन्तु भागवतापराध के कारण देवी का तेज नष्ट हो गया। अतः देवी भक्त के तेज से एकदम अभिभूत हो गयीं। वह तुरन्त नवीन देह धारणकर आयीं और सभी सन्तों का दर्शन किया तथा कहा—आपलोग रसोई बनाइये। भूखे क्यों बैठे हैं ? श्रीहरिव्यास ने कहा—'अब रसोई कौन करे? पहले करने का विचार तो था, परन्तु यहाँ की स्थिति देखकर मन की दशा और ही हो गयी है। देवी ने कहा—जिसके निमित्त से आप लोगों को ऐसी खिन्नता प्राप्त हुई है, वह देवी मैं ही हूँ। आज मैंने भक्ति का तेज देखा, अतः अब कृपा करके मुझे भी भक्ति का दान दीजिए और अपनीं शिष्या बना लीजिए।

देवी की प्रार्थना सुनकर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने उन्हें शिष्या बनाया। मन्त्रोपदेश के पश्चात् देवी अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक नगर की ओर दौड़ी और वहाँ जाकर नगर-प्रमुख को खाट समेत पृथ्वी पर पटक दी। उसके बाद उसकी छाती पर चढ़कर सूक्ष्म रूप से उसकी जिह्वा पर बैठकर उसके ही मुख से कहने लगीं कि मैं तो श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी की शिष्या हो गयी हूँ। तुम लोग भी शीघ्र उनका शिष्यत्व ग्रहण करो। यदि तुम लोग उनका शिष्यंत्व नहीं स्वीकार करोगे तो मैं अभी सबको मार डालूँगी। देवी का उग्र आदेश सुनकर वे परम हिंसक भी डरकर श्रीहरिव्यासजी के शिष्य हो गये।

स्वर्गीय मथुरा निवासी डॉ० नारायणदत्त शर्माजी के द्वारा 'श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय और उनके कृष्णभक्त हिन्दी कवि' शोध प्रबन्ध में श्रीहरिव्यासदेवाचार्य जी का जीवन-चरित्र विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। उन्होंने बहुत से पुष्ट प्रमाणों के द्वारा निर्धारित किया है कि विक्रम संवत्सर १५२० में आचार्य प्रवर इस धरा-धाम पर विराजमान थे। भारतीय साधकों में अनुसन्धान करने वालों में मूर्धन्य महामहोपाध्याय पण्डित प्रवर श्रीगोपीनाथ कविराजजी ने 'काशी की सरस्वती साधना' शीर्षक पर एक निबन्ध लिखा है कि जैसे—'तबकाते अकबरी' नामक पुस्तक के दूसरे भाग में ४३६ से ४४१ पृष्ठों में उल्लेख मिलता है।

श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के अत्यन्त तेजस्वी प्रसिद्ध

आचार्य थे। इनके नाम के बारे में श्रीअनन्तरामजी ने श्रीमदाचार्यपरम्परास्तोत्र में कहा है—

आस्ते हरिर्यत्र विशेषतो वै त्रिभङ्गमूर्तिर्भगवान् व्रजेशः।
तं श्रीहरिव्यासमुकुण्ठधिष्ण्यं देवं च दिव्यं तमहं व्रजामि।।१।।

मैं उन श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी की शरण में जाता हूँ। वे कैसे हैं ? जिनकी दार्शनिक विचारशक्ति-धारणा बुद्धि कभी कुण्ठित नहीं होती और वे दिव्य देव हैं। जहाँ पर ब्रजवासियों के अत्यन्त प्रिय त्रिभङ्गमूर्ति स्वयं श्रीहरि विराजमान हैं। जिनके हृदय में सामान्य रूप में उनके कर्म को दिखलाते हैं—

ददौ प्रेमभक्तिं स्वकेभ्यो व्रजेशे ददौ कर्मबन्धं निजानां महोजाः।
ददौ बुद्धिमन्तस्तमोज्ञानदीपाद् दयालुः परः श्रीहरिव्यासदेवः।।२।।

अत्यन्त दयालु श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने अपने शिष्यों के अर्थात् श्रीस्वभूरामदेवाचार्य इत्यादि १२ (द्वादश) द्वारा प्रवर्तक आचार्य महापुरुषों को भगवान् श्रीकृष्ण में प्रेम-लक्षणा-भक्ति दिया। अपने भक्तों को कर्मों के बन्धनों से मुक्त कराया और उनकी बुद्धि को शुद्ध किया। ज्ञान के प्रदीप द्वारा उनके अन्दर के अज्ञान अन्धकाररूपी दोषों को दूर किया।।२।।

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य श्रीहरिव्यासदेवजी ने काशी में ही निवास किया था। उनके द्वारा परम वैष्णव प्रतिष्ठापनाचार्य रामार्य पुत्र श्रीकृष्णदेवजी के द्वारा रचित 'नृसिंहपरिचर्या' नामक ग्रन्थ की प्रतिलिपि काशी में ही रहकर। इसकी प्रतिलिपि का समय विक्रम सम्वत्सर १५१५ में एवं सन् १४५८ था। यजुर्वेद की माध्यान्दिनी शाखा के भाष्यकार महोदास अथवा महीधर ने १६४० विक्रम में एवं १५८० ई. में अपने उपयोग के लिये खरीदा था। इस विषय का विवरण उस पुस्तक के आरम्भ में अंकित है। काशी के 'सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय' के ग्रन्थालय में (उस समय गवर्मेन्ट संस्कृत कालेज) सुरक्षा के लिये लाया गया, श्रीमहीधरजी के सम्पूर्णहस्त लिखित संग्रह के निरीक्षण के समय यह बात मुझे ज्ञात हुई।

इससे प्रतीत होता है कि श्रीहरिव्यासदेवजी पन्द्रहवीं शताब्दी में काशी में थे। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में प्रसिद्ध आचार्य श्रीहरिव्यासदेव के काल निर्धारण में आदरणीय कविराजजी के द्वारा यह अन्वेषण अतीव प्रामाणिक आधार है। इससे मालूम होता है कि श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी के द्वारा उस ग्रन्थ

की प्रतिलिपि की गयी थी। उस समय यदि उनकी अवस्था २५ वर्ष अथवा ३० वर्ष रही होगी तो विक्रमसम्वत् १४८५ से १४९० वर्ष तक उनके आविर्भावकाल का अनुमान कर सकते हैं।

डॉ० नारायणदत्त शर्माजी की मान्यता है कि "शाही खाँ" उपनाम सिकन्दर बुतशिकन का शासनकाल १४२७ई. में कश्मीर में था, तब श्रीश्रीभट्टजी विद्यमान थे। वे पद रचना करते थे और कश्मीर के शासक शाही खाँ उनका बहुत सम्मान भी करते थे।

आचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने सुदर्शनचक्रावतार अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीभगवान् निम्बार्काचार्य द्वारा प्रणीत 'दशश्लोकी' की संस्कृत व्याख्या की है। आचार्य ने 'दशश्लोकी' में उद्धृत जीव के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन, उपासना की परम्परा, मूर्तामूर्तादि विश्व के स्वरूप, श्रीभगवच्छरणागति के निर्देश, भक्ति के स्वरूप उपास्य-उपासक आदि की विस्तृत संस्कृत व्याख्या की है।

श्रीमदाचार्य हरिव्यासदेवजी की अन्य कृतियाँ—

१. प्रेमभक्तिविबर्द्धिनी श्रीनिम्बार्काष्टोत्तर शतनाम की संस्कृत टीका।

२. तत्त्वार्थपञ्चकम्। ३. श्रीगोपालपद्धति।

४. महावाणी—ब्रजभाषा का प्रसिद्ध गीतिकाव्य श्रीमद्भगवद्जन पदावली।

अथ अष्टपञ्चाशत्तमः श्रीमदाचार्यपरम्परा नामावलिः—

श्रीहंसः सनकादिश्च नारदश्च ततः परम्। निम्बार्कः श्रीनिवासश्च विश्वाचार्योऽभवत् ततः॥१॥
पुरुषोत्तमः श्रीविलासः स्वरूपोमाधवस्तथा। बलभद्रश्च पद्मश्च श्यामो गोपाल एव च॥२॥
कृपाचार्यो देवाचार्यः सुन्दरः पद्मनाभकः। उपेन्द्रो रामचन्द्रश्च वामनः कृष्ण एव च॥३॥
पद्माकरश्च श्रवणो भूरिभट्टश्च माधवः। श्यामो गोपालभट्टश्च बलभद्रस्ततः परम्॥४॥
गोपीनाथः केशवश्च गाङ्गलः खलु केशवः। श्रीश्रीभट्टो हरिव्यासः स्वभूरामस्ततोऽभवत्॥५॥
कर्णहरः परमानन्दः चिन्तामणिरतः परम्। मोहनश्च जगन्नाथो माखनदेव इत्यसौ॥६॥
हरिदेवो मथुरादेवः श्यामलदासस्ततोऽप्यसौ। हंसदासो हीरादासो मोहनोनयनाभिधः॥७॥
इन्द्रदासोऽभवत् यस्तु काष्ठकौपीनचालकः। वज्राङ्गदासो गोपालो देवदासस्तथैव सः॥८॥
रामदासः सन्तदासो धनंजय इहाभवत्। राधाविहारिदासोऽभूद् द्वारकादास एषकः॥९॥

श्रीमदाचार्यपरम्परा नामावलि—

१. श्रीहंस भगवान्, २. श्रीसनकादि भगवान्, ३. श्रीनारद भगवान्, , ४. श्रीनिम्बार्क भगवान्, ५. श्रीश्रीनिवासाचार्यः, ६. श्रीविश्वाचार्यः, ७. श्री पुरुषोत्तमाचार्यः, ८. श्रीविलासाचार्यः, ९. श्रीस्वरूपाचार्यः, १०. श्रीमाधवाचार्यः, ११. श्रीबलभद्राचार्यः, १२. श्रीपद्माचार्यः, १३. श्रीश्यामाचार्यः, १४. श्रीगोपालाचार्यः, १५. श्रीकृपाचार्यः, १६. श्रीदेवाचार्यः, १७. श्रीसुन्दरभट्टः, १८. श्रीपद्मनाभभट्टः, १९. श्रीउपेन्द्रभट्टः, २०. श्रीरामचन्द्रभट्टः, २१. श्रीवामनभट्टः, २२. श्रीकृष्णभट्टः, २३. श्रीपद्माकरभट्टः, २४. श्रीश्रवणभट्टः, २५. श्रीभरिभट्टः, २६. श्रीमाधवभट्टः, २७. श्रीश्यामभट्टः, २८. श्रीगोपालभट्टः,२९. श्रीबलभद्रभट्टः, ३०. श्रीगोपीनाथभट्टः, ३१. श्रीकेशवभट्टः, ३२. श्रीगांगलभट्टः, ३३. जगद्विजयीश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टः, ३४. श्रीश्रीभट्टः, ३५. श्रीहरिव्यासदेवाचार्यः, ३६. श्रीस्वभूरामदेवाचार्यः, ३७. श्रीकर्णहरदेवाचार्यः, ३८. श्रीपरमानन्ददेवाचार्यः, ३९. श्रीमन्नागाजीचतुरचिन्तामणिदेवाचार्यः, ४०. श्रीमोहनदेवाचार्यः, ४१. श्रीजगन्नाथदेवाचार्यः, ४२. श्रीमाखनदेवाचार्यः, ४३. श्रीहरिदेवाचार्यः, ४४. श्रीमथुरादेवाचार्यः, ४५. श्रीश्यामलदासः, ४६. श्रीहंसदासः, ४७. श्रीहीरादासः, ४८. श्रीमोहनदासः, ४९. श्रीनेनादासः, ५०.काष्ठकौपीनप्रवर्तकः श्रीइन्द्रदासः काठियाबाबा, ५१. श्रीबजरङ्गदासः काठियाबाबा, ५२. श्रीगोपालदासः काठियाबाबा, ५३. श्रीदेवदासः काठियाबाबा, ५४. श्रीरामदासदासः काठियाबाबा, ५५. श्रीसन्तदासः काठियाबाबा, ५६. श्रीधनंजयदासः काठियाबाबा, ५७. सद्गुरुदेव श्रीराधाविहारीदासः काठियाबाबा, ५८. शिष्य-श्रीद्वारकादासः काठियाबाबा।

श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी श्रीमत् उपाचार्य परम्परा के ३५वें आचार्य थे। वे ब्रजभाषा तथा संस्कृत भाषाविद् विद्वान् थे।

यह सद्ग्रन्थ सभी सज्जनों के अनुकूल है और सभी श्रीभगवज्जन पढ़ सकते हैं। चूँकि इसमें विषय-वस्तु निरूपण शैली सरल व सुबोध हिन्दी भाषा में की गयी है। श्रीभगवद्भक्ति व वैराग्यवर्धन व्याख्यान, अपूर्व दार्शनिकता तत्त्व कथायुक्त अन्तर्दृष्टि वेदान्त सिद्धान्त परक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। मुझे यह पूर्ण विश्वास है कि सामान्य पढ़े लिखे सभी जन इसे पढ़कर विशेष लाभान्वित होंगे, तो मैं यह समझूँगा कि मेरा परिश्रम—

विद्वानेन विजानाति विद्वज्जनः परिश्रमम्।
न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसवं यन्त्रणाम्।।

अर्थात् विद्रान् ही विद्वान् पुरुष का परिश्रम जानता है, जिसप्रकार बाँझ स्त्री, माता की प्रसव पीड़ा को नहीं जान सकती।

मैंने श्रीसद्गुरुदेव भगवान् की प्रेरणा से ही तथा यथाधीत व यथामति के अनुसार इस सद्ग्रन्थ की हिन्दी भाषा में सरल व्याख्या करने का प्रयास किया है। इस कार्य में मैं कितना सफल हुआ, यह तो सुविज्ञ पाठकजन ही निर्णय करेंगे।

इस महनीय ग्रन्थ का प्रूफ संशोधन एवं सम्पादन का कार्य डॉ० रञ्जनकुमार शर्मा 'खण्डूड़ी', दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध विभाग, केन्द्रीय तिव्वती अध्ययन विश्वविद्यालय, सारनाथ, वाराणसी ने अपनी अत्यधिक कार्य-व्यस्तता होने पर भी सुव्यवस्थित ढंग से सम्पन्न किया, इसके लिए मैं इनका हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री कुलदीप जैन, भारतीय विद्या संस्थान जगतगंज, वाराणसी का भी आभार प्रकट करता हूँ। इन्होंने अपने संस्थान से इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत किया।

मैं अपने उन समस्त मित्र-बान्धवों के प्रति भी आभार प्रदर्शित करता हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में मेरा यत्किञ्चित भी सहयोग किया है।

आशा है मेरी अल्पज्ञता या अनवधानता के कारण हुई त्रुटियों के लिए विद्वज्जन क्षमा करेंगे।

गच्छतः स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः।।

अन्त में

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता ९/२७)

इस श्रीभगवद्वचनद्वारा इस 'श्रीवृन्दावनचन्द्रिका' को नित्य लीला प्रवेश दार्शनिक श्रेष्ठ ऋषिवर षड्दर्शन व्याख्याता परात्पर श्रीगुरुदेव श्री १००८ स्वामी सन्तदासजी काठियाबाबा महाराज के करकमलों में समर्पित करता हूँ।

तद्यथा—

षड्दर्शनानां व्याख्याता सर्वत्यागि अकिञ्चनः।
परात्परगुरुर्मेऽभूद् जगदेकतपोधनः।।१।।
तस्य श्रीसन्तदासस्य श्रीवैष्णवशिरोमणेः।
करकञ्जेऽर्प्यत इयं श्रीवृन्दावनचन्द्रिका।।२।।
श्रीरामदासपदपद्मपरागभृङ्गश्रीसन्तदाससुकृती जयति प्रकामम्।
श्रीमद्धनञ्जयमुनिस्तु ततस्ततस्तु राधाविहारी गुरुरेष सदा प्रणम्यः।।३।।
तैलाद् रक्षेज्जलाद् रक्षेद् रक्षेच्छिथिलबन्धनात्।
मूर्खहस्ते न दातव्यमेवं वदति पुस्तिका।।

इति शम् !

डॉ० द्वारकादास काठियाबाबा
श्रीश्रीरामदास काठियाबाबा तपोवन आश्रम, (निकट देवदेवेश्वर)
ग्राम—ठाकुर नगर, पो० नैमिषारण्य,
जिला-सीतापुर (उ०प्र०)
पिन-२६१४०२

श्रीश्रीमज्जगद्गुरु भगवान् निम्बार्काचार्यप्रणीत
वेदान्तसारभूत=वेदान्तकामधेनु (दशश्लोकी)

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः॥१॥
अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्।
मुक्तं च बद्धं किल बद्धमुक्तं प्रभेदबाहुल्यमथापि बोध्यम्॥२॥
अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र॥३॥
स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥४॥
अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥५॥
उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे॥६॥
सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता॥७॥
नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात् सन्दृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ॥८॥
कृपाऽस्य दैन्यादि युजि प्रजायते यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा॥९॥
उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधनोरूपमथैतदाप्तर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः॥१०॥

●

परिच्छेदाक्रमः

		पृष्ठ
१.	प्रथमः परिच्छेदः ----------	१-६०
२.	द्वितीयः परिच्छेदः ----------	६१-८६
३.	तृतीयः परिच्छेदः ----------	८७-२३२
४.	चतुर्थः परिच्छेदः ----------	२३३-३२८

श्रीमन्निम्बार्कीयवैष्णवाचार्यश्रीहरिव्यासदेवाचार्यविरचितः

वेदान्तसिद्धान्तरत्नाञ्जलिः

पूर्वार्द्धः

प्रथमः परिच्छेदः

श्रीभट्टपादोत्थितधूलिशेषं नत्वाऽखिलेशं निखिलैरुपास्यम्।
निम्बार्कशास्त्रं श्रवणालसानां बोधाय यत्नं विदधे सुरम्यम्।।१।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिकाव्याख्या

शृणु सखि! कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गने मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः।।
आपोमयं देवमपां पूर्णेनाञ्जलिना यजन्ते।

व्रजसुन्दरियाँ कहती हैं—हे सखि! सुनो, मैंने श्रीनन्दजी के आँगन में एक आश्चर्यमय कौतुक देखा है। तो सखी पूछती है कि वह क्या है? श्रीभगवान् के दर्शन की लालसा से लालायित, परमानन्द से आह्लादित हुई गोपबालिका उत्तर देती है—वेदान्तसिद्धान्त=समस्त उपनिषद् शास्त्रों के प्रतिपाद्य परब्रह्म, वहाँ गायों की धूलियों से सने हुए अङ्ग, बड़े सुकुमार वर्षा-कालीन नव-मेघ के समान दिव्य श्रीविग्रह श्रीनन्दनन्दन-यशोदानन्दन नृत्य कर रहे हैं। श्रीनन्दजी के भवन के प्राङ्गण में वेदान्त के सिद्धान्त परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण खेल रहे हैं। वेदान्त के सिद्धान्त राधावृन्दावनविहारीजी के लिये रत्नों की अञ्जलि है; अत: यह **वेदान्तसिद्धान्तरत्नाञ्जलि** है। जैसे कई जल से भरी हुई अञ्जलि के द्वारा जल के देवता की पूजा (उपासना) करते हैं। जैसे पुष्पाञ्जलि/पुष्पों से भरी हुई अञ्जलि द्वारा देवता का पूजन करते हैं। वैसे ही वेदान्तसिद्धान्त=वेदान्तशास्त्र के प्रतिपाद्य समस्त विषयों से भरी हुई अञ्जलि। राधाकृष्ण के लिये यह सद्ग्रन्थ रत्न है, उनके युगल स्वरूप के ज्ञान के लिये है।

हमारे पूर्वाचार्य पूज्यपाद ग्रन्थकार श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही लिखते हैं—

वेदान्तो नाम श्रुतिशिरोभागब्रह्मसूत्रगीतादीनि च।

अर्थात् वेदों का अन्त (अन्तिम भाग) उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता

और चकार से श्रीमद्भागवत—ये ही सद्ग्रन्थ वेदान्त नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चारों सद्ग्रन्थों को प्रस्थानचतुष्टय शब्द से बताया जाता है।

वेदों का अन्त अर्थात् सार है उपनिषद् और उपनिषदों का सार है—श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत। उपनिषद् रूप गौओं का अमृतमय दुग्ध श्रीमद्भगवद्गीता को कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

और श्रीमद्भागवत समस्त वेदोपनिषदों का सार है—

सर्ववेदेतिहासानां सारं सर्ववेदान्तसारं हि भागवतम्।

और श्रुति-स्मृतियों के अज्ञात् अर्थ का भली-भाँति ज्ञान कराने के लिये और विद्वानों से सुनिश्चित एक न्यायतर्कपूर्ण ब्रह्मसूत्रों की रचना महर्षि बादरायण ने की, जिसे विद्वान् वेदान्तदर्शन कहते हैं।

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।।
श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ।।

(भा० १०/२१/५,१०/२३/२२)

कृष्णास्यनेत्रनिरताञ्च सदा किशोरीं
श्रीहारनूपुरयुतां सततं नवीनाम्।
वामे करे खलु समुद्गकमेव दक्षे
ताम्बूलमास्यमधुरं ननु धारयन्तीम्।।
नीलाम्बरान्विततनुञ्च सुवर्णभूषां
देवीमथापि वृषभानुसुतां मनोज्ञाम्।

राधामगाधहृदयां सदयां विनम्रो
वन्दे मुहुर्मुहुरहो त्रिजगत्प्रसूं ताम्।।
श्रीहंसञ्च कुमारकान् मुनिवरं श्रीनारदं सन्ततं
निम्बार्काध्वप्रवर्तकं हि युगलध्यानप्रसक्तात्मानम्।
श्रीनिम्बार्कमुनीश्वरं निजगुरुं तत्सम्प्रदायागतं
तं वन्दे बहुमुक्तितो मुहुरहो राधाविहार्याह्वयम्।।[1]

उपर्युक्त नित्य पठनीय माङ्गलिक चतुश्श्लोकी में माधुर्य रस को पुष्ट करने वाली झाँकी देखिये; कितना सुन्दर है—अखिल विश्वब्रह्माण्डनायक प्रपन्न-परिपालक वेदान्तवेद्य मुमुक्षुमृग्य जगज्जन्मादिकारण व्रजवासियों के अत्यन्त प्रिय भगवान् श्रीकृष्ण गोचारण करके सायंकाल गोपबालकों के साथ वृन्दावन में प्रवेश कर रहे हैं। उनके सिर पर मोरपंख का मुकुट शोभा पा रहा है। जैसे कोई रङ्गमञ्च पर अभिनय करता है, वैसे ही उनका श्रेष्ठ नट-सा अतिसुन्दर दिव्य वेष है। कानों पर कनेर के पीले-पीले पुष्प हैं। शरीर पर चमकता हुआ पीताम्बर है। ग्रीवा में पञ्च प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से बनी वैजयन्ती-माला शोभा पा रही है। बाँसुरी के छिद्रों को वे अपने अधरामृत से भर रहे हैं। उनके पीछे-पीछे व्रजवासी ग्वाल-बाल उनके लोकपावन यशों का गान कर रहे हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दचिह्नों से वृन्दावन रमणीय बन गया है।

वर्षाकालीन नील मेघ के समान सुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण का श्याम श्रीविग्रह है। उस पर तप्त सुवर्ण के समान पीताम्बर चमक रहा है। गले में वनमाला शोभा पा रही है। मस्तक पर मोरपंख का मुकुट शोभायमान है। प्रत्येक अङ्ग में रङ्गीन अप्राकृत धातुओं से निर्मित आभूषण विभूषित हैं, नटवर दिव्य वेष है। एक हाथ अपने सखा गोपबालक के कन्धे पर रखे हुए हैं और दूसरे हाथ में कमल का फूल नचा रहे हैं। कानों में कमल के कुण्डल हैं। कपोलों पर घुँघराली अलकें (जुल्फें, बाल) लटक रही हैं और मुखारविन्द मन्द-मन्द मुस्कान की रेखा से प्रफुल्लित हो रहा है। हम ऐसे परब्रह्म परमात्मा

---

१. द्रष्टव्य—मङ्गलाचरणम्, श्रीमद्भागवते निम्बार्कवेदान्तस्यसमन्वयः (हिन्दीभाषानुवादसहितः), डॉ० स्वामी द्वारकादास काठियाबाबा, सुखचर काठियाबाबा आश्रम, सुखचर, जि० उत्तर, २४ परगना, पश्चिम बंगाल।

श्रीकृष्ण का ध्यान करते हैं।

भगवती जगज्जननी माँ राधिका की सदा किशोरी अवस्था (षोडशी) है। वे विविध रत्नों द्वारा निर्मित तप्त सुवर्ण के समान हमेशा नये हार, नूपुर, कुण्डल, किङ्किणी (करधनी) आदि आभूषणों से अलङ्कृत हैं। बाँयें हाथ में पानदानी और दाहिने हाथ में मुख-मधुर दिव्य ताम्बूल लेकर भगवान् श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र और कमलनयनों की ओर निहार रही हैं।

उनके शरीर पर चमकता हुआ नीलाम्बर है। उनका शरीर स्वर्ण के आभूषणों से सुशोभित है। उनका अगाध हृदय दया-कृपा-अनुग्रह से भरा है। वे अपने भक्तजनों पर अनुकम्पा करने के लिये हमेशा तत्पर रहती हैं। वे तीनों लोकों की जननी देवी, फिर भी वृषभानु की सुन्दरी कन्या, अहोभाग्य है। हम सिर झुकाकर ऐसी देवी जगदम्बा राधा की बार-बार वन्दना करते हैं।

व्रज-चौरासी-कोश मण्डलान्तर्गत रावल में श्रीजी प्रकट होकर विहारीजी के वक्षःस्थल पर निवास करती हैं—**श्रियो निवासो यस्योरः, वक्षः श्रियैकरमणम्**[1] श्रीकृष्ण जगत्पिता और श्रीराधिका जगन्माता हैं। श्रीनारदपञ्चरात्र २/६/७। श्रीभगवान् के ये चारों—नाम, रूप, लीला और धाम; नित्य, अप्राकृत, अलौकिक, दिव्य, कमनीय, परिशुद्ध और स्वाभाविक जानना चाहिये। ठाकुरजी की छाती पर श्रीजी का निवास है; चूँकि वही एकमात्र उनका रमण करने का स्थान है।

श्रीहंस (नारायण) भगवान् को, सनकादि कुमारों को, मुनियों में श्रेष्ठ श्रीनारदजी को, सम्यक् विस्तारित निम्बार्क सम्प्रदाय की माधुर्य रसोपासना के प्रवर्तक मुनीश्वर श्रीनिम्बार्क भगवान् को और राधाकृष्ण युगलोपासना ध्यान में सतत आसक्त चित्त निम्बार्कीय वैष्णवाचार्य ब्रह्मविद्या-प्रदाता सद्गुरुदेव परमाराध्य श्री १००८ स्वामी राधाविहारीदासजी काठियाबाबा महाराज को हम सदा मन, वाणी और सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं।

ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण करते हुए कहते हैं—सबके ईश्वर (सबके मालिक) को, सबके उपास्य को और गुरु श्रीभट्टजी महाराज को नमन कर निम्बार्कशास्त्र को सुनने में आलसी व्यक्तियों के ज्ञान के लिये एक सुन्दर रमणीय यत्न (वेदान्तसिद्धान्तरत्नाञ्जलिः की रचना) कर रहा हूँ॥

---

१. द्रष्टव्य—श्रीमद्भागवत १/११/२६, १०/२९/३२।

इस मृत्युरूप संसारसागर से जीवों का उद्धार करने वाले वही सर्वोपास्य भगवान् श्रीपुरुषोत्तम ही एकमात्र हैं। यह श्रीमद्भागवत का अटल सिद्धान्त है—

वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः।।

(भा०१०/५१/२०)

निम्बार्कशास्त्र कहने का उनका अभिप्राय यह है कि निम्बाय=संसाराय, अर्कः=सूर्यः, ज्योतिः=तेजः, ज्योतिर्ब्रह्मैव। अर्थात् यह संसार कैसा है? जैसाकि नीम की छाल और पत्ते कड़वे होते हैं, वैसे देखा जाय यह संसार भी ऐसा ही है। जैसे—सुख-दुःख, जय-पराजय इत्यादि। उसके लिये अर्क यानी ज्योति (तेज) चूँकि जीव इस अज्ञानरूप अन्धेरे में पड़े हैं। ज्योति ब्रह्म ही है। निम्बार्कशास्त्र अर्थात् ब्रह्मविद्या है; जिसमें चित्, अचित् और ब्रह्म—इन तीन तत्त्वों का सम्यक् वर्णन है। वह निम्बार्कशास्त्र (ब्रह्मविद्या) है।

इह खलु सकललोकमलापनुत्तये अवनिसुरवरैः प्रार्थितस्य ब्रह्मणो हृदयादवतीर्णः सुदर्शनो निम्बादित्यापरनामा भगवानतिदयालुः परमकारुणिकः तपोऽर्थे तेभ्यो नैमिशप्रदेशं निर्दिश्य दानवबलं च हत्वा निखिलसात्त्वतजनानुद्धीषुर्वेदभाष्याद्यनेकग्रन्थान् कृत्वा वेदान्तसारभूतां दशश्लोकीमपि चकार। तत्र वेदान्तो नाम श्रुतिशिरोभागब्रह्मसूत्रगीतादीनि च। सर्वेष्वपि तन्त्रेष्वधिकारी विषयसम्बन्धः प्रयोजनम् इत्यनुबन्धचतुष्टयमपेक्षितम्।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—इस मृत्युरूप संसार में पड़े हुए निश्चय ही समस्त लोकों के पाप दूर करने के लिए, ब्राह्मणों की प्रार्थना करने पर, उनकी प्रार्थना से ब्रह्माजी के हृदय से नैमिषारण्यविग्रह में प्रकट हुए श्रीहरि करकञ्जसम्पुटविराजित सुदर्शन जिनका अन्य नाम निम्बादित्य (निम्बार्क) भगवान् अतिदयालु करुणामय अपने जनों को तपस्या करवाने के लिये नैमिश[1] प्रदेश को निर्देश कर, दानवों के बल को नष्टकर समस्त भक्तजनों के उद्धार करने के इच्छुक वेद-भाष्य आदि

१. एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते। यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभः।।
इत्युक्त्वा सूर्य सङ्काशं चक्रं सृष्ट्वा मनोमयम्। प्रणिपत्य महादेवं विससर्ज पितामहः।।
प्रयुयुस्तस्य चक्रस्य यत्र नेमिव्यशीर्यत। तद् वनं तेन विख्यातं नैमिशं मुनिपूजितम्।।
—*वायपुराणम्*

अनेक सद्ग्रन्थों का निर्माण कर वेदान्तसाररूप=वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी की भी रचना की है। सभी शास्त्रों में भी—१. अधिकारी, २.विषय, ३.सम्बन्ध तथा ४.प्रयोजन। इस प्रकार अनुबन्धचतुष्टय अपेक्षित होते हैं। प्रवृत्ति का प्रयोजक-ज्ञान उत्पन्न करने वाला होने के कारण अनुबन्ध कहा गया है। अत: १. अधिकारी, २. विषय, ३. सम्बन्ध तथा ४.प्रयोजन—ये चार प्रकार के अनुबन्ध कहे गये हैं। सभी विद्वानों द्वारा सभी प्रकार के शास्त्रों के प्रारम्भ में ही अनुबन्धचतुष्टय के उपदिष्ट हैं। चूँकि अनुबन्धचतुष्टय के मालूम न होने पर उस शास्त्र की ज्ञानलाभ में प्रवृत्ति नहीं होगी; इसलिये शास्त्र के प्रारम्भ में अनुबन्धचतुष्टय करना चाहिये। उसमें उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवतादि को वेदान्त कहते हैं। चूँकि श्रीमद्भागवतशास्त्र उपनिषद् प्रमाण ग्रन्थ है—**अखिलश्रुतिसारमित्युपक्रम्यान्ते च सर्ववेदान्तासारं हि श्रीभागवतमिष्यते। सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्। यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम्।** इत्यादि श्रुतियाँ श्रीमद्भागवत में हैं।

तत्र वेदान्तशास्त्रीयानुबन्धचतुष्टयं यथा—नित्यो स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यध्ययनविधिः। ब्राह्मणो निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति वचनात्। काम्यत्वे हि वेदस्यान्योन्याश्रयता स्यात्। अतः सर्वोऽपि नित्यविधिबलादेव षडङ्गसहितं वेदमधीत्यार्थं जानाति तत्र कश्चित् पुण्यपुञ्जवशान्निरतिशयपरमपुरुषार्थप्रेप्सायां तदुपायं वेदेऽन्विष्य इदमवगच्छति शान्तो दान्तस्तितिक्षुरुपरतः, आत्मन्येवात्मानं पश्येत्। तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते (छा०उ०८/१/६)। **परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्। नास्त्यकृतः कृतेन। स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** (मु०उ०२/१/१२)।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

(श्वे०उ०नि०ष०अ०२३)

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—उसमें वेदान्तशास्त्रीय अनुबन्धचतुष्टय जैसे नित्य नियम से प्रतिदिन श्रीभगवान् के स्वरूप, गुण, माहात्म्य, लीला, विभूति-प्रतिपादिक रहस्य आदि को पढ़ना, अभ्यास करना स्वाध्याय कहलाता है। शब्दराशियों के समूह को अर्थतः जानकर बाँचना, अर्थग्रहण करते हुए

अध्ययन करना एवं पढ़ना चाहिये। यह अध्ययन की विधि है। ब्राह्मण को निष्कारण १.शिक्षा, २.कल्प, ३.व्याकरण, ४.निरुक्त, ५.छन्द, ६.ज्योतिष सहित वेदों का अध्ययन करना चाहिये और धर्म को जानना चाहिये। ऐसा शास्त्रवचन है। ब्राह्मणों का यही निष्काम धर्म है कि वे निःस्वार्थ भाव से छः अङ्गों सहित नित्य वेदों का अध्ययन करें, उनके रहस्यों को जानें। प्रतिदिन सन्ध्योपासना करें। इच्छाविषयीभूत होने से वेद की परस्पर आश्रयता होती है। जैसे स्वर्गेच्छा से यज्ञ करें। यह भोग-विधायक वाक्य है। इसलिये सब ही नित्य विधि के बल से ही ऊपर बताये गये छः अङ्गों के साथ वेदाध्ययन कर अर्थ को जानता है। उसमें कोई पुण्यपुञ्जवश से निरतिशय परम पुरुषार्थ की उत्कट इच्छा (आकांक्षा) रखता है। अर्थात् श्रीभगवान् की प्राप्ति की इच्छा का उदय उसके मन में होता है। श्रीभगवान् की प्राप्ति का साधन वेद में अन्वेषण कर वह यह अवगत होता है—दान्त=जितेन्द्रिय, तितिक्षु=सहनशील, उपरत=वैराग्यवान् और शान्त=श्रीभगवन्निष्ठबुद्धि होकर। अपने जीवात्मा में ही परमात्मा को देखें। चूँकि आत्मा दो प्रकार की है—जीवात्मा और परमात्मा। जैसेकि श्रीपरमात्मा ने गीताजी (१०/२०) में कहा है—हे गुडाकेश! मैं समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा हूँ। राजसेवादि कर्म से अर्जित लोक जैसा नाशवान, होता है इस प्रकार ही पुण्य से सम्पादित लोक पराधीन उपभोग-क्षय हो जाता है। पुण्य-कर्म से सम्पादित ऐहिक और आमुष्मिक समस्त सकाम कर्म फलों की परीक्षा करके क्षयिष्णु रूप से निश्चय कर=जानकर ही वेदान्तशास्त्र का अधिकारी, मुमुक्षु वैराग्य को प्राप्त होता है। अकृत अर्थात् नित्य मोक्ष, कृत=कर्म से नहीं सिद्ध होता है। उस वेदान्तवेद्य परब्रह्म के स्वरूप, गुण, शक्ति आदि विषयक विशेष ज्ञान के लिये साक्षात् अनुभव के लिए मुमुक्षु सद्गुरुदेव के समीप जाय। समिद् उपलक्षित अपने हाथ में पूजन का अर्हण=उपकरण लेकर जाय। इत्यादि शास्त्रवचनों के अनुसार श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण लेकर गुरुकुल में उनके समीप रहकर भागवत धर्मों को सीखे। गुरु का लक्षण बताते हैं—श्रोत्रिय अर्थात् वेदान्तार्थवगाही ब्रह्मस्वरूप गुणादि अनुभव-परिपूर्ण मनस्क शिष्यसंशयछेतृत्व एवं ब्रह्म में रुचि=उत्पादकत्व अन्यथा श्रोतिय, ब्रह्मनिष्ठ इन दोनों विशेषण की अनुपपत्ति होगी। जिसके इष्टदेव तथा गुरुदेव के प्रति परा=प्रेमलक्षणा भक्ति है, उसे उपदेश किये गये अर्थ को महात्मा लोग उसके निकट श्रुति का प्रकाश करते हैं।

दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्।
अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत्।।
(भा०११/१८/३८)

मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्।
अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ।।
(भा०११/१०/५-६)

इत्यादि श्रुतिस्मृत्युक्तसाधनचतुष्टयसम्पन्नोऽधिकारी। साधनचतुष्टयं च शमदमादिसम्पत् नित्यानित्यवस्तुविवेकः। इहामुत्रार्थफलभोगविरागः, हरौ रतिः चेति, शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धा च शमादयः।शमस्तावद् बुद्धेः श्रीभगवन्निष्ठता। शमो मन्निष्ठताबुद्धेरिति श्रीभगवदुक्तेः (भा०११/१९/३६)। दमो बाह्येन्द्रियः संयमः। तितिक्षुः क्षमावान् उपरतिः विषयेभ्य उपरामः तद्वानुपरतः स्वरूपतो गुणतश्च सपरिकरो श्रीहरिरेव नित्योऽन्य-दनित्यमिति विवेकवान् यथेह कर्मचितो लोको वनितादि क्षीयते=प्रणश्यति तथाऽमुत्र स्वर्ग उरवश्यमृतादिरपि नश्यत्येवेत्येवं विचार्य ब्राह्मणो जिज्ञा-सितमद्धर्मः श्रद्धावान् तथा सर्वकामेषु जातनिर्वेदः सन्नर्थजिज्ञासुः गुरुभक्तिमान् ब्रह्माभिज्ञं गुरुमुपव्रजेदिति श्रुतिस्मृत्योर्निगलितोऽर्थः।

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषानन्तकल्याणगुणगणाकरः श्रीकृष्णोऽस्य वेदान्तशास्त्रस्य विषयः। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति (क०उ०१/२/१५)। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (गी०१५/१५)। इत्यादिश्रुतिस्मृतेश्च।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—संसार के विषयों के भोग का फल दुःख ही दुःख है, ऐसा जानकर ही विवेकी पुरुष विषय-भोगों से सर्वथा जातनिर्वेद=उत्पन्न वैराग्यवान्, आत्मवान्=आत्मा, मैं परमात्मा समस्त अभीष्ट प्रदान करने वाला ध्येय रूप से हूँ, जिससे वह मुमुक्ष उसी प्रकार से मेरी प्राप्ति के लिये सारी चिन्ता को छोड़कर सद्गुरु का सम्यक् आश्रय ले। मुमुक्षु अधिकारी जानकारी के लिए मननशील गुरु के समीप जाय। जो मेरे स्वरूप को भली-भाँति जानता है, मेरे में ही जिसका मन है—ऐसा ही मन्मना मत्स्वरूपवित् शान्त सद्गुरु की मुमुक्षु उपासना करे, सेवा करे। मैं

सर्वभूतात्मा परमात्मा गुरु की सेवा-शुश्रूषा से ही प्रसन्न होता हूँ (भा०१०/८०/३४), स्वयं मान न चाहे, पराये उत्कर्ष को देखकर उससे ईर्ष्या द्वेष न करे, दक्ष=ज्ञातव्य शास्त्रीय कर्तव्य में जानने के लिए और करने के लिए समर्थ, शरीर और इन्द्रियों में उनके सम्बन्धियों में ममता को छोड़कर गुरु में अचला भक्ति—प्रीति—श्रद्धा—निष्ठा रखें। गुरु की सेवा निष्कपट भाव से करे, सेवा में गुरु को मनुष्य समझकर उनके गुणों में दोष न निकाले। जल्दीबाजी न करे। गुण में दोष न देखे, अर्थात् मनुष्यबुद्धि से गुरु का दोषदर्शन न करे। गुरु को मेरा ही स्वरूप विशेष रूप से जानना। कभी भी गुरु की अवज्ञा, अवहेलना व अनादर न करना। मोक्ष चाहने वाला तत्त्वज्ञानार्थी व्यक्ति वृथा वाणी-प्रयोग न करे।

इस प्रकार श्रुति-स्मृति में बताये गये साधनचतुष्टय-सम्पन्न मुमुक्षु ही इस वेदान्तशास्त्र का अधिकारी है। ये चार साधन शम, दम आदि सम्पत्, नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, यह मनुष्यलोक और स्वर्गलोक के प्रयोजन फल-भोग में अनुराग बिल्कुल न करना, भगवान् श्रीहरि में अनवद्य अनुराग करना। शम, दम, उपरति, तितिक्षा और श्रद्धा। शम उसे कहते हैं—बुद्धि की श्रीभगवान् में स्थिरता। दम उसे कहते हैं—बहिः इन्द्रियों को विषयों से हटाकर रोकना, दम। अर्थात् इन्द्रियों का संयम करना दम कहलाता है। तितिक्षु=सहनशील। उपरति=विषयों से उपराम अर्थात् वैराग्यवान्। स्वरूपतः गुणतः सपरिकर अर्थात् भगवान् श्रीहरि के स्वरूप और गुण एवं श्रीहरि के पार्षद आदि—ये निश्चय ही नित्य हैं, अन्य अनित्य हैं। ऐसा विचारवान जैसे इस संसार में कर्म का फल धन-सम्पत्ति, देह-गेह-स्त्री-पुत्रादि-क्षयी हैं, नाशवान हैं, अनित्य हैं। उसी प्रकार स्वर्ग के उर्वशी, अमृतादि भी नष्ट ही होते हैं। इस प्रकार विचार कर मुमुक्षु मेरे धर्म में निष्ठावान, श्रद्धावान तथा सारी कामनाओं में उत्पन्न वैराग्यवान होकर तत्त्वजिज्ञासु गुरुभक्तिमान् सर्ववित् गुरु की ही शरण में जाय, यह श्रुति और स्मृति का निर्गलित अर्थ है।

माया के गुण-दोषों से सर्वथा रहित, स्वभावतः ही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पाँचों दोषों से शून्य, अनन्त-असंख्य-अप्राकृत-कल्याणात्मक दिव्य गुणों की एकमात्र निधि पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण इस वेदान्तशास्त्र के विषय हैं। ऋग् आदि वेद सकल प्राप्य भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप का आमनन=साक्षात् अथवा परम्परा से प्रतिपादन करते हैं। इन्द्र,

अग्नि, सूर्य, मित्रावरुण, वायु आदि प्रतिपादकों के द्वारा भी वेदों से हे अर्जुन! मैं ही वेद्य=जानने योग्य हूँ। कारण मैं सर्वात्मक होने से सर्वदेवमय हूँ। वेद में, रामायण में, महाभारत में तथा आदि-मध्य और अन्त में सर्वत्र भगवान् श्रीहरि के स्वरूप, गुणादि का वर्णन है।

कृष्णप्राप्तिरेव प्रयोजनं, वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः। कृष्णप्राप्तौ चत्वारि प्रतिबन्धकानि तानि च विषयभोगवासना प्रमाणगतसम्भावना प्रमेयगतासम्भावना विपरीतभावनाख्यानि। तत्र श्रवणाङ्गभूताः शमादयो विषयाशक्तेर्निवर्तकाः श्रवणं प्रमाणगतासम्भावनायाः प्रमेयगतासम्भावनाया मननं विपरीतभावनायाश्च निदिध्यासनं निवर्त्तकमिति। अतः श्रवणादिसम्पादनेन असम्भावनादिप्रतिबन्धपरिक्षयाय चतुर्लक्षणी ब्रह्ममीमांसा समारम्भि भगवता श्रीकृष्णद्वैपायनेन। तस्माच्छमादिसहितेन मुमुक्षुणा गुरुमुपसृत्य श्रीभगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धासम्भावनादिनिवृत्तये चतुर्लक्षणी मीमांसागीतोपनिषद्भिरात्मा। नात्मापरमात्माविचारः कर्तव्यः। एवं निरूपणीयपदार्थत्रये जीवात्मनिरूपणे शास्त्रसंस्कारवर्जितं विचारविरहितं प्रत्यक्षमेव प्रमाणमाश्रित्य चेतयमानी देह एव आत्मेति वदन्ति तथैव भूतचतुष्टयमात्रं तत्त्ववादिनो लोकायातिकाश्च।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति ही प्रयोजन है, शास्त्र के साथ वाच्य-वाचकरूप से वही भगवान् परब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है। श्रीकृष्ण की प्राप्ति में चार प्रतिबन्धक हैं। वे ये हैं—पहला विषयों में भोग की वासना, दूसरा प्रामाणिक शास्त्र आदि में परिपक्व भावना नहीं, तीसरा प्रमेय जो श्रीकृष्ण उसमें भावना नहीं, चौथा सब में उल्टी भावना। उसमें वेदान्तशास्त्र को सुनने, अङ्गरूप शम-दमादि विषयाशक्तिनिवर्तक प्रमाणगत असम्भावना का, प्रमेयगत असम्भावना का मनन और विपरीत भावना का निदिध्यासन निरन्तर ध्यान निवर्तक है। अतः श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन-सम्पादन द्वारा असम्भावनादि जो श्रीकृष्ण की प्राप्ति में प्रतिबन्धक हैं, उनके समूल नाश के लिये भगवान् बादरायण श्रीवेदव्यासजी ने चतुर्लक्षणी शारीरक ब्रह्ममीमांसा का प्रारम्भ करते हुए शम-दम आदि के साथ मुमुक्षु गुरु के समीप जाकर श्रीभगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक असम्भावना आदि की निवृत्ति के लिये चतुर्लक्षणी मीमांसा ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता तथा उपनिषदों से आत्मा-अनात्मा-परमात्मा तत्त्वत्रय का विचार करें। श्रीमद्भगवद्गीता-

स्मृतिप्रस्थान, ब्रह्मसूत्र न्यायप्रस्थान और उपनिषदों को श्रुतिप्रस्थान कहते हैं। इनमें उपनिषद् श्रवणात्मक, ब्रह्मसूत्र मननात्मक और श्रीमद्भगवद्गीता निदिध्यासनात्मक है। ये तीनों प्रस्थानत्रयी की सञ्ज्ञा से प्रसिद्ध हैं। विद्वान् इन्हें प्रस्थानत्रयी कहते हैं। चिद्, अचिद् एवं ब्रह्मभेद से तत्त्व तीन प्रकार के हैं। जैसे—चिद्=भोक्ता जीव, अचिद्=जड प्रकृति भोग्य, और ब्रह्म=प्रेरक। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीताशास्त्र में, ये तीन तत्त्व वर्णित हैं। इसे तत्त्वत्रय कहते हैं।

इस प्रकार ये तीन पदार्थ निरूपण करने योग्य हैं। जीव के स्वरूप-निरूपण करने में सबसे पहले जिनको सद् शास्त्र का संस्कार नहीं है, वे विचार से सर्वथा रहित प्रत्यक्ष प्रमाण का ही आश्रित होकर क्रिया में चेष्टा करने वाले शरीर को आत्मा ऐसा बताते हैं। उनका ऐसा कहना अति तुच्छ है; चूँकि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच तत्त्वों से बना यह देह पाँच भौतिक, क्षणभङ्गुर और नाशवान् हैं। काल, कर्म और गुण के अधीन है। लौकिक आचरण करने वाले ये चार भूत=अग्नि, जल, पृथिवी और वायुमात्र को ही तत्त्व बताने वाले हैं। वे सर्वथा असद् हैं, कपोलकल्पित हैं। आत्मा न तो कभी जन्म लेती है, शरीर ही जन्म लेता है और न आत्मा मरती है, शरीर ही मरता है। वह न तो बढ़ती है और न घटती है। देह में ही बचपन, कुमार, जवान और बुढ़ापा आता है। १.जन्म, २.अस्तित्व की अनुभूति, ३.वृद्धि, ४.परिणाम, ५.क्षण और ६.विनाश—ये छः भाव-विकार देह में ही देखे जाते हैं। आत्मा तो अजन्मा है, नित्य है और अविनाशी है। अतः देह को आत्मा नहीं कह सकते।

अन्ये तु सत्यपि शरीरे चक्षुरादिभिर्विना रूपादिज्ञानाभावादिन्द्रियाण्येव चेतनानीत्याहुः। न चैकस्मिन् शरीरे बहूनामिन्द्रियाणां चेतनत्वे य एवाहं रूपमद्राक्षं स एवेदानीं श्रृणोमीति प्रत्यभिज्ञा न स्यात्। रूपादिषु भोक्तृत्वं युगपदेव स्यान्न क्रमेणेति वाच्यं एकशरीराश्रयत्वस्यैव प्रत्यभिज्ञा ज्ञानक्रम-भोगयोर्निमित्तत्वात् न। वरविवाहन्यायेन गुणप्रधानाभावात्। अन्ये च स्वप्ने चक्षुराद्यभावेऽपि केवले मनसि विज्ञानाश्रयत्वमहं प्रत्ययावलम्बत्वं चोपलभ्यते, अतश्चक्षुरादिकर्णकं शरीराधारं मन एवात्मेति मन्यन्ते।

विज्ञानवादिनस्तु क्षणिकविज्ञानव्यतिरिक्तवस्तुनोऽभावात्, क्षणिक-विज्ञानस्यैवात्मत्वमाहुः, प्रत्यभिज्ञा तु ज्वालायामिव सन्ततविज्ञानोदयसादृश्या-

द्युपपद्यते। माध्यमिकास्तु सुषुप्तेर्विज्ञानस्याप्यदर्शनात् शून्यमेवात्मतत्त्वमिति वदन्ति। न च सुषुप्तेर्विज्ञानप्रवाहविषयावभासप्रसङ्गन्निरालम्बनज्ञानायोगात्। काणादास्तु देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तो नवविशेषगुणाश्रयो विभुरात्मेत्याहुः। मायावादिनस्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावप्रत्यक्चैतन्यमेवात्मेति वदन्ति। अन्ये तु शून्यादिव्यतिरिक्तस्थायिनं संसारिणं भोक्तारमात्मानमाहुः। औपनिषदास्तु ज्ञानानन्दस्वरूपोऽणुरात्मा; स च श्रीभगवदनुग्रहादानन्त्याय कल्पते इति वदन्ति। तत्रोपनिषत्पक्षे जीवात्मस्वरूपं निरूपयति श्रीभगवानाचार्यः, ज्ञानस्वरूपमित्यादिना—

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः।।१।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—ज्ञानं स्वस्मै स्वयं प्रकाशमानं वस्तु, तदेव स्वरूपं यस्य तं ज्ञानस्वरूप-मित्यर्थः। अन्य लोगों का कहना है कि शरीर रहते हुए भी नेत्रादि के बिना रूपादि का ज्ञान नहीं होता है। वे कहते हैं कि इन्द्रियाँ ही चेतन हैं। एक शरीर में बहुत इन्द्रियाँ चेतन हैं, ऐसी शंका न करें। मैं रूप को देखा था। वही मैं इस समय सुन रहा हूँ। तो रूप-रसादि में भोक्तापन तथा 'सोऽहं रूपमपश्यं देवदत्तः' ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। क्रम के विना एक काल में होनी चाहिये। समझें कि एक शरीर के आश्रय की ही प्रत्यभिज्ञा है। ज्ञान, क्रम और भोग का निमित्त नहीं है, जैसे कि वर-विवाह में कोई गुण प्रधान नहीं होता। वैसे ही यहाँ प्रकृत में वर-विवाह न्याय से जानना चाहिये। स्वप्नावस्था में चक्षु आदि इन्द्रियाँ, लय हो जाने पर केवल मन में विज्ञानाश्रय अहंप्रत्ययावलम्बनत्व की उपलब्धि होती है। अतः चक्षु आदि के कारण शरीर का आधार मन ही आत्मा है—ऐसा मानते हैं। विज्ञानवादी कहते हैं—क्षणिक विज्ञान के व्यतिरिक्त वस्तु का अभाव होने से क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है। जैसे अग्नि की ज्वाला में विज्ञान का उदय सादृश्यादि के प्रति अभिज्ञा की उपपत्ति होती है। माध्यमिक कहते हैं—सुषुप्ति अवस्था में विज्ञान का भी दर्शन नहीं होता, अतः शून्य ही आत्मतत्त्व है। सुषुप्ति अवस्था में विज्ञान का प्रवाह विषय अवभास-प्रसङ्ग से निरालम्बन ज्ञान का योग विशेष नहीं है। इनका कहने का अभिप्राय यह है कि सुषुप्ति अवस्था

में आत्मा मृत्यु के समान पड़ा रहता है। उस विज्ञानप्रवाहरूप निरालम्बलन ज्ञान का योग-विशेष नहीं रहता है। महामुनि कणाद के अनुयायी देह इन्द्रियों से व्यक्तिरिक्त ये नौ—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन विशेष गुणाश्रय विभु को आत्मा कहते हैं। मायावादी लोग नित्य शुद्ध बुद्ध सत्यस्वभाव प्रत्येक् चैतन्य को ही आत्मा कहते हैं। दूसरे कुछ लोग शून्यादि व्यतिरिक्त स्थायी संसारी-भोक्ता को आत्मा कहते हैं। उपनिषद् तत्त्वविद्जन बताते हैं—ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा अणु है और श्रीभगवान् के अनुग्रह से अनन्त के लिए समर्थ होती है। इस प्रकार देहात्मवादी, क्षणिकविज्ञानात्मवादी, शून्यात्मवादी इत्यादि जीवात्मतत्त्वनिरूपण हैं। उपनिषद् पक्ष में जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य जीवात्मा का स्वरूप निरूपण करते हुए कहते हैं—तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने कहा है कि जीव ज्ञानस्वरूप होते हुए ज्ञातृत्ववान् है, ज्ञान अपने लिये स्वयं प्रकाशमान वस्तु है, वही स्वरूप जिसको ज्ञानस्वरूप कहते हैं, भगवान् श्रीहरि के अधीन है अर्थात् जीव का ज्ञान धर्म है, जीव धर्मी है। धर्म-धर्मीभाव सम्बन्ध है। शरीरधारण और परित्याग, बन्ध और मोक्षलाभ के योग्य है। प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न है और अनन्त=असंख्य है। ज्ञानस्वरूप कहकर जीव में जडत्व दूर कर दिया और चकार से ज्ञानाश्रय भी जानना चाहिये। जिस प्रकार प्रकाशरूप भी चन्द्रादि का प्रकाशाश्रयत्व है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप का भी ज्ञानाश्रयत्व युक्तियुक्त ही है। आत्मा-चिद्-रूप ही चैतन्य गुण है। चिद्रूपता ही स्वयंप्रकाशता है। वैसे ही श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं।

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तोऽवाह्यप्रज्ञानघन एव (वृ०आ०उ०नि०४/५/१३)। **अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति। (तत्रैव) न हि विज्ञातुर्विज्ञाते विपरिलोपो न विद्यते अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष एव हि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः विज्ञातारमरे केन विजानीयात्** (वृ०आ०उ०नि ४/१४) **जानात्येवायं पुरुषः न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां स उत्तमः पुरुषो नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्।**

एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं

ह्युपपद्यते। माध्यमिकास्तु सुषुप्तेर्विज्ञानस्याप्यदर्शनात् शून्यमेवात्मतत्त्वमिति वदन्ति। न च सुषुप्तेर्विज्ञानप्रवाहविषयावभासप्रसङ्गन्निरालम्बनज्ञानायोगात्। काणादास्तु देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तो नवविशेषगुणाश्रयो विभुरात्मेत्याहुः। मायावादिनस्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावप्रत्यक्चैतन्यमेवात्मेति वदन्ति। अन्ये तु शून्यादिव्यतिरिक्तस्थायिनं संसारिणं भोक्तारमात्मानमाहुः। औपनिषदास्तु ज्ञानानन्दस्वरूपोऽणुरात्मा; स च श्रीभगवदनुग्रहादानन्त्याय कल्पते इति वदन्ति। तत्रोपनिषत्पक्षे जीवात्मस्वरूपं निरूपयति श्रीभगवानाचार्यः, ज्ञानस्वरूपमित्यादिना—

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः।।१।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—ज्ञानं स्वस्मै स्वयं प्रकाशमानं वस्तु, तदेव स्वरूपं यस्य तं ज्ञानस्वरूप-मित्यर्थः। अन्य लोगों का कहना है कि शरीर रहते हुए भी नेत्रादि के बिना रूपादि का ज्ञान नहीं होता है। वे कहते हैं कि इन्द्रियाँ ही चेतन हैं। एक शरीर में बहुत इन्द्रियाँ चेतन हैं, ऐसी शंका न करें। मैं रूप को देखा था। वही मैं इस समय सुन रहा हूँ। तो रूप-रसादि में भोक्तापन तथा 'सोऽहं रूपमपश्यं देवदत्तः' ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। क्रम के विना एक काल में होनी चाहिये। समझें कि एक शरीर के आश्रय की ही प्रत्यभिज्ञा है। ज्ञान, क्रम और भोग का निमित्त नहीं है, जैसे कि वर-विवाह में कोई गुण प्रधान नहीं होता। वैसे ही यहाँ प्रकृत में वर-विवाह न्याय से जानना चाहिये। स्वप्नावस्था में चक्षु आदि इन्द्रियाँ, लय हो जाने पर केवल मन में विज्ञानाश्रय अहंप्रत्ययावलम्बनत्व की उपलब्धि होती है। अतः चक्षु आदि के कारण शरीर का आधार मन ही आत्मा है—ऐसा मानते हैं। विज्ञानवादी कहते हैं—क्षणिक विज्ञान के व्यतिरिक्त वस्तु का अभाव होने से क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है। जैसे अग्नि की ज्वाला में विज्ञान का उदय सादृश्यादि के प्रति अभिज्ञा की उपपत्ति होती है। माध्यमिक कहते हैं—सुषुप्ति अवस्था में विज्ञान का भी दर्शन नहीं होता, अतः शून्य ही आत्मतत्त्व है। सुषुप्ति अवस्था में विज्ञान का प्रवाह विषय अवभास-प्रसङ्ग से निरालम्बन ज्ञान का योग विशेष नहीं है। इनका कहने का अभिप्राय यह है कि सुषुप्ति अवस्था

में आत्मा मृत्यु के समान पड़ा रहता है। उस विज्ञानप्रवाहरूप निरालम्बलन ज्ञान का योग-विशेष नहीं रहता है। महामुनि कणाद के अनुयायी देह इन्द्रियों से व्यक्तिरिक्त ये नौ—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन विशेष गुणाश्रय विभु को आत्मा कहते हैं। मायावादी लोग नित्य शुद्ध बुद्ध सत्यस्वभाव प्रत्येक् चैतन्य को ही आत्मा कहते हैं। दूसरे कुछ लोग शून्यादि व्यतिरिक्त स्थायी संसारी-भोक्ता को आत्मा कहते हैं। उपनिषद् तत्त्वविद्जन बताते हैं—ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा अणु है और श्रीभगवान् के अनुग्रह से अनन्त के लिए समर्थ होती है। इस प्रकार देहात्मवादी, क्षणिकविज्ञानात्मवादी, शून्यात्मवादी इत्यादि जीवात्मतत्त्वनिरूपण हैं। उपनिषद् पक्ष में जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य जीवात्मा का स्वरूप निरूपण करते हुए कहते हैं—तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने कहा है कि जीव ज्ञानस्वरूप होते हुए ज्ञातृत्ववान् है, ज्ञान अपने लिये स्वयं प्रकाशमान वस्तु है, वही स्वरूप जिसको ज्ञानस्वरूप कहते हैं, भगवान् श्रीहरि के अधीन है अर्थात् जीव का ज्ञान धर्म है, जीव धर्मी है। धर्म-धर्मीभाव सम्बन्ध है। शरीरधारण और परित्याग, बन्ध और मोक्षलाभ के योग्य है। प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न है और अनन्त=असंख्य है। ज्ञानस्वरूप कहकर जीव में जडत्व दूर कर दिया और चकार से ज्ञानाश्रय भी जानना चाहिये। जिस प्रकार प्रकाशरूप भी चन्द्रादि का प्रकाशाश्रयत्व है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप का भी ज्ञानाश्रयत्व युक्तियुक्त ही है। आत्मा-चिद्-रूप ही चैतन्य गुण है। चिद्रूपता ही स्वयंप्रकाशता है। वैसे ही श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं।

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तोऽवाह्यप्रज्ञानघन एव (वृ०आ०उ०नि०४/५/१३)। **अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति। (तत्रैव) न हि विज्ञातुर्विज्ञाते विपरिलोपो न विद्यते अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष एव हि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः विज्ञातारमरे केन विजानीयात्** (वृ०आ०उ०नि ४/१४) **जानात्येवायं पुरुषः न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां स उत्तमः पुरुषो नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्।**

एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं

गच्छन्ति (प्रश्नोपनिषद् ६/५)। **तस्माद्वा एतस्माद् मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः।**

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—जीव स्वयं ज्योति:स्वरूप-स्वत:प्रकाश स्वरूप है, जीवात्मा चक्षुरादि बाह्येन्द्रिय एवं मन-बुद्धिप्रभृति अन्तरिन्द्रिय किसी के द्वारा प्रकाश्य नहीं। इस बात को श्रुति स्पष्ट रूप में कहती है—सुषुप्ति अवस्था में जीव का यह स्वयंज्योति:स्वरूप प्रकाश होता है। (वृ०उ०४/३/१४) अभिप्राय यह है जाग्रद्वस्था में जीवात्मा इन्द्रिय-मन-बुद्धि इत्यादि के साथ युक्त रहकर विषयग्रहण करती है तब स्वयंज्योति:स्वरूप में प्रकाशित होती नहीं, किन्तु सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा इन्द्रिय-मन-बुद्धिप्रभृति से पृथक् रहती है तब स्वयंज्योतिस्वरूप में प्रकाशित होता है। जिस प्रकार लवणरसमय सैन्धव लवण का अंश भी (टुकड़ा) लवणरसमय है, उसी प्रकार ज्ञानमय ब्रह्म का अंश जीव भी ज्ञानमय है, इस बात को सिद्ध करने के लिये प्रमाण के रूप में ग्रन्थकार श्रुतियों को प्रस्तुत करते हैं—

जैसे सैन्धव लवण का खण्ड बाहर और भीतर रसरूप है, लवण का समस्त अवयव ही रसघन होता है, सर्वांश ही लवणमय होता है, अरे मैत्रेयि! ठीक तद्रूप ही जीवात्मा बाहर और भीतर सर्वांश ही प्रज्ञानघन (ज्ञानस्वरूप) है अर्थात् सर्वत्र विज्ञानघन जीव शरीरक है।

जीवात्मा और परमात्मा में स्वरूप से ऐक्य नहीं है। चूँकि जीवात्माओं का परमात्मा के साथ स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है। हम आगे दर्शायेंगे।

अहमात्माऽऽत्मनाम् (भा०३/९/४२) **(अतति व्याप्नोतीति आत्मा) ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति** (गी०१८/६१)। मैं आत्माओं की आत्मा हूँ। हे अर्जुन! सबके नियमन करने वाले भगवान् वासुदेव, सब भूतों के हृदय में रहते हैं।

जो भी जीव जन्म लेते हैं, उन्हें भूत (प्राणी) शब्द से कहते हैं। श्रुति कहती है—**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।** जिस श्रीपुरुषोत्तम से ये सारे भूत पैदा हो रहे हैं। **अहमात्मा गुडाकेश! सर्वभूताशयस्थितः** (गी०१०,२०)। हे जितनिद्र! अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित आत्मा मैं ही हूँ। स्वप्नावस्था में यह पुरुष स्वयं ही ज्योति होता है। विज्ञाता की विज्ञानशक्ति का कदापि लोप नहीं होता है। विज्ञानशक्ति अविनाशी है। श्रुति

में प्रश्न है कि जो इसे जानता है सूँघता है, वह आत्मा कौन है? प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा विज्ञानमय है, प्राणों में हृदय में अन्तर्ज्योति है, निश्चित पुरुष ही देखनेवाला, सुननेवाला, स्वाद लेनेवाला, सूँघनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला विज्ञानस्वरूप चिदात्मा पुरुष ही है। अरे विज्ञाता पुरुष को कैसे जानें। यह पुरुष जानता ही है। जो इस प्रकार आत्मा को दीखता है, वह मृत्यु, रोग और दुःखों को नहीं दीखता है; और वह उत्तम पुरुष समीपस्थ जनों को और अपने शरीर को भूल जाता है। देह-गेह-दार- कुटुम्ब का विस्मरण हो जाता है। अखण्ड आत्मानुभूति होती है। इस अनुभव करने वाले जीव का भोगोपकरणरूप ये सोलह कलायें निरूपाधिक पुरुष शब्दप्रतिपाद्य परम पुरुष वासुदेव को प्राप्त करती हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूत—ये सोलह कलायें मिलकर पाँच भौतिक लिङ्गशरीर बनता है। उस इस मनोमय से अन्तरात्मा विज्ञानमय अन्य है। इत्यादि श्रुतियाँ यही दिखलाती हैं। जीव का बाहर और भीतर इन्द्रियादिजन्य जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान से जीव का स्वरूपभूत ज्ञान पृथक् है, वह ज्ञान स्वयंप्रकाशमान स्वरूप है, इन्द्रियादि के द्वारा उत्पन्न ज्ञान नहीं।

आत्मा का (स्वरूप) शाब्दिक ज्ञान **अतति व्याप्नोति इति आत्मा** यानी जो हमेशा चलती रहती है।

इसलिये जीवात्मा का स्वरूपभूत ज्ञान स्वयंप्रकाशमानस्वरूप है। और जीव को ज्ञानस्वरूप बताकर श्रुति ने नाना स्थान में उसे विज्ञानमय पुरुष कहा है।

जीवात्मा सम्पूर्ण रूप में परमात्मा के अधीन है अर्थात् जीव का कर्त्तृत्व ब्रह्म के अधीन है। आगे इस बात को शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा प्रमाणित करते हैं।

हरेरधीनमिति। श्रीभगवदनुग्रहजन्यज्ञानक्रियाशक्तिकमित्यर्थः।

कर्त्तृत्वं करणत्वं च स्वभावश्चेतना धृतिः।
यत्प्रसादादिमे सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया श्रुतेः।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया।।

(भा०२/१०/१२)

यस्य भगवतोऽनन्तशक्तेः श्रीकृष्णस्यानुग्रहादेव द्रव्यादयः सन्ति निजाभिप्रेतकार्यसमर्था भवन्ति यदुपेक्षया। यस्यानुग्रहं विना न समर्था भवन्तीति श्रुतिस्मृत्योरर्थः। एतदुक्तं भवति—तत्त्वं द्विविधं स्वतन्त्रं परतन्त्रं

च। स्वतन्त्रे हरिः अन्यदस्वतन्त्रं सत्त्वं स्वातन्त्र्यमुद्दिष्टं तच्च कृष्णेन चापरे। अस्वातन्त्र्यात्तदन्येषामसत्त्वं विद्धि भारतेति। अस्वातन्त्र्यात्तदन्येषामसत्त्वं विद्धि भारतेति महाभारतोक्तेः। तत्र परतन्त्रतत्त्वं भावाभावभेदेन द्विविधं प्रथमप्रतीतौ अस्तीत्युपलभ्यते। यः स भाव यश्च नास्तीति प्रतीयते सोऽभावः तथा च प्रतीत य अत्र घटोऽस्ति अत्र पटोऽस्ति। एवं नास्त्यत्र घटः अस्ति पटाभावः इत्याद्याः तत्र चेतनाचेतनभेदेन भावो द्विविधः। चेतयतीति चेतनः। जीवयतीति जीवः। अनेवंविधो चेतनः तत्राचेतनो द्विविधः मायावृतः तदानावृतश्चेति मायासम्बन्धान्मायावृतः मायाया असम्बन्धादनावृतो वैनतेयानन्तादिसमुदायः सर्वशक्तेः सर्वनियन्तुरनन्यापेक्षमहिमैश्वर्यस्य भगवतो माया अनावृततत्त्वं स्वाधीनत्वेनैव सिद्धमिति श्रीहरेः स्वाधीनत्वं तदन्यस्य तदधीनत्वमिति शरीरसंयोगेत्यादि आत्मकृतकर्मवशाद् यो देहान् प्राप्नोत्येवंविध जीवं विदुरित्यर्थः। उक्तं च गीतासु—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

(गी० २/२२)

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—यह जीव श्रीहरि के अधीन है, इसका भाष्य करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—भगवान् श्रीहरि के अनुग्रह से उत्पन्न ज्ञान, क्रिया शक्ति है जिसको, कर्तृत्व, करणत्व, स्वभाव, चेतना तथा धृति श्रीभगवान् की प्रसन्नता से ये सब जीव को प्राप्त होते हैं। उसकी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं। द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव—ये सारे उन्हीं ही कृपा से हैं। अगर न चाह हो, तो नहीं है। अनन्तशक्तिधारी भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह से ही द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव, जीव आदि की सत्ता है। उनके उपेक्षा कर देने पर और किसी का अस्तित्व नहीं रहता। उन्हीं के ही प्रभव व वैभव से ही जीव अपने-अपने व्यापाररूप अभिप्रेत काम कार्य करने में समर्थ होते हैं। उसकी उपेक्षा से नहीं; बल्कि उसके अनुग्रह के बिना समर्थ नहीं हो सकते। यह श्रुति-स्मृति का अर्थ है—ऐसा जानना चाहिये। ऐसा बताया गया है, तत्त्व दो तरह के हैं—स्वतन्त्र और परतन्त्र। स्वेच्छाधीन परेच्छा अनधीन भगवान् श्रीहरि हैं। दूसरा अस्वतन्त्र परतन्त्र=पराधीन जीव है। जीव स्वतन्त्र नहीं है। **कर्तृत्वादि ईश्वराधीनत्व 'परात्तु तच्छ्रुतेः'**—इस ब्रह्मसूत्र के निम्बार्कभाष्य

में ब्रह्माधीन बताया गया है। इस प्रकार हे मघवन्! तुम समस्त प्राणियों को भगवान् श्रीहरि के अधीन समझो (भा०६/१२/१०)। सत् के भाव को सत्त्व कहते हैं। सत्ता को उद्देश्य करके स्वतन्त्रता, वह केवल श्रीकृष्ण में ही है, दूसरे में नहीं है। चूँकि तीनों काल में उसकी सत्ता विद्यमान है। हे भारत! अन्य सभी को अस्वतन्त्र असत्त्व जानें। ऐसा श्रीमद्भागवत तथा महाभारत में उल्लिखित है। उसमें परतन्त्र तत्त्व भाव और अभावभेद से दो प्रकार है। पहली प्रतीति अस्ति=है, ऐसी उपलब्धि होती है, जो वह भाव=सत्तातत्त्व है और जो नास्ति=नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है, वह अभाव है। एक भावरूप=सत्तारूप और दूसरा जो नहीं की प्रतीति हो, वह अभाव। प्रतीत जो यहाँ पर घट है पट है, यहाँ पर घट नहीं है, यहाँ पट का अभाव है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।
(गी०२/१६)

असत् का भाव नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। तत्त्वदर्शी महात्माओं ने इन दोनों के भी अन्त को देखा है। श्रीमद्भागवतस्थ हंसगुह्यस्तोत्र में अस्ति नास्ति=भाव अभाव, है और नहीं—ये दोनों ही देखने को मिलते हैं—

अस्तीति नास्तिति च वस्तुनिष्ठयोरेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मयोः।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत्।।
(भा०६/४/३२)

आप ऐसा भी नहीं कह सकते कि 'अस्ति' के हृदय में ईश्वर बैठा है और 'नास्ति' के हृदय में शैतान बैठा है। चूँकि दोनों के अगाध बोधविचार तर्क-वितर्क कुतर्क हैं, नहीं हैं के बुद्धि में वही परमात्मा ही बैठा है। कारण परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों में सम=समान है निर्दोष है, श्रीभगवान् सबके भीतर में अन्तर्यामी पुरुषरूप में बैठा है और बाहर कालरूप में सबको दिखाई दे रहा है। वह सब से बड़ा है, उसके बराबर कोई नहीं है। वह सबके अनुकूल है और प्रकृति से परे है।

आत्मा परिज्ञानमयो विवादो ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठाः भा०११/२२/३३। **अस्तीत्येके नायगस्तीति चैके** (क०उ०नि०२०)।

यह परिज्ञानमय=विज्ञानमय ज्ञानस्वरूप आत्मा 'अस्ति-नास्ति' ऐसा

जिनके भेद प्रयोजन में निष्ठा है, वे वाद-विवाद करते रहते हैं। वस्तुत: ज्ञानस्वरूप आत्मा अणु ही है। अब चेतनाचेतनद्वय को बताते हैं—

स्वयं श्रीभगवान् की मुखपद्म से नि:सृत वाणी है—**भूतानामस्मि चेतना, जीवनं सर्वभूतेषु** (गी०); जैसे कि माता उत्तरा के पेट में अभिमन्यु का (गी०१०/१२,७/९)। उस अचेतन को चेतन ने ही चेतन किया, पुत्र परीक्षित मर कर अचेतन पड़ा था, बात लिखी है कि अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से परीक्षित की मौत हो चुकी थी; श्रीभगवान् ने पुन:; उसे जीवित कर दिया।

उसमें चेतन और अचेतनभेद से भाव द्विप्रकारक हैं। जैसे **जीवयतीति जीव:, चेतयतीति चेतन:**=अर्थात् जो जीवित करता है, जो चेतन करता है, वह चेतन है। उससे विपरीत अचेतन=जड़ है। जैसे अखिल शक्तिधारी भगवान् श्रीकृष्ण जीवों के भीतर प्रवेश करके अचेतन=हाथ, पैर कान आदि को जिन्दा कर रहा है। हमारी सारी चेष्टायें श्रीभगवान् की वजह से हो रही हैं। जैसे उन्हीं की वजह से हमारी जीभ हिल रही है। ये अचेतन भी दो प्रकार के हैं—एक माया से ढँका और दूसरा माया से ढँका नहीं है। अर्थात् माया के सम्बन्ध से वह माया से ढँका है। दूसरा माया का सम्बन्ध न होने से ढँका नहीं है। जैसे गरुड़जी, शेषजी आदि सर्वशक्तिमान सर्वनियन्ता भगवान् श्रीकृष्ण कृपा—महिमा—ऐश्वर्य—का पार पा न सके, श्रीभगवान् की कृपा से वे माया से आवृत्त नहीं हैं। वे स्वाधीन रूप से ही सिद्ध हैं। श्रीहरि की स्वाधीनता उससे भिन्न उसके अधीनत्व है। आगे बताते हैं कि शरीर के साथ संयोग अर्थात् अपने किये गये कर्म के वश से जो शरीर प्राप्त होता है, उसे जीव जानें। अर्थात् यह देह पञ्चतत्त्व में मिल जाने पर कर्मानुयायी अवश (वशीभूत) जीव प्राक्तन शरीर को त्याग देता है और अपने द्वारा किये गये कर्मानुसार अन्य शरीर को प्राप्त होता है। यह बात गीताजी में स्वयं श्रीभगवान् ने कही है—

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र त्याग करके अन्य नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार देहधारी यह जीव जीर्ण=पाञ्चभौतिक शरीर को त्याग करके नवीन शरीर को प्राप्त करता है। जीव निज कर्म से ऊँचा-नीचा बड़ा-छोटा तन को प्राप्त कर उत्सर्ग करता है; जैसे—हाथी, मगरमच्छ, सूकर, कूकर, चींटी प्रभृति। कर्मानुग-जीव का जीर्ण शरीर छोड़कर दूसरे शरीर के साथ संयोग ही जन्म और इससे वियोग होना ही मरना है; अत: जीव जन्म-मरण के योग्य है। भगवान् श्रीहरि के अनन्य प्रिय भक्त तथा देवर्षि श्रीनारद

भगवान् के शिष्य श्रीप्रह्लादजी ने भी इसी बात की पुष्टि की है—

यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्मशोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः।

(भा०७/९/१७)

जीव समस्त योनियों में भटकते हुए शोकरूप आग से जल रहे हैं। आगे चतुर्विध प्राणियों के शरीरों की सृष्टि बताते हैं—

शरीराणि च जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाख्यानि। तत्र जरायुजानि=मनुष्याश्वादीनि, अण्डजानि=अण्डेभ्यो जातानि पक्षिसरीसृपादीनि। स्वेदाज्जातानि=यूकामकुणादीनि। उद्भिज्जानि पृथ्वीमुद्भिद्य जातानि=वृक्षगुल्मलतादीनि।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—ये चार तरह के शरीर की खान हैं—१.जरायुज, २.अण्डज, ३.स्वेदज, और ४. उद्भिज्ज। जरायुज शरीर जो झिल्ली से उत्पन्न होते हैं; जैसे मनुष्य-अश्व आदि। अण्डज=अण्डा से पैदा शरीर, पक्षी-सर्प आदि। स्वेदज स्वेद=पसीना से उत्पत्ति यूकाम=जूं, चीलर, किलनी आदि क्षुद्र शरीर। चौथे शरीर हैं—उद्भिज्ज=जो पृथिवी को फोड़कर जन्मते हैं; पेड़-पौधा-झाड़ी-लतादिक। ऊपर बताये गये चतुर्विध अनन्त सूक्ष्म भूतों में चेतन परमात्मा है। परमात्मा के ही चिदंशसमूह चेतन-भूत-प्राणी-जीव नाम से आख्यात हैं। १.जब कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ परस्पर सहायक होने लगती हैं, मन और इत्यादि से युक्त हो जाती हैं तब जरायुज नामक शरीर उत्पन्न होते हैं, आत्मा नहीं २. अण्डज आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न होते हैं, जिस समय पेट में तम और रज नामक गुणों से युक्त होकर तेज के साथ जलतत्त्व की प्रबलता होती है। ४.जल और पृथ्वी नामक तत्त्वों की प्रबलता होने पर जब उसमें सिर्फ तमोगुण रहता है तब उद्भिज्ज=वृक्षादि उत्पन्न होते हैं।

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।

(भा०११/३/३९)

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः।।

(भा०११/९/२८)

जरायुज शरीर में, अण्डज शरीर में, स्वेदज शरीर में और उद्भिज्ज

शरीर में जीव के साथ प्राण ही सञ्चरण करता है। जीव अणुपरिमाण होने से अत्यन्त सूक्ष्म है, **सूक्ष्माणामप्यहं जीव;** भा०११/१६/११। अनुग्रह से तथा अप्रतिहत बलशक्ति से सर्वलोक-पितामह ब्रह्माजी ने विविध शरीर सर्जन करके उन-उन शरीरों से वे असन्तुष्ट वैमनस्क रहे, जैसे—१.वृक्ष शरीर, २. सर्प-पक्षी शरीर, ३. डाँस-मछली शरीर ४.चौथे पुरुष शरीर बनाकर ब्रह्मा जी बहुत ही खुश हुए, उनका मानसकमल खिल उठा। ब्रह्मदर्शन करने की धी=बुद्धि है इनमें अत: ब्रह्मदृष्टिसुधी पुरुष ही है।

अणुमिति। अणुपरिमाणमित्यर्थः। एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा सन्निविवेशः। (मुण्डकोपनिषद् ३/१/९)

अणुह्यैष आत्मा यं वा एते सिनीतः पुण्यपापे
बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् पं०अ० ९)

इति श्रुतेः जीवोऽपकृष्टपरिमाणः, उत्क्रान्तिमत्त्वात् खगशरीरवदित्यनुमानाच गुणिनोऽणुत्वेऽपि दीपप्रभावद्गुणव्याप्त्या पादे मे सुखं, शिरसि मे वेदनेत्यादि युगपदनुभवत्वोपपत्तेः। ननु आश्रयावयव एव विशीर्णप्रचरन्तः प्रमेत्युच्यन्ते, मैवं मणिद्युमणिप्रभृतीनां विनाशप्रसङ्गात्। दीपेप्यवयवविप्रतिपत्तिः कदाचिदपि न स्यात्। प्रतिदेहभिन्नमिति= अनेकमित्यर्थः। अनेन एकजीववादो निरस्तो वेदितव्यः। श्रुतिश्च नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् (कठोपनिषद् २/२/१३)**। एवं जीवानामीशजीवयोश्च परस्परभेदोऽपि सिद्धः। नाहं चैत्रो, नाहं सर्वज्ञो, नाहमीश्वर इत्यनुभवाच्च अहमर्थस्य चात्मत्वमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः।**

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—जीव में साक्षात् अणुत्व सुना जाता है— चित्स्वरूप जीव अणुपरिमाण है। यह जीवात्मा विशुद्ध मन से जानने योग्य है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यानरूप से पाँच प्रकार प्राण जिसमें आश्रित हैं। यह आत्मा अणु है, पाप-पुण्य से बद्ध है। जीव को ये दोनों पाप-पुण्य बाँधे हैं; इसलिये कुशल सत्कर्म द्वारा पाप का और भोग द्वारा पुण्य का निरसन करना चाहिये। जो केश के अग्रभाग का सौ भाग है, उसका भी फिर सौ भाग कर,

जो भाग अति सूक्ष्म उसकी भाँति जीव अति सूक्ष्म अणु परिमाणस्वरूप विशेष रूप से जानना चाहिये, सनातनी श्रुति की इस बात को स्वयं श्रीभगवान् ने मण्डन किया है—**सूक्ष्माणामप्यहं जीवः** (भा० ११/१६/११)। हे उद्धव! सूक्ष्मों में मैं जीव हूँ। स्वरूप से अति सूक्ष्म तथा अणु परिमाण वाला भी वह जीव अपने धर्मभूत ज्ञान द्वारा विभु है, मोक्ष के लिये समर्थ है। हे भारत! जिस प्रकार परिच्छिन्न एक सूर्य अपनी प्रभा द्वारा इस सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्री=क्षेत्रज्ञ जीवात्मा अपने धर्मभूत ज्ञान द्वारा पैर के तलवा से लेकर सिर तक सारा शरीररूप क्षेत्र को प्रकाशित करता है (गी०१३/३३)। न विभु परिमाणक जीव है अथवा मध्यम परिमाणक, अणुत्व पक्ष ही शास्त्रीय है। यह शरीर क्षेत्र है, जड़ है और भोग्य है और भोक्ता शरीरधारी क्षेत्री=जीव है, क्षेत्रज्ञ आत्मा है। यह शरीर है, शरीर का निवासस्थल पुरी है। जो इस पुर में रहकर भोग करता है, आराम करता है, इसी से उसे (पुरि शेते इति) पुरुष कहा जाता है—

पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः।
शेते जीवने रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ।।
(भा० ७/१४/३७)

नर, तिर्यक्, ऋषि, देवताओं का शरीरनिर्माण कर पुरियों में=शरीरों में इसी जीवरूप से सोता है; इसलिये वह पुरुष कहलाता है। जीव सूक्ष्म अणु परिमाण ही है; जैसे पक्षी घोंसला में से शरीर से निकलकर जाना-आना शरीर की भाँति; इस अनुमान से गुणी जीव अणु परिमाण है। जैसे दीपक की प्रभा के समान गुणव्याप्ति द्वारा मेरे पाँव में आराम है, सिर में दर्द है इत्यादि एक ही साथ अनुभूति होती है। **'वादी भद्रं न पश्यति'** द्वारा शङ्का करते हैं—आश्रय के अवयव ही निश्चय टूट कर फैले हैं, उसी को प्रमा कहते हैं, इस प्रकार नहीं कह सकते, मणि और द्युमणि-प्रभृति के विनाश का प्रसङ्ग होगा। दीप में अवयवी का ज्ञान कभी भी नहीं होता है। यह अति सूक्ष्म चिद् रूप अणु परिमाण वाला जीव प्रतिदेह में भिन्न है अनेक है। इस प्रकार के विवेचन से एकजीववाद का खण्डन हो गया, जानना चाहिये। भगवती श्रुति कहती है—जो नित्य=शाश्वत चेतन जीवों में नित्य चेतन एक उनसे उपासित होकर उनका मनोवाञ्छित=मनोरथों को पूर्ण करता है। यहाँ **'नित्यानां चेतनानाम्'** से बाहुल्येन जीवों का निर्देश है। इस प्रकार जीवों का, ईश्वर और जीव का

परस्पर भेद भी सिद्ध हुआ। ग्रन्थकार जीव और मैं के स्वाभाविक भेद को दिखला रहे हैं—मैं क्षेत्र नहीं हूँ, मैं सर्वज्ञ नहीं, मैं ईश्वर नहीं—यह सभी को अनुभव है। अहमर्थ ही आत्मा है, यह आगे हम कहेंगे। महामति श्रीविदुर जी ने कहा—**भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः** (भा० ३/७/६)। अस्यार्थः—यह एक ही परमात्मा सभी क्षेत्रों में अवस्थित=विराजमान है। अज्ञ और सर्वज्ञ, अनीश्वर और ईश्वर श्रीमद्भगवद्गीता में सम्यक् निर्णीत है—**तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।** हे परन्तप! अर्जुन! मैं सर्वज्ञ ईश्वर, उन सब जन्मों तथा क्षेत्रों की बातों को जानता हूँ और तुम अपना भी नहीं जानते हो; कैसे दूसरों को जानोगे।

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
> (मु०उ०३/१)
>
> ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये।
> छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥
> (क०उ०१/३)
>
> अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।
> (यजुरारण्यके, २/११ अनुवा०)
>
> इत्यादि श्रुतिश्च परजीवयोः स्वरूपैक्यं निषेधयति।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—सुपर्ण का अर्थ है—पक्षी। वह एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाता है। **वृश्च्यते छिद्यते इति वृक्षस्तं वृक्षवत् छेदनयोग्यं शरीरम्।** उसी प्रकार देह धारण करने वाला जीव का यह क्षणभङ्गुर देह एक देह से दूसरे देह में जाता है। इसलिये सर्वज्ञ वेद भगवान् ने आत्माद्वय को सुपर्ण=पक्षी कहा है। पक्षी की ही तरह जीव की भी गति रहती है। एक देह को छोड़कर वे दूसरे देह में जाते हैं, इसलिये उन्हें पक्षी कहते हैं। ऐसे इस वृक्ष को काल जन्म से ही क्षण-क्षण तोड़ता रहता है और उसकी बाल्यावस्थादि अवस्थाओं पर प्रहार करता रहता है। इस वृक्ष के फल कच्चे, पके, तीते, कसैले होते हैं, जिन्हें 'पिघले' कहते हैं। उन दो पक्षियों में जिसे 'जीव' कहते हैं, वह अनेक प्रकार के शरीरसम्बन्धकृत दुःखदायक कर्मों के फलों को भोगता है, खाता है; परन्तु उन फलों के खाने से पेट नहीं भरता, खाने से पचता नहीं, इसलिये

संसारचक्र में फँसकर चक्कर लगाने पड़ते हैं। वह एक फल खाता रहता है तो दूसरा उसे न खाने का इशारा करता है; लेकिन जीव को उस फल की बहुत चाह रहती है; इसलिये वह लगातार उन फलों को खाता रहता है। दूसरा ईश्वर कुछ भी नहीं खाता, केवल मात्र देखता है। यही जीव और मैं में भेद है। सख्यभ।वयुक्त उन दोनों पक्षियों ने मिलकर देहरूपी वृक्ष पर अपना घोंसला बनाया।

हे अर्जुन! अतीत, वर्तमान और भविष्यत् में प्रकाशित स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त प्राणियों को मैं सर्वज्ञ ईश्वर जानता हूँ; किन्तु मुझे कोई नहीं जानता है; (गी० ७/२६)। जीव और ईश्वर में इतनी भिन्नता है। पूर्वसिद्ध हंसगुह्य स्तोत्र में वर्णित है—परमात्मा जीव का सखा है, वह जीव से मैत्री करता है और इसी शरीर में रहता है; लेकिन जीव उसको जानता नहीं; लेकिन वह सबसे परे रहकर सबको जानता है। जैसे हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन आदि उसको पहचान नहीं सकते। जैसे लकड़ी में आग छिपी रहती है, उसी प्रकार वह शरीर के भीतर ही छिपा हुआ है। जीव अपने द्वारा किये गये कर्मों के फलों को खाता-पीता है और ईश्वर उसे पिलाता है। श्रुति में **पिबन्तौ** द्विवचन यह शब्द **'छत्रिणो यान्ति'** की भाँति निर्देश है। ये दोनों जीव और ईश्वर कर्मफलभोगायतन शरीररूप हृदयस्वरूप गुफा में प्रवेश किये हुए हैं। सर्वोत्कृष्ट हृदयाकाश में प्रविष्ट हैं। छाया-आतप=स्वतन्त्र-परतन्त्र, परब्रह्म और प्रत्यगात्मा १.गार्हपत्य, २.दाक्षिणाग्नि, ३.आहवनीय, ४.सभ्य और ५. आवसथ्य। ये पाँच अग्नि को वेदविज्जन बतलाते हैं। जिन्होंने तीन बार नाचिकेत-अग्नि का चयन किया है, वे त्रिणाचिकेता कहलाते हैं। आप्त समस्त परिपूर्ण काम सर्वज्ञ श्रीभगवान् ने भी स्वनुष्ठित वेदोक्त धर्म का अनुष्ठान करते हुए इस संसार में सद्‌गृहस्थ मनुष्य के लिये आदर्श को स्थापित किया है—**एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन् सतां गतिः** (भा०१०/९०/२८)। श्रीभगवान् स्वयं कह रहे हैं—मेरे वेदोक्त धर्म-कर्म करने पर भी, कर्म मुझे लिप्त नहीं कर सकता; कर्मफल में मेरी कोई इच्छा नहीं है (गी० ४/१४)। लोककल्याण के लिए सभी लोगों को मेरे आचरण से शिक्षा मिलेगी—इस विचार से मैं धर्माचरण करता हूँ। समस्त जीवों के अन्दर अन्तर्यामी पुरुषरूप में स्थित, एककालावच्छेदेन सकल वस्तु-विषयक ज्ञानवान श्रीभगवान् ही सबका शासक है, सबका अध्यक्ष है। सबका नियामक और परिचालक, वही एक भूमा परमात्मा ही है।

इत्यादि श्रुतिशास्त्र ने परस्पर परमात्मा और जीवात्मा में स्वरूप की एकता का निषेध किया है। **सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो** (गी० १५/१५)। हे अर्जुन! मैं ब्रह्मादि प्राणीमात्र के हृदय में सम्यक् अन्तर्यामी रूप से निविष्ट=प्रविष्ट हूँ। ग्रन्थकार पुन: संशयरहित हेतुयुक्त ब्रह्मसूत्रों के पदों से एवं छन्दों के द्वारा आत्मतत्त्व का निरूपण करते हैं—

शारीरश्चोभयेऽपि भेदेनैनमधीयते-ब्र०सू० १/२/२०; **भेदव्यपदेशाच्चान्यः**-ब्र०सू० १/१/१८; **अधिकं तु भेदनिर्देशात्**-ब्र०सू० २/१/२१ **इत्यादि सूत्रेषु च य आत्मनि तिष्ठन् नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानं अन्तरो यमयति प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः प्राज्ञेनात्मनाऽऽन्वारूढः, इत्यादिश्रुतिभिरुभयोर्व्यक्तिभेदनिर्णयात्षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतश्रुतिगम्यो भेदः परमार्थसन्नेव भवति। लिङ्गानि तु उपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वतार्थवादोपपत्त्याख्यानि लिङ्ग तात्पर्यनिर्णये प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा आथर्वणे द्वासुपर्णेत्युपक्रमः परमं साम्यमुपैतीत्युपसंहारः प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तन्मध्ये पौनःपुण्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा तत्रैव तयोरन्यः अनश्नन्नन्यः अन्यमीशमिति प्रतिपादनं शास्त्रैकगम्येश्वरः प्रतियोगिकस्य कालत्रयावाह्यभेदस्य शास्त्रं विना आप्राप्तेरपूर्वता फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्य पूर्वोक्तभेदस्य श्रूयमाणं प्रयोजनं यथा—पुण्यपापे विधूयेति प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र प्रशंसनमर्थवादः यथा—तस्य महिनामेतीतिश्रुतिरूपः प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणयुक्तिः सोपपत्तिः। यथा तत्रैतान्योऽनशनन्नित्यपपत्तिः। किञ्चान्तर्यामी ब्राह्मणेऽपि षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतं वाक्यं भेदप्रमाणं तथाहि वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं** (बृ०दा०अ०उ०नि० ३/४/१) **इत्युपक्रमः, एष ते आत्मा अन्तर्यामी तत्रैव इत्युपसंहारः, एष ते आत्मेत्याद्येकविंशतिकृत्वोऽभ्यासः।' अन्तर्यामित्वस्याप्राप्ततया पूर्वता स वै ब्रह्मविदित्यादि फलं चेत्त्वं याज्ञवल्क्यसूत्रमविद्वांस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति** (बृ०दा अ०उ०नि० ३/४/१) **निन्दारूपोऽर्थवादो। यस्य पृथ्वी शरीरं यं पृथ्वी न वेद इत्याद्युपपत्तिः।**

श्रीवृदावनचन्द्रिका—शारीर=जीवात्मा अन्तर्यामी रूप से व्यवहर्तव्य नहीं है। चूँकि जीवात्मा में सर्वात्मत्व, सर्वनियन्तृत्व, सर्वज्ञत्वादि धर्मों का

अभाव है; क्योंकि दोनों=काण्व और माध्यन्दिन शाखाओं में इस शारीर को प्रत्यगात्मा अन्तर्यामी के भेद से पृथिवी आदि की भाँति अधिष्ठानरूप से और नियम्य रूप से अध्ययन करते हैं—जो विज्ञान में स्थित है, ऐसा कण्व शाखा वाले पढ़ते हैं। जो आत्मा में स्थित है—ऐसा माध्यन्दिन शाखा वाले पढ़ते हैं। इसलिये पृथिवी की भाँति नियम्यत्व अत: अधिदेव आदि में अन्तर्यामी परमात्मा ही है। भगवान् श्रीबादरायण ने ब्रह्मसूत्र में सनिर्बन्ध रूप से पुन:-पुन: घोषणा की है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं है; बल्कि जीव और ब्रह्मके साथ अंशांशिभाव सम्बन्ध से भेदाभेद सम्बन्ध है। भेदाभेदवाद समस्त शास्त्रों का सिद्धान्त है, हम आगे शास्त्रवाक्य उद्‌धृत करेंगे। जीव जो ब्रह्म का शक्तिरूप अंश है, वह **'हरेरधीनं'** इस वाक्य के व्याख्या में श्रुति-ब्रह्मसूत्रादि शास्त्र द्वारा पहले बताये गये हैं। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने **अंशो नाना व्यपदेशात्**–इस सूत्र के भाष्य में अंश और अंशी के मध्य में भेदाभेद सम्बन्ध बताये हैं। जो आत्मा में स्थित हैं, आत्मा के अन्दर आत्मा जिसे नहीं जानती, जिसका आत्मा शरीर है, जो अन्दर आत्मा का नियमन करता है, प्रेरणा परिचालन करता है। जीवात्मा प्राज्ञ परमात्मा से आलिङ्गित है। प्राज्ञ परमात्मा से अन्वारूढ है इत्यादि श्रुतियों से दोनों ईश्वर और जीव के व्यक्ति को भेदनिर्णय करके छहों प्रकार के तात्पर्य के लिङ्गयुक्त श्रुतियों में भेद प्राप्त है, वह भेद परमार्थकारक ही जाना जाता है—उपक्रम (आरम्भ) उपसंहार (समाप्ति), अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति, लिङ्ग के तात्पर्य के निर्णय करने में प्रकरण में जो प्रतिपाद्य वस्तुत: को आदि-अन्त उपपादन करने का उपक्रम और उपसंहार किया है; जैसे अथर्वण में दो पक्षी एक वृक्ष (शरीर) पर एक साथ बैठे हुए हैं—यह उपक्रम है। उनमें से एक (जीव) मीठे फलों को खाने वाला परम समानता को प्राप्त होता है, यह उपसंहार है। इस प्रकरण में जो प्रतिपाद्य का उसके बीच में बारम्बार प्रतिपादन करने का, यह अभ्यास है। जैसे वही दोनों पक्षियों में दूसरा (ईश्वर) बगैर भोजन किये ही सब ओर प्रकाशित हो रहा है। **तस्मै स्वयं प्रकाशाय नमस्करोमि**=मैं उस स्वयंप्रकाश परमात्मा को नमस्कार करता हूँ। जीव से भिन्न अन्य स्वयंप्रकाश परमात्मा का प्रतिपादन है, शास्त्र से ही प्राप्त ईश्वर प्रतियोगी को कालत्रय से अबाधित है, ऐसे भेद के शास्त्र बिना यह अप्राप्ति है, अपूर्वता है, प्रकरण में प्रतिपाद्य पहले बताये गये जो भेद जीवेश्वर में सुनने का प्रयोजन जैसे—जीव पुण्य-पाप को

दूर करके ब्रह्म के समान गुण-धर्म वाला हो जाता है, इत्यादि प्रकरण-प्रतिपाद्य की वहाँ-वहाँ प्रशंसा करना यह अर्थवाद है, जैसे उसकी महिमा को प्राप्त होता है यह श्रुतिरूप प्रकरण-प्रतिपाद्य के साधन में जो वहाँ-वहाँ युक्ति सुनी जायँ, वही उपपत्ति जैसे वही ईश्वर बगैर मीठे फलों को खाये ही यह उपपत्ति है। अर्थात् जीव खट्टे-मीठे फलों को खाता है और ईश्वर बिना खाये ही चारों ओर स्वयं ही प्रकाशित है। जीव आबद्ध होकर अर्थात् शरीर में आत्मबुद्धि रखकर वृक्ष के बन्धन से अपने को छुड़ाने में असमर्थ होने से, दीन-हीन भाव से दु:ख भोगता रहता है। जब वह अपनी उपासना से प्रसन्न हुए दूसरे ईश्वर और उसकी महिमा को देखता है तब बन्धन से छुटकारा पाता है और वह विगतशोक होता है, ब्रह्म के सार्वज्ञ्यादि लक्षण को प्राप्त होता है। देह को यहाँ पर वृक्ष बताया है, उसके ऊपर भोक्ता रूप से बैठे जीव को तथा प्रेरक रूप स्थित ईश्वर को दो पक्षी बतलाया गया है। इस समय ग्रन्थकार बृहदारण्यकोपनिषद् की आख्यायिका प्रस्तुत करते हुए आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हैं— अन्तर्यामी ब्राह्मण में भी छहों प्रकार के तात्पर्य लिङ्गयुक्त वाक्य हैं। भेद के प्रमाण को श्रुति दिखलाती है—हे काप्य! क्या तुम उस अन्तर्यामी को जानते हो? जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतों को भीतर से नियमित करता है? यह उपक्रम है, यह तेरी आत्मा इत्यादि अन्तर्यामी यह उपसंहार है, यह तेरी आत्मा इक्कीस बार बृहदारण्यकोपनिषद् में अभ्यास हुआ है। अन्तर्यामित्व का अप्राप्त रूप से अपूर्वता वही निश्चय ब्रह्म को जानने वालों का फल है। हाँ, मैं उसे जानता हूँ। यही फल है। यही मोक्ष है। यदि तुम याज्ञवल्क्यसूत्र और उस अन्तर्यामी को न जानने वाले होकर ब्रह्मवेत्ता की स्वभूत गौओं को ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायेगा, यह निन्दारूप अर्थवाद है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कथा है कि महाराज जनक ने कहा—कौन सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता है? यह जानने के लिये एक सहस्र गोदान की शर्त की। उस समय भगवान् याज्ञवल्क्य ने उन सहस्रों गौओं को अपने अधिकार में कर लिया, इस पर राजसभा में बैठे हुए विद्वान् कुपित होकर उनसे अनेक प्रकार के प्रश्न करने लगे। उनमें एक शाकल्य भी था। उसके अनेक प्रश्नों का उत्तर देने के पश्चात् अन्त में महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी उससे पूछा—**तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति** (बृहदारण्यकोपनिषद् ३/९/२६)। इस वेदान्त-सिद्धान्त में उपनिषद्- प्रतिपादित पुरुष ब्रह्म विज्ञान आनन्दमय

परमात्मा का प्रतिपादन हुआ है। जिसका पृथ्वी शरीर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, इत्यादि उपपत्ति है।

ननु जीवो हि एकस्तस्य कथं नानात्वमुच्यते, स्वप्नवत् बन्धमोक्ष-गुरुशिष्यादिव्यवस्थोपपत्तेरिति चेत् मैवं तस्मिन्नेकस्मिन् सुप्ते निखिल-जगदप्रतीत्यापत्तेः सृष्टिमारभ्य प्रलयपर्यन्तसुप्तत्वस्य जीवे असम्भवाच्च। परोक्तमहंत्वमित्यादिबुद्धिविषयव्यवस्थानुपपत्तेश्च। योगिनः कायव्यूहे-नान्तःकरणतादात्म्यारोप्यैवाहमित्येव सर्वत्र प्रतीतेश्च। तदन्तःकरणस्यैकत्वे बाह्यकरणामप्यैक्यपत्या कायव्यूहस्यैवाभावः स्यात् इति दिक्।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—'वादी भद्रं न पश्यति' न्याय से ननु करके यहा शङ्का करते हैं कि ज़ीव एक है, उसे तुम बहुत (अनेक) कैसे कहते हो, बन्धन व मोक्ष, गुरु-शिष्य इत्यादि व्यवस्था की प्राप्ति स्वप्न की भाँति है। इसका उत्तर देते हुए बताते हैं कि ऐसे मत कहो, जो एक जीव कहोगे तो एक के सोये से समस्त जगत् की प्रतीति नहीं होगी, सृष्टि से लेकर प्रलय-पर्यन्त तक किसी जीव का सोना ही नहीं बनेगा और परोक्त अहं त्वं=दूसरे लोगों के द्वारा बताये गये मैं और तुम इत्यादि बुद्धि के विषय की व्यवस्था भी अनुपपत्ति होगी। योगीजन कायव्यूह द्वारा बुद्धि के विषय को नाना अन्तःकरण से आरोपित करके तादाम्य सम्बन्ध से उनमें अहं=मैं ऐसा यह सर्वत्र प्रतीत होता है। यदि सब में अन्तःकरण एक हो जाय तो बाहर की इन्द्रियाँ भी एक ही हो जायेंगी; तब कायव्यूह नहीं बन पायेगा हमने यह दिशामात्र दिंखाया है। पातञ्जलयोगसूत्र में लिखा है कि योगी[1] लोग एक साथ अनेक शरीर धारण करने पर केवल 'अस्मिता' उपादान ग्रहण करके कायव्यूह द्वारा विभिन्न अन्तःकरणों का निर्माण कर लिया करते हैं और सभी चित्तों में तादात्म्य सम्बन्ध से अहं (मैं) ऐसा यह सर्वत्र प्रतीत होते हैं और उससे निर्मित प्रत्येक शरीर भिन्न-भिन्न चित्तविशिष्ट होता है। उन निर्मित चित्तों की प्रवृत्ति विभिन्न होने पर भी उन विभिन्न चित्तों का प्रेरक एक ही चित्त रहता है। उसी चित्त की अधीनता में उन भिन्न-भिन्न चित्तों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति होती है। श्रीमद्भागवतशास्त्र[2] में उल्लेख है कि जब सौभरि के मन में विवाह करने की इच्छा हुई तब वे राजा

---

१. **द्रष्टव्य**—पातञ्जलदर्शन के कैवल्यपाद के चतुर्थ एवं पञ्चम प्रभृतिसूत्र तथा व्यासभाष्य।
२. **वही** श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, षष्ठ अध्याय।

मान्धाता के समीप गये और बोले कि आप मेरा विवाह अपनी कन्याओं से कर दीजिये। इतना कहकर सौभरि ऋषि अपने तप के योगबल से कायव्यूह द्वारा बुद्धि के विषय से नाना अन्तःकरण आरोपित करके तादाम्य सम्बन्ध से अन्तःपुर में पहुँच गये। तब सभी राजकुमारियाँ उन पर मुग्ध हो गयीं और कहने लगीं कि ये तो मेरे वर के योग्य हैं। यह देखकर ऋषि ने पचासों लड़कियों से विवाह करके अपने लिये पचासों देहों का निर्माण करके विभिन्न पचासों पुरियों में पचासों स्त्रियों के साथ एक ही समय में रह कर विहार किया। और सौभरि जी कहने लगे देखो पहले मैं एक था, उसके बाद पचासों कन्याओं से शादी हुई और फिर इतने बच्चे-कच्चे हो गये, कितना समय बीत गया, इसका कुछ पता ही नहीं चला। [1]अनादि वैदिक निम्बार्क सम्प्रदाय से सुप्रसिद्ध योगीश्वर महापुरुष श्री १००८ स्वामी रामदासजी काठियाबाबा महाराज के जीवन-चरित में श्रीताराकिशोर जी ने लिखा है—कोलकता के कम्बलिया टोले में रहते समय मैंने अपनी बैठक में, जहाँ मैं सदैव बैठता था, उसके सामने की दीवाल पर अपने गुरुमहाराज श्री १००८ स्वामी रामदासजी काठियाबाबा का एक चित्र लगाकर रखा था। श्रीविहारीलालजी चट्टोपाध्याय नामक मेरे एक धर्मबन्धु थे, वे बड़े धर्मनिष्ठ, सात्त्विक—प्रकृति के, तथा भक्तिमान पुरुष थे। स्वास्थ्य बिगड़ने के कारण उन्होनें जलवायु बदलने के लिये सन्थाल परगने के एक स्थान में जाकर कुछ दिन वहाँ निवास किया। वे कोलकता में लौटकर मुझसे भेंट करने के लिये कम्बलिया टोले के मकान में आये। बैठक में प्रवेश कर उन्होनें श्रीश्रीबाबाजी महाराज के चित्र को देख करके चकित होकर मुझसे पूछा—आप को इन महापुरुष का दर्शन कहाँ मिला? मैंने ठनसे कहा—"यह मेरे गुरुमहाराज का चित्र है" वे बोले "मैं सन्थाल परगने में जहाँ था, वहाँ इनके दर्शन कर आया हूँ। मैं जिस मकान में रहता था, ठसके पास एक पीपल के पेड़ के नीचे इन्होनें तीन दिन तक अपना आसन स्थापित किया था। मैं नित्य इनके दर्शनार्थ जाता था। और समीप में जाकर बैठता था। वे मुझे बड़ा स्नेह और आदर करते थे।" किन्तु वास्तव में ठस समय श्रीश्रीबाबाजी महाराज श्रीवृन्दावन में थे। इसलिये मैनें कहा—मेरे गुरुमहाराज तो इन दिनों श्रीवृन्दावन में हैं, सन्थाल परगने में उनके इस समय जाने की तो कोई सम्भावना नहीं है। आपने वहाँ उनका कैसे

---

१. द्रष्टव्य—रामदास काठियाबाबा का जीवन-चरित्र, काठियाबा आश्रम, शिवाला, वाराणसी।

दर्शन किया? यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। वे बोले—मैं निश्चित रूप से कह रहा हूँ कि मैने सन्थाल परगने में तीन दिन इनके ही दर्शन किये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है। उनकी ये बातें सुनकर मैं बहुत ही विस्मित हुआ।

तत्पश्चात् श्रीवृन्दावन में जाकर मैने श्रीश्रीबाबाजी महाराज से इस विषय में पूछा तो वे मुस्कराकर बोले—बाबा! कभी-कभी अन्य स्थानों पर अन्य लोग भी मेरे दर्शन पाते हैं। इस रहस्य को इस समय तुम नहीं समझ सकोगे, पर पीछे समझोगे।

एक ही साथ श्रीवृन्दावन तथा सन्थाल परगने में कायव्यूह द्वारा अन्त:करण अनेक अहमर्थ की प्रतीति।

ज्ञातृत्ववन्तमित्यत्रादि शब्दस्याध्यहारो बोध्यः। तथा च ज्ञातृत्वकर्तृत्व भोक्तृत्वादयोऽपि स्वाभाविका धर्मा जीवे सन्तीत्यर्थः। तत्र केचित् गौणाः केचित् स्वरूपभूता इत्यादि विवेकः त्वन्यत्र द्रष्टव्यः।

ननु ज्ञातृत्वं नाम ज्ञानक्रियाकर्तृत्वं तच्च विक्रियात्मकमित्यविक्रियस्यात्मनो न सम्भवति अपितु अन्तःकरणरूपाहङ्कारस्य इति चेत् उच्यते ज्ञातृत्वं हि ज्ञानगुणाश्रयत्वं ज्ञानं चास्य नित्यस्य स्वाभाविकधर्मत्वेन नित्यं स्वयमपरिछिन्नं ज्ञानं सङ्कोचविकाशार्हं एतज्ज्ञानमिन्द्रियद्वारेण प्रसरति, तत्प्रसरेतुकर्तृत्वमस्त्येव तच्च न स्वाभाविकमपितु कर्मकतृमित्यविक्रिय स्वरूप एव आत्मा एवं रूपम् अविक्रियात्मकं ज्ञातृत्वं ज्ञानस्वरूपस्यात्मन एवेति न कदाचिदपि जडस्याङ्कारस्य ज्ञातृत्वसम्भव इति दिक्।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—अब इस समय **'ज्ञातृत्ववन्तं'** पद का भाष्य करते हैं। इस जीवात्म—निरूपण प्रकरण में **ज्ञातृवन्तं** शब्द का अध्यहार कर जानना चाहिये कि जीवात्मा में ज्ञातृत्व, कर्तृत्व भोकृत्व आदि स्वाभाविक धर्म नित्य अप्रतिहतरूप से रहते हैं। यानी ज्ञातापन, कर्तापन और भोक्तापन इत्यादि जीव के स्वाभाविक धर्म हैं। उसमें कितने गौण हैं, कई स्वरूपभूत हैं। इनका विचार अन्य ग्रन्थों में देखना चाहिये। वादी की शङ्का है कि ज्ञातृ नाम ज्ञान क्रिया और कर्तृत्व वह विक्रियात्मक है और आत्मा तो अविकारी, अविनाशी और अलिप्त है, आत्मा में सम्भव नहीं है। हाँ ये अन्त:करणरूप अहङ्कार में सम्भव हैं। यदि ऐसे कहा जाय तो उसका

समाधान यह है कि ज्ञातृत्व नाम ज्ञान-गुण के आश्रयत्व जो नित्य जीव का ज्ञान स्वाभाविक धर्म हैं। अर्थात् ज्ञान जीव के धर्म हैं, जीव धर्मी है—ऐसा स्वाभाविक धर्म-धर्मीभाव सम्बन्ध है। स्वाभाविक रूप से वह नित्य स्वयं अपरिच्छिन्न ज्ञान है; पर सङ्कोच और विकाश के योग्य है, यह ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा फैले हैं; लेकिन ज्ञान के फैलाव से जीव में कर्तृत्व है ही। वह स्वाभाविक नहीं है; किन्तु कर्मकृत है; आत्मा अविक्रियस्वरूप है। इस प्रकार एवंरूप अविक्रियात्मक ज्ञातृत्व ज्ञानस्वरूप आत्मा का है ही, वह कभी भी जड़रूप अहङ्कार का ज्ञातृत्व सम्भव नहीं, हमने यहाँ संक्षेप में ही दर्शाया है। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा कर्ता है। प्रश्नोपनिषद् में इस प्रकार बताया है—

एष हि द्रष्टा स्त्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।

देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, स्वाद लेने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों के द्वारा एवं मन के द्वारा समस्त कर्मों को करने वाला, जैसे मुमुक्षु जन ब्रह्म की ही उपासना करें इत्यादि जो यह विज्ञानस्वरूप पुरुष जीवात्मा है, वह भी परम अविनाशी सबके आत्मा परब्रह्मस्वरूप श्रीपुरुषोत्तम में सम्यक् स्थिति पाता है। जीव ब्रह्म में स्थान पाता है अर्थात् जीव को ब्रह्म की प्राप्ति, यही प्रयोजन है। यह जो इन नेत्रादि इन्द्रियों को दर्शनादि शक्ति देने वाला यहाँ बोद्धा, कर्ता, विज्ञानात्मा के निर्देश से आत्मा ज्ञातृत्व ही है, न कि ज्ञानरूपत्व ऐसा कहने वाले तार्किक और आत्मा में ज्ञान ही ज्ञातृत्वं नहीं—ऐसा बताने वाले मायावादी निरस्त हो गये।

एवं ज्ञातृतया सिद्ध्यन्नहमर्थ एव प्रत्यगात्मनः ज्ञप्तिमात्रमहंभावविगमे तु ज्ञप्तेरपि न प्रत्यक्त्वसिद्धिः, एवं हि सुप्तोत्थितस्य परामर्शः 'सुखम् अहम् अस्वाप्सम्' इत्यनेन प्रत्यवमर्शेन तदानीमप्यहमर्थस्यैवात्मनः सुखित्वं ज्ञातृत्वं च ज्ञायते, 'एतावन्तं कालं न किञ्चिदहमज्ञासिषम्' इत्यत्र न कृत्स्नप्रतिषेधः, अहमवेदिषमिति वेदितुरहमर्थस्यानुवृत्तेर्वेद्यविषयो हि स प्रतिषेधः, ननु मामप्यहं न ज्ञातवान्' इत्यहमर्थस्यापि तदानीमनुसन्धानं प्रतीयत इति चेत् उच्यते अहमर्थस्य ज्ञातुरनुवृत्तेर्न स्वरूपं निषिध्यते; अपि तु

प्रबोधसमयेऽनुसन्धीयमानस्याहमर्थस्य वर्णाश्रमादिविशिष्टता अत्र च जागरितावस्थानुसंहितजात्यादिविशिष्टोऽस्मदर्थो माम् इत्यंशस्य विषयः स्वापावस्था प्रसिद्धो विशदस्वानुभवैकताश्रयश्चाहमर्थोऽहमित्यंशस्य विषय इति विवेकः। अपि च सुषुप्तावात्माज्ञानसाक्षित्वेनास्त इति हि मायावादिनां प्रक्रिया।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—इस प्रकार आद्याचार्योक्त **'ज्ञातृवन्त'** पद की श्रुतिमुखेन सिद्धि हुई। जो अहम् अर्थ ही है वही प्रत्यगात्मा में है, ज्ञानमात्र में नहीं, ज्ञानस्वरूप है अहम्भाव का समूल नाश होने पर ज्ञप्ति और प्रत्यकत्व की असिद्धि होगी।

प्रतीपम् अञ्चतीति प्रत्यक् यद्वा स्वस्मिन् अञ्चति=प्रकाशते प्रत्यग् अर्थात् जो दूसरों को और अपने में प्रकाशित है और **अतत व्याप्नोतीति आत्मा** जो निरन्तर चल रहा है, वह प्रत्यगात्मा अहमर्थरूप ज्ञानस्वरूप होते हुए ही ज्ञातृत्ववान् है। इस प्रकार स्वतः प्रत्यक् की सिद्धि है। चूँकि वह अहङ्काररूप जड़ नहीं है, और न तो अन्तःकरण का धर्म ही है। अहमर्थरूप आत्मा ज्ञाता, कर्ता-भोक्ता इत्यादि स्वाभाविक धर्मों से युक्त है और आत्मा **'ज्ञानस्वरूप'**। यही बात विश्वसारतन्त्रोक्त गुरुगीता में कही गयी है—

> आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं ज्ञानस्वरूपं निजबोधयुक्तम्।
> योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं श्रीमद्गुरुं नित्यमहं भजामि॥

जो परमानन्दमय श्रीमद् सद्गुरुदेव प्रसन्नचित्त से आनन्द प्रदान करते हैं, जो **'ज्ञानस्वरूप'** निजबोधयुक्त, योगीन्द्रवन्ध और भवरोग के वैद्य हैं, मैं उन श्रीगुरुदेव का नित्य भजन करता हूँ।

इस प्रकार अहं (मैं) और आत्मा की एकाकार से स्फूर्ति होती है, सुषुप्ति में भी अहम्भाव बना रहता है। सोकर उठें तब ऐसा निश्चय करें कि मैं सुख से सोया था। इस अनुव्यवसाय से उस समय भी अहमर्थ का ही आत्मा में सुखत्व और ज्ञातृत्व जाना जाता है, इतने समय-पर्यन्त मैं कुछ नहीं जाना—यहाँ सम्पूर्ण का निषेध नहीं है। अहम् अवेदिषम् में जानने वाले को अहमर्थ की ही अनुवृत्ति होने से वही वेद्य-विषय का ही प्रतिषेध कर रहा है। इसमें शङ्का यह है कि मैं अपने को भी नहीं जानता। इस प्रकार अहमर्थ का भी उस समय अनुसन्धान नहीं प्रतीत होता। यदि ऐसा कहो तो उसके लिये हम बता

रहे हैं—अहमर्थ ज्ञाता में अनुवृत्त है अर्थात् अहमर्थरूप ज्ञानस्वरूप ज्ञातृत्ववान आत्मा-जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में रहता है। चूँकि विज्ञानमय आत्मा बोद्धा, कर्ता उपनिषद् गम्य है। यह प्रज्ञानघन (ज्ञानस्वरूप) जीव देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राणादि जडवर्गभिन्न हैं। अतः जो लोग देहेन्द्रियादि जडवर्ग को ही आत्मा कहते हैं, उनका मत निरस्त हो गया है। नैयायिक और वैशेषिकगण जीव को केवल ज्ञाता ही बताते हैं, ज्ञानस्वरूप कहते नहीं, उनका मत निरसन करने के लिये 'ज्ञानस्वरूप' यह विशेषण दिया गया है।

मायावादिगण जीव का ज्ञातृत्वधर्म स्वीकार नहीं करते हैं, इसलिये उनका वह मत निरसन करने के लिये 'ज्ञातृत्वधर्माश्रय' यह विशेषण दिया गया है। जैसे सूर्य और सूर्यप्रभा का धर्म-धर्मिभाव है, वैसे ही ज्ञानस्वरूप जीव का ज्ञान के साथ धर्म-धर्मिभाव है। सूर्य से सूर्यप्रभा भिन्न एवं सूर्य में और सूर्यप्रभा में आधार-आधेयभाव है, जानकर ही कहते हैं—'प्रकृष्टप्रभावान् सूर्यः' इत्यादि प्रतीति होती है। सूर्य और सूर्यप्रभा की भाँति और ज्ञान का धर्म-धर्मिभाव जानना चाहिये। स्वरूप का निषेध नहीं कर रहा है, जागते समय में अहं अर्थ का वर्णाश्रम आदि अनुसन्धान नहीं; बल्कि यहाँ यह व्यवसाय है। जाग्रत अवस्था में अनुसंहित जात्यादि-विशिष्ट जो अस्मदर्थ माम् इस अंश का विषय है, स्वप्नावस्था में प्रसिद्ध विशद् अपने अनुभव के एक आश्रय और अहमर्थ अहं इस अंश का विषय है। सुषुप्ति में आत्मा ज्ञान का साक्षी रूप से रहता है, मायावादियों की प्रकिया है।

साक्षित्वं च साक्षात् ज्ञातृत्वमेव न ह्यजानतः साक्षित्वं ज्ञातैव लोकवेदयोः साक्षीति व्यपदिश्यते, न ज्ञानमात्रम्, आह च भगवान् पाणिनिः—साक्षाद् द्रष्टरि सञ्ज्ञायाम्'।

इति साक्षात् ज्ञातर्य्यैव साक्षिशब्दं अयं च साक्षी जानामीति प्रतीयमानोऽस्मदर्थ एवेति। कुतः तदानीमप्रकाशापत्तेः एवं मोक्षदशायामपि नाहं भावविगमः। अहंभावविगमे त्वात्मनाश एवापवर्गो द्रविडमण्डकन्यायेन प्रतिज्ञातः स्यात्। न चाहमर्थो धर्ममात्रं येन तद्विगमेऽप्यविद्यानिवृत्ताविव स्वरूपमवतिष्ठेत प्रत्युत स्वरूपमेवाहमर्थ आत्मनः ज्ञानं तु तस्य धर्मः अहं जानामि इति ज्ञानं मे जातम् इति चाहमर्थधर्मतया ज्ञानप्रतीतेः एतेन अहं जानामि इति अस्मत्प्रत्यये यो निदमंशः प्रकाशैकरसश्चित्पदार्थः स आत्मा

तस्मिन् तद्बलनिर्भासिततया युष्मदर्थलक्षणोऽहं जानामीति सिद्धः। चिन्मात्रातिरेकी युष्मदर्थ एवेत्यपास्तम्। अहं प्रत्ययसिद्धो ह्यस्मदर्थः, युष्मत्प्रत्ययविषयो युष्मदर्थ अत्राहं जानामीति सिद्धो ज्ञाता युष्मदर्थवचनं मे माता वन्ध्येति वन्ध्या हतार्थं च। किञ्च तदानीमहमर्थाभावेऽहं निर्दुःखः स्यामित्युत्पन्नमोक्षराग एव तत्साधने प्रवर्त्तते। साधनानुष्ठानेन यद्यहमेव न भविष्यामि, इत्यवगच्छेदपसर्पेदसौ मोक्षकथाप्रस्तावगन्धतः। चाधिकारिणोऽभावादेव सर्वमोक्षशास्त्रमप्रमाणं स्यात। एतेन मोक्षदशायामहमर्थो नानुवर्त्तते इत्यपास्तं, मयि नष्टेऽपि मत्तोऽन्यत् किमपि प्रकाशमात्रमवतिष्ठते इति मत्वा तत्प्राप्तये कस्याप्यन्यो न भविष्यति। तस्मादहमर्थस्यैव ज्ञातृत्वेन सिद्धयतः प्रत्यगात्मत्वं मुक्तानामपि वामदेवादीनामहमित्येवानुभवाच्चः तथा श्रुतिः—तद्धै तत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति (बृ०अ०उ०१/४/१०)।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—साक्षिपन साक्षात् जानने वालों में ही होता है और नहीं जानने वालों में साक्षीपन नहीं होता। दूसरी बात ज्ञाता=जानने वाले ही लोक और वेद में साक्षी बताये गये हैं, ज्ञानमात्र को नहीं। इसमें पाणिनिसूत्रग्रन्थ प्रमाणित करते हैं—साक्षात् ज्ञाता में ही साक्षी शब्द का प्रयोग होता है। जैसे यह साक्षी है, मैं जानता हूँ—ऐसा प्रतीयमान, अस्मदर्थ ही है। कैसे उस समय अहमर्थ प्रतीत नहीं होता है, अन्यथा आत्मा का भी उस समय प्रकाश की आपत्ति एवं मोक्षदशा में भी अहंभाव अपगम नहीं होता है। अहंभाव विगम (खत्म) होने पर तो आत्मा का नाश ही, मोक्ष कहलायेगा। ये बिल्कुल ही बेकार की बातें हैं। जैसे दक्षिण भारत में भात का माँड़ पतले भात में मिलायें और मीठी लकड़ी से चलायें तो वही माँड़ का स्वरूप जैसे नष्ट हो जाता है, वैसे मोक्ष समझें, और अहमर्थ धर्ममात्र नहीं है, जिससे उसके चले जाने पर भी अविद्या की निवृत्ति हुई, स्वरूप स्थिर है, उल्टा स्वरूप ही अहमर्थ आत्मा (स्वरूप) का ही ज्ञान है, उसका धर्म है। अहं जानामि=मैं जानता हूँ, ज्ञान मुझसे उत्पन्न हुआ, इस प्रकार अहमर्थ में धर्मरूप से ज्ञान की प्रतीति होती है और **अहं जानामि** इस अस्मत् प्रत्यय में जो इदं अंश है, वह प्रकाशमात्र रस चित्पदार्थ है; वही आत्मा है, उसमें उसके बल और प्रकाश से युष्मदर्थस्वरूप अहं जानामीति की सिद्धि होती है, **अहं मुक्तः स्याम्**—मैं मुक्त होऊँगा, ऐसी इच्छा हो नहीं सकती। चूँकि मैं मुक्त होऊँगा, इस प्रकार इच्छा अहमर्थ-विषयक की होती है। अहमर्थ आत्मा न होने पर 'मैं मुक्त होऊँगा' इस प्रकार इच्छा की

उपपत्ति होती नहीं। अहमर्थ को बाद देकर केवल चिन्मात्र आत्मा की मुक्ति होती है। कहा नहीं जा सकता। चूँकि अहं मुक्तः स्याम्=मैं मुक्त होऊँगा—इस प्रकार इच्छा कभी किसी को भी होती नहीं; अहं मुक्तः स्याम्=मैं मुक्त होऊँगा—इस प्रकार की इच्छा होती ही है। इसलिये अहमर्थ ही आत्मा है, यही स्वीकार करना पड़ेगा।

प-फ-ब-भ-म—ये पवर्ग हैं। इनके प्रतीक प से पाप-पुण्य, फ से फल, ब से बन्धन, भ से भेद (स्वकीय-परकीय भाव) और म से मोह-माया, यह पवर्ग जिसमें नहीं है, वह अपवर्ग=श्रीभगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष है।

अहमर्थ चिन्मात्र से अतिरेकी युष्मदर्थ है—यह पक्ष निरस्त हो गया। अहं प्रत्यय से सिद्ध अस्मदर्थ, युष्मत्प्रत्यय से सिद्ध युष्मदर्थ, यह जानना जिनका मत है। प्रकरण में **अहं जानामीति** की सिद्धि हुई। 'अर्थात् मैं जानता हूँ' यों कहने वाले से युष्मदर्थ वचन का ज्ञाता सिद्ध हो गया। जैसे कोई कहे कि मेरी माता बाँझ है, इस रीति से अर्थ ही हत है। उस समय अहमर्थ के अभाव होने पर मैं दुःख से मुक्त हो जाऊँ—ऐसे विचार के मोक्ष में राग हो जाय, उसके साधन में लग जाय, यदि कोई कहे साधनानुष्ठान से मैं ही नहीं रहूँगा तो मोक्षकथा की गन्ध से दूर भागे, इस प्रकार अधिकारी के अभाव से ही सभी मोक्ष-शास्त्र अप्रमाणिक हो जाय, ऐसे यदि कहो कि मोक्ष-दशा में अहमर्थ नहीं रहता है, वह निराकरण हो गया, मेरे मरने पर मेरे पीछे से दूसरा कोई भी प्रकाशमात्र शेष रहा है—ऐसा मानकर उसकी प्राप्ति के लिये उसका भी दूसरा उपाय नहीं होगा, इसलिये अहमर्थ की ही ज्ञातृत्व व ज्ञातृत्ववान रूप में सिद्धि हुई। इस प्रकार जीव में 'मैं' जानने वाला और यह जानने वाला है। ये स्वाभाविक धर्म हैं। अतः प्रत्यगात्मत्वमुक्त ऋषि वामदेवादि में अहं अर्थ का अनुभव है, सो श्रुति दिखलाती है— वामदेव ऋषि ने उस ब्रह्म की उपासना करते हुए उसे जाना—मैं मनु हुआ और सूर्य। श्रीभगवान् बादरायण वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र में कहा है—**शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्।** पूर्वजन्म के विद्याभ्यास से स्वतः प्राप्त हुई शास्त्रीय ज्ञानदृष्टि से उपदेश वामदेव की भाँति, शास्त्र की दृष्टि से उपदेश है—अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। श्रीमद्भागवत में ब्रह्मज्ञानी जडभरत ने इसी बात को कहा है—**अहं पुरा भरतो नाम राजा, मृगसङ्गान्मृगोऽभवं येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति। सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति।** (भा.५/१२/१४/१५)।

ब्रह्मज्ञानी जडभरत ने रहूगण को अपना परिचय दिया कि मैं पहले

भरत नाम का राजा था, सम्राट् था, मैं मृग के सङ्ग से मृग हुआ। पीछे वामदेव ऋषि ने कहा—**अहं मनुरभवम्** और यहाँ भरतजी ने कहा—**अहं मृगोऽभवम्।** जिनके नाम से यह भारतवर्ष है। हे रहूगण! भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना के प्रभाव से मृगदेह में भी मुझे पहले जन्म की स्मृति (याद) बनी रही। यहाँ दोनों के अहंभाव का विगम नहीं है, अर्थात् इन दोनों महापुरुष—महानुभावों की मोक्षदशा में अहमर्थ का अपगम है ही नहीं। भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजी ने इसी बात को कितने अच्छे ढंग से षट्पदीस्तोत्र में दर्शाया है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।

अर्थः—सचमुच भेद खत्म हो जाने पर भी हे नाथ! मैं तुम्हारा हूँ, लेकिन तुम मेरे नहीं। एतावता यह सिद्ध हुआ कि जीव की मोक्ष अवस्था में भी अहंभाव=अहमर्थ बना ही रहता है। **दासोऽहं तव केशव**=हे केशव! मैं तुम्हारा दास (सेवक) हूँ (भागवत)।

किञ्च भगवतोऽप्येवमेव व्यवहारः। हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता (छा० उ०६/२/३)। **बहु स्यां प्रजायेय** (छा०उ०६/३/२) **स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति (ऐ०उ०१)। तथा च—**

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।

(गी०१५/१८)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः (गी १०/२०)। **न त्वेवाहं जातु नासम्** (गी०२/१२)। **अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा** (गी०७/६)। **अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते** (गी० १०/८)। **तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्** (गी०१२/७)। **अहं बीजप्रदः पिता** (गी०१४/४)। **वेदाहं समतीतानि** (गी० ७/२६)। **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः** (गी०१८/६६)।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—'अहं जानामि' मैं जानता हूँ, 'अहमनुभवामि' मैं अनुभव करता हूँ, 'अहं इच्छामि' मैं इच्छा करता हूँ इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीति से अहमर्थ का आत्मत्व सिद्ध हुआ।

निम्नलिखित वेदान्त वाक्यसमूह के द्वारा अहमर्थ का आत्मत्व सिद्ध होता है—**अहमनुरभवं सूर्यश्च**—मैं मनु हुआ और सूर्य हुआ। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'—उसने ईक्षण किया, मैं बहुत होऊँ। इस स्थल में 'बहु स्यां

प्रजायेय' इस प्रकार उत्तम पुरुष प्रयोग द्वारा **अहमर्थ का आत्मत्व सिद्ध हुआ** और श्रीभगवान् का भी इस प्रकार ही व्यवहार गीतोपनिषद् में देखा गया है— मैं इन तीनों देवताओं में हूँ। मैं बहुत हो जाऊँ=जगद्रूप में अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ। ब्रह्म ने इस प्रकार ईक्षण कर जल की रचना की। वह तेज अन्नाद्य जल से ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार विचार करके वह सर्वेश्वर भगवान् श्रीपुरुषोत्तम ने इन लोकों की रचना की है। ग्रन्थकार ने जिस प्रकार श्रुति-प्रमाण द्वारा आत्मा का अहंभावरूप अहमर्थ की सिद्धि साबित की, उसी प्रकार स्मृतिप्रमाण से भी दिखलाते हैं—हे अर्जुन जिस कारण अहं=मैं क्षर जगत् को अतिक्रमण कर वर्तमान हूँ और अक्षर जीव से भी अहं=मैं उत्तम हूँ, उसी हेतु लोक में और वेद में **अहं पुरुषोत्तमनाम्ना प्रसिद्धोऽस्मि**=मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। हे गुडाकेश= जितनिद्र! मैं समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा हूँ। मैं समस्त प्राणियों के मध्य में इसके पहले काल में कभी नहीं था, बल्कि था ही। हे अर्जुन! मैं ही सम्पूर्ण जगत् का प्रभव तथा प्रलय हूँ। जैसे हिमालय से गङ्गा निकलती है, वैसे ही श्री भगवान् से सारे संसार का जन्म हुआ है और श्रीभगवान् में लय होता है। इसलिये श्रीभगवान् समस्त संसार के प्रभव=उत्पत्ति और प्रलय के परमकारण हैं। हे अर्जुन! मैं समस्त जगत् की उत्पत्ति का परमकारण हूँ, मुझसे ही इस जगत् का देवलोक एवं मनुष्य लोकादि में बारम्बार आवागमन, वृद्धि-ह्रासादि समस्त प्रवृत्त होता है। हे अर्जुन! मुझ में प्रसक्त—आसक्त चित्त, उन भक्तों को मैं मृत्युरूप संसारसागर से शीघ्र ही उद्धार करता हूँ। हे अर्जुन! मैं सर्वशक्ति, सर्वेश्वर, गर्भाधान का कर्त्ता पितृस्थानीय हूँ। हे अर्जुन! बहुत समय से नष्ट हुए, वर्तमान और भविष्यत् में प्रकाशित (स्थावर-जङ्गमात्मक) तीनों काल में रहने वाले समस्त प्राणियों को मैं जानता हूँ। मैं तुम्हें सब प्रकार के पापों से मुक्त कर दूँगा; तुम शोक मत करो। भगवान् मनु[१] ने कहा—**श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः** अर्थात् श्रुति को वेद जानना चाहिये। श्रुति के अर्थ के पीछे स्मृति चलती है—श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् (रघुवंशमहाकाव्य)। श्रीभगवान् ने कहा है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी नरकं प्रतिपद्यते।।

(वराहपुराण)

---

१. त एव मानवाः सन्ति मनोभाषां विदन्ति ये।
शिरसा च मनोराज्ञां वहेयुः सर्वदा मुदा।।

श्रुति और स्मृति मेरी आज्ञा है। जो उनकी अवहेलना करता है, वह अवज्ञाकारी मेरा विद्वेषी है और मरने पर वह नरकगामी होता है। श्रीभगवान् के निःश्वास से वेदोपनिषदों का प्रादुर्भाव हुआ है और श्रीभगवान् के मुखपद्म से गीता का प्रादुर्भाव हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्य में बताया गया है कि—

उपनिषद्रूप गौओं का अमृतमय दूध गीता है, सुधीजन उसे पीते हैं। पुराणपुरुष पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं सारी उपनिषद्रूप गायों को दूहने वाले और धनुर्धारी महावीर अर्जुन, बछड़े हैं—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत्॥

नन्वहमित्येवात्मनः स्वरूपं चेत्तर्हि कथं भगवताऽहंकारस्य क्षेत्रान्तर्भाव उपदिश्यते। गीतासु महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेवेति चेत् शृणु, सर्वेष्वपि स्वरूपोपदेशेष्वहमित्येवोपदेशादहमित्येव प्रत्यगात्मनः स्वरूपं तथैवात्मस्वरूप-प्रतिपत्तेश्च अव्यक्तपरिणामभेदस्य त्वहंकारस्यानहमहंकरोतीत्यभूततद्भावे च्विप्रत्ययमुत्पाद्य क्षेत्रान्तर्भावो भगवतोपदिश्यते स त्वनात्मनि देहे अहंभाव-करणहेतुत्वेनाहंकार इत्युच्यते। अयमेव गर्वापरनामाहङ्कारः शास्त्रे बहुशो हेयतयोच्यते। तस्माद् बाधकापेताहं बुद्धिरध्यात्मविषयैव शरीरविषया त्वहंबुद्धिरविद्यैवेति सिद्धमहमर्थस्यात्मत्वम्। ननु अनेकजीववादेऽपि कदाचिज्जीवानां समाप्त्या संसारसमाप्तिः स्यादित्याह—यदनन्तमाहुः= नारदादय इति शेषः। यद्यस्मादनन्ताः जीवाः तस्मात् न जीवसमाप्त्या संसारसमाप्तिरित्यर्थः, आहुरित्यनेन प्रमाणम्।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—इत्यादि श्रुति-स्मृति के वचनों को सुनकर उस पर वादी की शङ्का है कि अहं=मैं, एव=ही, आत्मनः स्वरूपम्=यह आत्मा का स्वरूप है यदि कहो तब कैसे श्रीभगवान् ने अहंकार को क्षेत्र नाम से शरीर के अन्तर्भाव करके उपदेश किया, गीता में—महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि और अव्यक्त, अगर ऐसी बात है तो सुनो जहाँ-जहाँ स्वरूप का उपदेश है, उन सब उपदेशों में अहं के ही उपदेश से अहं प्रत्यक् आत्मा का ही स्वरूप बतलाया गया है, वैसे ही अपने स्वरूप का ज्ञान है और अव्यक्त परिणाम भेद का तो अहङ्कार अर्थात् **अनहं करोति इति 'अभूततद्भावे'** इस वार्तिक से स्वार्थ

में करोति के योग में 'च्वि' प्रत्यय उत्पादन करके क्षेत्र के अन्तर्भाव जो श्रीभगवान् ने उपदेश किया, वह अनात्मदेह में अहंभावकरण हेतु से अहङ्कार ऐसा कहा जाता है। **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः** ५/४/५० (अभूततद्भाव इति वक्तव्यम् सूत्रवार्त्तिकम्) यही गर्व, जिसका दूसरा नाम अहङ्कार है, शास्त्र में बहुत प्रकार से त्यागने योग्य बताया गया है। बाधारहित अहं बुद्धि साक्षात् आत्मा के विषय में है ही, शरीर-विषयक अहं बुद्धि अविद्या ही है, जिस पद्धति से अहमर्थ को आत्मत्व की सिद्धि हुई। फिर वादी की शङ्का है कि जो तुम्हारे मत में अनेक जीव हैं, ऐसा यदि कहोगे तो जब जीव समाप्त हो जायेंगे तब जीव के साथ संसार भी समाप्त हो जायेगा। इसका समाधान यह है कि नारदादि महर्षियों ने बताये हैं, जीव अनन्त हैं, असंख्य हैं, जिनकी कोई संख्या नहीं हैं। चूँकि अनन्त जीव हैं, इसलिये जीवों के मोक्ष द्वारा संसार की समाप्ति नहीं, यह संसारप्रवाहरूप सृष्टि चलती है। सूक्ष्मदर्शी मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने कहा है कि यही 'भेदाभेद व जीवों की अनेकता=नानात्व में प्रमाण है। अर्थात् जो हेतु जीव अनन्त शरीर के प्रतिशरीर में भिन्न है, वह हेतु जीव अनन्त है, यह बात श्रुति स्वयं एवं मन्त्रद्रष्टा ऋषिगणों ने कही हैं। अतएव जितने जीव ही मुक्त हो जायें। क्यों न हो, उससे जीव का अन्त होगा नहीं; सुतरां इस जगत् की सृष्टि और स्थिति आदि लुप्त होगी नहीं। यहाँ ध्यान से सुनें, जीव को अनन्त कहने पर ब्रह्म से जीवसमूह का वैलक्षण्य स्पष्ट रूप में कहा गया है। और **'जीवम्'** यह एकवचन का प्रयोग जीवत्व जात्यभिप्राय में है, ऐसा न होने पर **'प्रतिदेह** में भिन्न' और **'अनन्त'** ये दो विशेषण व्यर्थ होते हैं। ये दो विशेषण रहने पर जीवगण के मध्य में परस्पर भेद रहने की बातें कही गयी हैं। अतएव ज्ञानस्वरूपञ्च हरेरधीनं............... इस पहले श्लोक में भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने जीव को हरि के अधीन, स्वरूपतः अणु और अनन्त कहने से ब्रह्म के साथ जीव का **भेदाभेद** सम्बन्ध बताया गया है। गीतोपनिषदों में ब्रह्म के साथ जीवों का सम्बन्ध इस प्रकार बताया गया है—

यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति।।

(मु०उ०२/१/१)

सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।

(छा०उ० ६/८/४)

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।
(गी०५/२५)

अर्थः—जैसे जलती हुई आग से उसी के समान रूपवाली सहस्त्रों चिनगारियाँ निकलती रहती हैं, हे सोम्य! वैसे ही अविनाशी ब्रह्म से अनेक प्रकार के भाव=जीव उत्पन्न होते हैं और उन्हीं में मोक्ष प्राप्त होते हैं। तथापि संसारप्रवाह चलता रहता है। यही श्रुतियों का सिद्धान्त है—जीव अनेक हैं, असंख्य हैं। सत्=परब्रह्म, मूल=कर्ता जिनके वे सन्मूल हैं। न केवल इतना ही, किन्तु सत्=परब्रह्म, आयतन=आश्रय हैं जिनके, वे सद् आयतन हैं, सत्=परब्रह्म प्रतिष्ठा=प्रतिष्ठापक हैं जिनके हे सोम्य! ये सारी प्रजा सन्मूल हैं, वह परब्रह्म सर्वाश्रय है और सारी प्रजाओं का प्रतिष्ठापक परब्रह्म ही है। जिनके सारे पापों का क्षय हो गया है, जिनके सारे सन्देह दूर हो गये हैं, आत्मा में ही मन नियमित हुआ है, जो कृपालु जीवों के कल्याण में रत (सबके प्रति द्वेषभाव रहित) हैं, ऐसे ऋषि लोग ब्रह्म में निर्वाण प्राप्त करते हैं अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं। 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' (गी०४/१०)। हे अर्जुन! अनेक योगी ज्ञानरूपी तप द्वारा पवित्र होकर मेरे ही भाव को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार श्रुति-स्मृतिप्रमाण द्वारा अकाट्य अनेकात्मवाद साधित है। श्रीभगवान् ने गीताशास्त्र के तेरहवें अध्याय में क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान, ज्ञेय, प्रकृति और पुरुष क्या है? इनका व्याख्यान करते हुए इस प्रकार जीवात्मा का स्वरूप निरूपण किया है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।
(गीता १३/३१)

हे कौन्तेय! जीव अनादि है अर्थात् स्वरूपतः जीव जन्म से रहित है, और निर्गुण है अर्थात् माया के गुण-दोषों से सर्वथा रहित है तथा ब्रह्म की चिद्रूप शक्ति होने से एवं क्षयरहित होने से यह परमात्मा ही है। अर्थात् ब्रह्म से जीव का पृथक् अस्तित्व नहीं है। जो उत्पन्नमान प्रकृति के गुणों से युक्त वस्तु है, उसका व्यय=नाश होता है, यह तो वैसा नहीं; इसलिये अव्यय हैं, इस कारण शरीर में स्थित रहने पर भी जीवात्मा किसी कर्म के कर्ता नहीं है

और किसी कर्म में लिप्त भी नहीं होता। वास्तव में जीव का परमात्मा के ही अङ्गीभूत नित्य अंश होने से इसका स्वाधीनकर्तृत्व कुछ भी नहीं है, परमात्मा ही सर्वनियन्ता हैं यानी सबके नियामक और परिचालक हैं। जगत् जीव के दृश्यमात्र होने से जीव इसका ज्ञाता मात्र है। इस कारण स्वरूपत: जीव, जगत् से परे है, परन्तु जगत् त्रिगुणात्मक है, जीव इससे अतीत होने से स्वरूपत: निर्गुण है और परमात्मा की शक्तिरूप से, परमात्मा के ही अङ्गभूत भाव से, नित्य प्रतिष्ठित रहने के कारण उसे परमात्मा कहा गया है।

शरीर, मन और बुद्धि भी आत्म शब्दवाच्य हैं, उनसे भी परम=श्रेष्ठ होने से यह क्षेत्रज्ञ (जीव को) परमात्मा कहा गया है। **वालाग्रशतभागस्य** (श्वेताश्वतर ५/९) इस मन्त्र में जीवात्मा का अणुपरिमाण स्पष्ट ही बतलाया गया है एवं अणुपरिमाण जीवात्मा का ही उत्क्रमण गमन-आगमन पक्षियों की भाँति सम्भव है। अत: यह अणुपरिमाणक जीवात्मा है—**एषोऽणुरात्मा** (मु०उ०१/९)।

जिस प्रकार **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इहं हि विश्वं भगवान्'** इत्यादि श्रुति-स्मृतिवाक्यों में दृश्यमान समस्त पदार्थों को ब्रह्म व भगवान् कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी जीव को परमात्मा शब्द से बताया गया है। जो लोग जीव के स्वरूप के अन्य प्रकार बतलाते हैं, उनके मतसमूह ठीक नहीं हैं, इस समय आलोचना द्वारा प्रदर्शित करते हैं—१. चार्वाकगण कहते हैं 'स्थूल देह ही आत्मा है' किन्तु यह सङ्गत नहीं; कारण देह के ही चेतन आत्मा होने पर मृत शरीर में भी चैतन्य की उपलब्धि होती है, किन्तु वह होती ही नहीं। तद्व्यतीत, स्थूलदेह भौतिक पदार्थ है, जो भौतिक पदार्थ आत्मा नहीं है; अतएव स्थूलदेह आत्मा नहीं।

२.दिगम्बर जैनगण कहते हैं—आत्मा देहातिरिक्त होने से अणुपरिमाण नहीं और विभुपरिमाण नहीं, देहपरिमाण; किन्तु आत्मा देहपरिमाण होने से उसकी अनित्यत्वापत्ति होगी। जो देहपरिमाणक वस्तु है, वह सावयव है। सावयव वस्तु मात्र ही अनित्य होता है, वह आत्मा नहीं हो सकता, जैसे सावयव घटादि वस्तु आत्मा नहीं। आत्मा तो नित्य है, **अजो नित्यः शाश्वतोऽयं** इत्यादि शास्त्रप्रमाण से जाना जाता है।

३.लोकायतिकगण कहते हैं—**'पृथिव्यादिभूतचतुष्टयसमुदाय आत्मा'**। वह असङ्गत है। कारण भूतचतुष्टयसमुदायसङ्घातस्वरूप होने से वह आत्मा हो

नहीं सकता, जैसे धान्यादि राशि सङ्घातस्वरूप बोलकर आत्मा नहीं, ठीक वैसे ही भूतचतुष्टयसमुदाय भी सङ्घातस्वरूप बोलकर आत्मा नहीं।

४. वैभाषिक बौद्धगण कहते हैं 'क्षणिक बाह्यार्थ ही आत्मा है' उनका यह मत भी सङ्गत नहीं है, कारण जो बाह्यार्थ है, वह भौतिक जड़ वस्तु है। जो जड़ है वह आत्मा नहीं, जैसे घटादि जड़ वस्तु आत्मा नहीं। अतएव क्षणिक बाह्यार्थ ही आत्मा है—यह कह नहीं सकते।

५.योगाचार बौद्धगण कहते हैं—क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है। वह भी असङ्गत है। कारण जो क्षणिक है, वह आत्मा नहीं हो सकता, जैसे शब्दादि क्षणिक वस्तु आत्मा नहीं।

६.माध्यमिक बौद्धगण कहते हैं—'शून्य ही आत्मा है' वह भी सङ्गत नहीं। कारण शून्य जड़ होने से वह आत्मा नहीं हो सकता, जैसे—आकाश।

७.कई विद्वान् कहते हैं—'इन्द्रियगण ही आत्मा है'; यह भी युक्तियुक्त नहीं है। कारण आत्मा सभी अवस्था में अनुगत होती है। किन्तु इन्द्रियगण सुषुप्त्यादि में लय हो जाते हैं, वह पूर्वावस्था में अनुगत नहीं। अतएव इन्द्रियगण आत्मा हो सकते नहीं। जैसे—कुठरादि। ज्ञानेन्द्रिय के ज्ञान का करण, कर्मेन्द्रिय के कर्म का कारण। जैसे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय बाह्यकरण, आत्मा नहीं, ठीक वैसे अन्तःकरण कहकर मन, बुद्धि और आत्मा नहीं।

८. कई विद्वान् कहते हैं—'प्राण ही आत्मा है'। यह भी असङ्गत है। जिस कारण प्राणवायु होने से जड़ पदार्थ है, अतएव प्राण, आत्मा नहीं हो सकता।

९. तार्किक गण (नैयायिक और वैशेषिकगण) कहते हैं—देहेन्द्रियादि से भिन्न ज्ञानेच्छा प्रयत्नादि का आश्रय प्रतिदेह में भिन्न विभु परिमाण द्रव्यविशेष ही आत्मा है। किन्तु आत्मा विभु अर्थात् सर्वव्यापी तो चैत्र के चरण में प्रविष्ट कण्टकादि का जन्य चैत्र के दुःखानुभव काल में सबको ही दुःखानुभव की आपत्ति होगी, कारण सर्व शरीर में स्थित सकल आत्मा ही चैत्र के चरणदेश में वर्तमान है और केवल चैत्र को ही दुःखानुभव होता है; सकल आत्मा को होता नहीं। अतएव प्रतिदेह में भिन्न आत्मा विभुपरिमाण हो सकता नहीं।

१०.कुमारिलभट्ट-प्रभृति मीमांसकगण कहते हैं—आत्मा विभु और

बहुत एवं मन भी आत्मा के समान विभु है; किन्तु मन और आत्मा दोनों ही विभु होने से समस्त मन के सहित समस्त आत्मा का संयोग स्वीकार करना पड़ेगा, उसमें सुख-दुःख भोगव्यवस्था की अनुपपत्ति होगी और आत्मा मन दोनों ही विभु होने से आत्मा और मन दोनों ही इन्द्रियसमूह का विषयसमूह के साथ सर्वदा ही संयोग है, कहा जाता है। सुतरां उसमें श्रवण-स्पर्शनादि ज्ञान का युगपत् उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा। अतएव आत्मा-मन दोनों ही विभु है, इस प्रकार जो कुमारिलभट्टादि मीमांसकगण कहते हैं, वह असङ्गत है।

११.अद्वैतवेदान्तिगण कहते हैं—जीव निर्विशेष निर्धर्मक स्वप्रकाश चेतन ब्रह्मस्वरूप है। जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं, जीव अणु नहीं, विभु, बहुत नहीं, एक है। जीव को विभु कहने से जो दोष होता है, वह **'अणु हि जीवं' 'एष अणुरात्मा'** इत्यादि व्याख्या में स्पष्ट है।

'श्रीमद्भागवते निम्बार्कवेदान्तसमन्वयः हिन्दीभाषानुवादसहितः'[१] नामक ग्रन्थ में 'अणुत्वपक्ष' स्थापित है।

शास्त्रों में बताया गया है कि मनुष्यों की मृत्यु के बाद उनके कर्मभेद से तीन प्रकार की गति होती है। १.ब्रह्मज्ञान के निमित्त श्रीगुरु की शरण में जाते हैं, उनके शरणापन्न होते हैं। सद्गुरु के उपदेश प्राप्त होकर तदनुसार कार्य करने से ही ब्रह्मज्ञान का लाभ होता है। तर्क के द्वारा ब्रह्मज्ञान लाभ नहीं किया जा सकता। जो सद्गुरु का कृपालाभ करके उनके उपदिष्ट साधन के द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं, वे देवयानपथ से (अर्चिरादि मार्ग से) गमन करते हैं। वे उस परमधाम को पाकर इस मृत्युमय संसार में फिर जन्म ग्रहण नहीं करते हैं. वे जन्म-मृत्यु से मुक्त होकर ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप में स्थितिलाभ करके निरवच्छिन्न भाव में आनन्द उपभोग करते हैं, उसमें वे अनन्त ब्रह्मसुख एवं ब्रह्मानन्द में रहते हैं। यही मोक्ष है। श्रीकृष्ण की प्राप्ति है, यही प्रयोजन है। इससे यही सिद्ध होता है कि देवयान-मार्ग के द्वारा जाने वाले श्रीभगवान् के उपासक परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण को ही प्राप्त होते हैं, इसीलिये ग्रन्थकार ने कहा हैं—

कृष्णप्राप्तिरेव प्रयोजनम्।

अतएव श्रीभगवान ने स्वयं ही कहा है—ज्ञान और तपस्या से पवित्र हुए बहुतेरे महात्मा लोग मेरे भाव को प्राप्त हो चुके हैं (गीता ४/१)।

---

१. **प्रकाशक**—सुखचर काठियाबाबा आश्रम, सुखचर, जि०-उत्तर, २४ परगना, पश्चिम बंगाल।

२.जो इष्टापूर्त्तादि कर्मानुष्ठान करने वाले हैं वे पितृयानमार्ग के द्वारा चन्द्रलोक में जाते हैं एवं पुण्यफलसुखभोगान्ते अर्थात् पुण्यक्षय होने पर सूक्ष्म अप् रूप शरीर को आश्रय करके आकाश में पतित होते हैं। आकाश को प्राप्त होते हैं। आकाश से वायु को, वायु से धूम को, धूम से बादल को, बादल से मेघ को आश्रय करते हैं। उसके बाद मेघ से वृष्टि (वर्षा) को आश्रय करके पृथिवी पर गिरते हैं। उसके बाद वे जीव इस लोक में व्रीहि=धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल-प्रभृति खाद्य वस्तु होकर उत्पन्न होते हैं। वही व्रीहि-प्रभृति को जो-जो जीव उस अन्न को खाता है, वही क्रमशः पुरुष के मध्य में शुक्ररूप में परिणत होता है। उसके बाद पुरुष जब स्त्री-सम्भोग करते हैं तब स्त्रीगर्भ में वही शुक्र क्षरित होता है एवं पूर्वोक्त प्रकार से जन्म ग्रहण करता है। इस स्थल पर लक्ष्य करने का विषय यह है कि एक ही खाद्य वस्तु पुरुष और स्त्री दोनों ही भक्षण किये हैं। लेकिन पुरुष के मध्य में ही वह शुक्ररूप में परिणत हुआ, किन्तु स्त्री के मध्य में शुक्र न होकर रजरूप में बदल गया। इस रूप में ही व्यवस्था श्रीभगवान् ने स्वयं की है। स्वर्ग की इच्छा वाले मनुष्य यज्ञ के पुण्य से प्राप्त बहुत बड़े स्वर्ग और वहाँ के सुख को भोगकर, उस भोग के देने वाले पुण्य के क्षीण हो जाने पर, फिर पुण्य बटोरने के लिये इस कर्मभूमि संसार में जन्म लेते हैं। फिर भी गर्भवास आदि के प्रबल दुःखों को उठाते हुए ऋक्, यजु और साम में कहे कर्मकाण्ड द्वारा प्रतिपादित धर्म के अनुष्ठानों को भोगप्राप्ति की इच्छा से करते हैं। इस प्रकार ये इष्टपूर्तादि कर्मानुष्ठानकारी लोग आवागमन ही में पड़े रहते हैं। अर्थात् कर्म करके उस फल को भोगने के लिये स्वर्ग जाते हैं। वहाँ सुख भोगकर पुण्य क्षीण होने पर फिर संसार में आकर कर्म करते हैं। इस ढंग से जन्म-मरणरूप संसार में ये सदा दुःख भोगा ही करते हैं। (अस्मत्पूर्वाचार्यप्रणीत गीतातत्त्व प्रकाशिका टीका)

३.इष्ट-पूर्तादि सत्कर्म नहीं करते, वे पुनः-पुनः आवर्त्तनशील क्षुद्र प्राणी मशकादि रूप में जन्म-लाभ करते हैं एवं जन्मग्रहण करके शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होते हैं[1]। इस त्रिविध गति के वर्णन के द्वारा यही निश्चय होता है कि ईश्वरानुभूति अथवा श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं होती, उपरोक्त प्रकार से पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु होती रहती है।

---

१. द्रष्टव्य—छा०उ०५म अ०१०म खण्ड एवं ब्रह्मसूत्र ३/१।

इस जन्ममृत्युरूप संसारप्रवाह के द्वारा ब्रह्म इस विश्व की सृष्टि-स्थिति लय अनादि काल से अनन्त काल-पर्यन्त अव्याहत रखा है। गीताशास्त्र में स्वयं श्रीभगवान् ही ने कहा—गुरुशास्त्र के उपदेश के अभाव से सर्वोपास्य भगवान् वासुदेव है। इस बात को न जानकर, मेरे विषय में ज्ञान न होने के कारण वह अधम कुत्ता, सूअर आदि योनिरूप फल को पाता है।

इतना ही नहीं, अपने आपातमनोरम वाक्जाल में फँसकर मन में काम-वासना पैदाकर श्रीभगवद्-उपासना के प्रति अश्रद्धा पैदा करते हैं। ऐसे ही मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगने के लिये बाध्य होकर सूअर, सियार, वानर, विलार आदि नीच योनियों को तथा इससे और निकृष्ट अधम योनियों को प्राप्त होते हैं।

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं राधालिङ्गितविग्रहम्।
श्रीनिवासं सदा वन्दे गुरुं राधाविहारिणम्।।

कान्ति से कृष्णवर्ण=श्यामतेज राधाविहारी कृष्ण, अकृष्ण=गौरतेज वृषभानुसुता राधा जिनके वक्षःस्थल पर निवास करती हैं, जो राधा के सहित सदा विराजमान रहते हैं, ऐसे सर्वाराध्य राधाकृष्ण की और परमाराध्य सद्गुरुदेव योगिराज श्री१००८ स्वामी राधाविहारीदासजी काठियाबाबा महाराज की मैं सदा वन्दना करता हूँ।

सिद्धतां सूचयति प्रमाणं च स्मृतिः अतीतानागताश्च यावतः सहिताः क्षणाः। ततोऽप्यनन्तगुणता जीवानां राशयः पृथगिति तदेवं जीवस्वरूपं निरूपितं परन्तु अघटनघटनापटीयस्या गुणमय्याः हरेर्मायायाः संसर्गेणा-न्यथात्वमपि जीवे प्रतीयते तच्च श्रीभगवदनुग्रहादेव निवर्त्तत इत्याह द्वितीयश्लोकेन श्रीभगवान् सुदर्शनचक्रावतारो निम्बार्काचार्यः—

अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्।
मुक्तं च बद्धं किल बद्धमुक्तं प्रभेदवाहुल्यमथापि बोध्यम्।।२।।

अनादिमायया परियुक्तं=संयुक्तं संवलितं रूपं=स्वरूपं यस्य तमेनं= जीवजातं प्रसादात्=अनुग्रहात् श्रीभगवतः मुक्तं=निरतिशयानन्दरूपं मुक्तिमन्तं बद्धं=स्वाभाविक्यनिमित्तापरिच्छिन्नेन्द्रियवन्तं सनकादयः विदुः, इति शेषः।

व्याख्या—वस्तु की सिद्धि के लिये प्रमाण की सूचना स्मृति, अतीत,

अनागतसहित और जितने क्षण बीत चुके हैं, उससे भी अनन्त गुण जीवों की पृथक् राशि हैं। वही जीव-स्वरूप निरूपित है। परन्तु अघटनघटना-पटयसी गुणमयी श्रीहरि की माया के सम्बन्ध से जीव में अन्यथाभाव भी प्रतीत होता है और वह श्रीभगवान् के अनुग्रह से ही निवृत्त (दूर) होता है। श्रीभगवान् के अनुग्रह से ही जीव का स्वरूप मालूम होता है। माया को लाँघकर अपना स्वरूप मालूम होना साधारण जीव को सम्भव नहीं है।

जो बहुत सौभाग्यवान् सद्गुरु की शरणापन्न होकर श्रीभगवान् में आत्मनिवेदन कर चुके हैं, वे ही एकमात्र श्रीभगवत्कृपा से माया से उत्तीर्ण हो सकते हैं। कवि मुनि राजा निमि से कहते हैं—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो वुध आभजेत्तं भकत्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा।।

(श्रीमद्भा० ११/२/३७)

श्रीभगवान् की माया के प्रभाव में श्रीभगवद्विमुख व्यक्ति का भगवत्स्वरूप का और अपने स्वरूप का और जगत् का ब्रह्मात्मकरूप स्वरूप का ज्ञान तिरोहित होता है। जिसके फलस्वरूप उनकी बुद्धि का विपर्यय होता है अर्थात् अपने देह में आत्मबुद्धि और जागतिक पदार्थ में भोग्यबुद्धि उत्पन्न होती है। इस प्रकार अनात्म में आत्मबुद्धि और भोग्यबुद्धि से (द्वितीयाभिनिवेशतः) उनका भय उत्पन्न होता है। उस भय की निवृत्ति के लिये विवेकी पुरुष श्रीगुरु और श्रीभगवान् में आत्मज्ञान करके ऐकान्तिक भक्ति से श्रीभगवान् का भजन करें। तभी भगवत्प्रसाद से माया को अतिक्रम कर सकते हैं।

सुदर्शनचक्रावतार जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य उसे दूसरे श्लोक में कहते हैं—अनादि माया से जीव का स्वरूप परियुक्त=संवलित है। इसे श्रीभगवान् के अनुग्रह से ऊर्ध्वरेता सनकादि जानते हैं। जीवों के भेद बतला रहे हैं—१.मुक्त जीव निरतिशय आनन्दरूप मुक्तिमान, २.बद्ध जीव स्वाभाविक अनिमित्त अपरिच्छिन्न इन्द्रियवान और ३.बद्धमुक्त जीव। इन जीवों को आजन्म नैष्ठिक, ब्रह्मचारी भगवान् सनक सनन्दन सनातन सनत्कुमार परमात्मा की कृपाप्रसाद से जानते हैं। फिर भी बद्धमुक्त भेद से बहुत जानना चाहिये। इस प्रकार अनन्त जीवों के स्वरूप का निरूपण किया गया। अनादि माया के सम्बन्ध में श्रुति का कथन है—

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/८)

माया और जीव ये दोनों ब्रह्म की भाँति अनादि हैं। माया और जीव दोनों ब्रह्म की ही शक्तियाँ हैं। प्रकृति=माया और पुरुष=जीव दोनों को ही अनादिरूप से जानना (गी०१३/१९)। जब श्रीभगवान् प्रकृति के साथ विहार करते हैं, तब यह संसारप्रवाह चलता है। जिस शक्ति के द्वारा परमेश्वर जगत् का कार्यसाधन करते हैं, उनकी उस स्वरूपभूता शक्ति का नाम शास्त्र ने 'माया' रखा है। 'मीयते अनया' इस अर्थ में 'मा' धातु के उत्तर करण वाच्य में 'यत्' प्रत्यय लगाकर उसके आगे स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय जोड़ने से 'माया' शब्द बनता है। परिमित करना, जानना इत्यादि 'मा' धातु का आभिधानिक अर्थ है। और 'प्रकृति' शब्द का अर्थ है—**प्रकर्षेण करोति इति प्रकृतिः**। इस अर्थ में परमात्मा श्रीकृष्ण की दिव्य वाणी ही सदा की भाँति हमें समन्वय की कुञ्जिका प्रदान करती है—**मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्** (गी०९/१०)। हे कौन्तेय! प्रकृति में मेरा अधिष्ठान रहने से प्रकृति चराचर जगत् की सृष्टि करती है। माया शब्द का परिमित करना अर्थ मानने से जो अपरिमेय अनन्त है, उसको जो शक्ति परिमित-परिच्छिन्न रूप में प्रतिभात कराती है, वही माया शब्द का वाच्य है और जानना अर्थ लेने से जो बुद्धि को भी अगम्य अरूपी और अनन्त है, वह जिस शक्ति के द्वारा रूपविशिष्ट ज्ञानगम्य रूप से अर्थात् अतीत रूप से प्रतिभात होता है, उस शक्ति का ही नाम माया है। 'मा' धातु के दोनों ही अर्थों का फल एक ही है। जिस शक्ति के द्वारा श्रीभगवान् स्वयं अव्यक्त, अरूपी रहकर भी रूपविशिष्ट जगत् को अविकृत अपने में से प्रकट कर देते हैं, वही उनकी माया शक्ति है। यह शक्ति उनकी निज स्वरूपगत शक्ति है। जब यह जगत् के बीजरूप में वर्णित होती है, तब इसी को 'प्रकृति' कहते हैं। अतएव श्रुति ने कहा है—**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्** (श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/१०)। उसी श्रुति के प्रथम अध्याय के द्वितीय मन्त्र में उक्त शक्ति को देवात्मशक्ति कहा है। माया तथा प्रकृति देवशक्ति एवं आत्मशक्ति=ब्रह्म की शक्ति है—ऐसा जानना चाहिये और ब्रह्म माया और प्रकृति के नियन्ता हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (७/१४) में **दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।** श्रीमद्भागवत (१०/१/२५) में **विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्।**

यह त्रिगुणात्मिका और अलौकिक मेरी माया को अतिक्रमण करना अवश्य ही अत्यन्त कठिन है। भगवान् श्रीविष्णु की ऐश्वर्यशालिनी गुणमयी माया है, जिससे जगत्=संसार में जीव सम्मोहित हो रहे हैं। जीव श्रीभगवान् की इसी गुणमयी=त्रिगुणात्मिका माया से मोहित हो जाते हैं। ये जीव माया के चक्कर में पड़कर अपने में अन्यथाभाव को देखते हैं, जैसे जड़ त्रिगुणात्मक देह में ही आत्मबुद्धि करके देखना, जीवात्मा माया से परे है। जरा ध्यान देकर श्रीशुक शास्त्र में देखिये; ब्रह्मज्ञानी जड़भरत से राजा रहूगण का दो घड़ी का मेल हुआ और राजा के मन में जो अविवेक था, वह समूल नष्ट हो गया। बहुत तर्क-वितर्क-कुतर्क होना विवेक का लक्षण नहीं है, वह अविवेक का लक्षण बताया गया है—**दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः आत्मन्य-विद्याऽध्यारोपितां च देहात्ममति विससर्ज** (भा०५/१३/२२/२५)। राजा रहूगण ने अपने में जो अज्ञान अध्यारोपित देहात्म-बुद्धि थी, उसका उन्होंने परित्याग कर दिया। यही है हरि की माया के संसर्ग से अन्यथाभाव जीव में मालूम होना। जिसे देहात्मबुद्धि अथवा देहात्ममति कहते हैं। उसका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। पहले ही कह चुके हैं कि जीव का स्वरूप श्रीभगवान् की अघटन-घटना-पटीयसी अनादि माया के द्वारा आच्छादित है; केवल मात्र भगवत् अनुग्रह से ही जीव का स्वरूप अवगत होता है। अर्थात् जीव अपने स्वरूप को पहचान सकते हैं, जान सकते हैं। श्रीभगवत्कृपाप्रसादलाभ का सहज उपाय यह है कि श्रीभगवान् के शास्त्रमुख में उपदिष्ट आदेश का पालन एवं श्रीभगवान् के ही अभिन्न प्रकाश श्रीगुरु में सर्वतोभाव में आत्मसमर्पण करके उनकी आज्ञापालन करते रहना। इस प्रकार जो करते हैं, उनके प्रति श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं एवं उस भगवत्प्रसन्नता के फल से ही वे आत्मज्ञान- लाभ करते हैं।

इस बात को बुद्धिस्थ तथा हृदयङ्गम करने के लिये ही राजा रहूगण एवं ब्रह्मज्ञानी जडभरत का प्रसङ्ग उद्धृत किया है।

श्रीभगवदनुग्रहश्च द्विविधः सर्वदा सुखरूपो मदस्तम्भादिभ्रंशरूपश्च मानस्तम्भादिनिमित्तानां सत्त्वेऽपि तैः पुनर्मोहाभावः प्रथमः; स च प्रियव्रतध्रुवप्रह्लाद दिषु; द्वितीयस्तु दृढस्तम्भमानादिसंसाररोगवत्स्विन्द्रादिषु यथा श्रीमद्भागवते मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता। (१०/२७/१५)

मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्र श्रिया भृशम्। इति श्रीभगवदुक्तेः, पुनरपि स द्विविधः साधनाधीनः साध्याधीनश्च। आद्यो मन्दीकृतस्तम्भादौ दैन्यसाध्यः, अन्यसाधनहीनेषु श्रीभगवदिच्छयापरः, ननु श्रीभगवदनुग्रहो व्यापकः परिच्छिन्नो वा नाद्यः सर्वेषु तदापत्तेः, नान्तः अकिञ्चित्करत्वादिति चेन्न; यतो व्यापकस्यापि श्रीभगवदनुग्रहस्य वेदान्तश्रवणादिवासितान्तःकरणेन भक्तिमत्येव सम्बन्धो जायते।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—श्रीभगवान् की कृपा दो प्रकार की है, हमेशा हर हालत में प्रसन्न रहना, सुखरूप में विराजना, किसी निमित्त से मिटे नहीं, हर हालत में बना रहे। जिनके पास विद्या है, अर्थ है, रूप है, कुलीनता है, परन्तु हेकड़ी नहीं है और उनमें उद्दण्डता कभी नहीं आती और वे मान-स्तम्भ से रहित हैं। शास्त्रकारों ने चार प्रकार की बातों को मद बढ़ाने वाला बताया है—एक कुलीनता, दूसरी हुकूमत, तीसरी विद्या और चौथा धन। मनुष्यों में जब इन चारों चीजों का मद आ जाता है तब वे अभिमानी स्तम्भ मूर्ति का मानों साक्षात् मूर्तिमान ही हैं। उनको भगवान् श्रीहरि का मङ्गलमय नाम नहीं भाता, वे नशे में रहते हैं। स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत, राजा उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव और हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद आदि में ऊपर बताये गये सारे गुण रहते हुए भी इन पुरुषों में मोह नहीं था। श्रीभगवान् ब्रह्माजी से कहते हैं—मनुष्य योनियों में जन्म लेकर यदि कुलीनता, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धन आदि के कारण घमण्ड न हो जाय तो समझो कि उनपर मेरा बड़ा अनुग्रह है (भा०८/२२/२६)। ऐसे व्यक्ति ही श्रीभगवान् के कृपापात्र होते हैं। प्रह्लाद असुरबालक होने पर भी आसुर भाव से रहित, शान्त, ब्रह्मण्य, शीलसम्पन्न, सत्यसन्ध, जितेन्द्रिय महाभागवत थे। यह पहला अनुग्रह है। दूसरा—दृढ़ स्तम्भ मानादि संसार रोगों की भाँति इन्द्रादि देवों में जैसे श्रीमद्भागवत शास्त्र में वर्णित है—भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे मघवन्! मैंने तुम्हारे लिये किये जा रहे जिस यज्ञ को भङ्ग किया था, वह तो वैदिक है। वैदिक यज्ञ भङ्ग नहीं किया जाना चाहिये। लेकिन हे इन्द्र! तुम ऐश्वर्य और धन-सम्पत्ति के मद से पूरे-पूरे मतवाले हो रहे थे। इसलिये मैंने तुम्हारे यज्ञ का नाश कर तुमपर अनुग्रह करने, तुम्हारा मतवालापन दूर करने और तुमको हमेशा मेरी याद आती रहे—इसके लिये किया था। जो ऐश्वर्य और लक्ष्मी के

अभिमान से अन्धे हो जाते हैं, वे मुझ दण्डपाणि को नहीं देखते हैं, इसलिये उनको धन-सम्पत्ति से रहित कर देता हूँ। इसलिये कभी घमण्ड नहीं करना चाहिये। 'स्तम्भ' शब्द का अर्थ है—खम्भा। खम्भा कभी झुकता नहीं, यही अभिमानी का लक्षण है। यह देवराज इन्द्र के प्रति श्रीभगवान् की उक्ति है। फिर भी वह अनुग्रह द्विप्रकारक है—साधनाधीन और साध्याधीन। पहला तो घमण्ड व अभिमान को आने न दे। बड़ों के श्रीचरणों में सिर झुकाकर प्रणाम करे। सभी जनों में ईश्वर की भावना रखे और दीनों से प्रेम करे। श्रीभगवान् की कृपा से ही दैन्यादि गुण उपजात होता है और अन्य साधनहीनों में श्रीभगवान् की इच्छा से उपजात होता है। जैसे यज्ञपत्नियों को श्रीभगवान् की कृपा से दर्शन सुलभ हुआ। यहाँ शङ्का है कि श्रीभगवान् का अनुग्रह व्यापक है अथवा परिच्छन्न है? यदि कहो कि व्यापक है तो सभी पर अनुग्रह होना चाहिये तो पहला व्यापक नहीं है और अन्त भी नहीं; अत: कुछ नहीं कर सके। **'इति चेत् न'** कहकर समाधान करते हैं। चूँकि व्यापक का भी श्रीभगवान् का अनुग्रह वेदान्त का श्रवण, मनन और निदिध्यासन से विशुद्ध चित्त से परिपक्वा भक्तिमति ही सम्बन्ध है। परमात्मा के बारे में जब हम श्रवण करेंगे तभी हमारे हृदय में प्रकट होगा। वह सबके हृदय में सदा बैठा ही है—**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्** (गीता १३/१०) इसलिये श्रद्धा की आवश्यकता पड़ती है। पहले श्रद्धा करें—

श्रद्धान्वितो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्।

(माध्यन्दिनशतपथ)

श्रद्धायुक्त श्रद्धावान होकर आत्मा में ही आत्मा=परमात्मा को देखें। मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य श्रीभगवद्दर्शन व ईश्वरानुभूति है। परमात्मा की प्राप्ति में मुख्य साधन श्रद्धा ही है। श्रद्धा के साथ ही निष्ठा भी रहनी चाहिये। अत: श्रद्धावान, निष्ठावान होकर ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के श्रीमुख से सुनकर निरन्तर मनन-चिन्तन करें—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/५) इत्यादि श्रुतिशास्त्र ने ब्रह्मदर्शन के लिये उपदेश किया है और यही श्रीभगवान् के अनुग्रह की व्यापकता है।

नान्यत्र यथा तार्किकमते व्यापकस्यापि गोत्वादेः सास्नादिमत्येव सम्बन्धो नान्यत्र तद्वत् यत्र श्रवणादिना दृश्यते अनुग्रहश्च दृश्यते तत्र जन्मान्तरीयं

तत्कल्पनीयम्। किञ्च यथा पृथ्वी जलव्याप्ता सर्वदैवाविशेषतः। निम्नस्थले दृश्यते हि समक्षमुदकं स्वयं श्रीकृष्णकृपातन्निसर्गाद् दैन्यनम्रेषु च तथेति श्रीसनत्कुमारवचनाद् दैन्यनम्रेष्वेव श्रीभगवदनुग्रहो नान्यत्रेति सिद्धम्! अथ बद्धमुक्तप्रभेदबाहुल्यं बोध्यम्। अपि शव्दोऽवधारणे। यद्यपि बद्धमुक्तयोर्मध्ये मुक्तस्यैव प्राधान्यं तथापि प्रत्यक्षत्वाद् बद्धस्य प्रथमउद्देशः। तत्र बद्धाः अनादिकर्म-वासनाजन्यदेवतिर्यङ्मनुष्यस्थावररूपचतुर्विधशरीरीवत् सम्बन्धिष्वहन्ताममतावन्तः। ते च द्विविधाः मुमुक्षवो बुभुक्षवश्चेति विविधसांसारिकदुःखसन्दर्शनेन विरक्ताः सन्तः संसारान्मोक्षमिच्छवो बुभुक्षवः। तेऽपि द्विविधाः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—सर्वशक्तिमान परमात्मा का श्रवण करना चाहिये। श्रवण-कीर्तन के द्वारा उसका स्मरण करना चाहिये, उसका मनन करना चाहिये। श्रवण-कीर्तन-स्मरण-मनन से प्राप्त श्रीहरि का निरन्तर निदिध्यासन=ध्यान करना चाहिये। यह अपूर्व विधि अन्यत्र नहीं है। जैसे तार्किकों के मत में गोल आदि व्यापक भी छालर (गला) सीङ्ग, काधोर गौओं में ही सम्वन्ध है; अन्यत्र नहीं है, वैसे ही यहाँ श्रवण आदि नहीं दिखाई पड़ते और अनुग्रह देखा गया है, वहाँ दूसरों जन्मों में उनकी कल्पना करनी चाहिये। देखिये वृत्रासुर की वात प्रमाण है—

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः।।
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययाऽऽमात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्।।

(भा०६/११/२३/२७)

वृत्रासुर कहते हैं—हे इन्द्र! मैं अपने स्वामी के स्वभाव को पहचानता हूँ। हमारे स्वामी का यह स्वभाव है कि जव कई धर्म के लिये, अर्थ के लिए, भोग के लिये प्रयास करने चाहते हैं, तव वे उनके सारे प्रयास को निष्फल कर देते हैं। श्रीभगवान् जिनका सव प्रयास निष्फल कर दें, समझना चाहिये कि उन पर श्रीभगवान् प्रसन्न हैं—अनुमेयः भगवत्प्रसादः। उनका यह कृपाप्रसाद केवल त्यागी भक्तों को ही मिलता है—अकिञ्चनगोचरः। दूसरों के लिये दुर्लभ है। हे पुण्डरीकाक्ष! मुझे तो यह चाहिये कि अपने कर्मानुसार मैं जहाँ कहीं भी रहूँ, जिस योनि में जाऊँ, वहाँ आपके प्यारे भक्तजनों से मेरी मैत्री बनी रहे।

हे नाथ! इस शरीर में, पुत्र में, स्त्री में, घर में मेरी कभी आसक्ति न हो और आपकी माया मुझपर कभी प्रभाव न डाले। आगे ग्रन्थकार कहते हैं—जैसे पृथिवी जल से हमेशा भरी है; इसमें कोई विशेषता नहीं है। निम्न स्थल में ही स्वयं प्रत्यक्ष जल देखा जाता है। चूँकि पानी हमेशा ही नीचे की ओर गिरता है—निम्न आप इव स्वयम्। वैसे ही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा उसके स्वभाव से ही दैन्य विनम्र में है ही तथा भगवान् श्रीसनत्कुमार के वचन से दैन्य विनम्र में ही श्रीभगवान् का कृपाप्रसाद अनुग्रहसिद्ध है, जो अन्यत्र नहीं है। तद्यथा—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूययेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(भा० ११/१४/१६)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे उद्धव! जो निरपेक्ष हैं, मुनि हैं, शान्त हैं, निर्वैर हैं, समदर्शी हैं, मैं उनके पीछे-पीछे चलता हूँ; ऐसे भक्तों के श्रीचरणों की धूलि मुझ पर पड़ जायेगी तो मैं पवित्र हो जाऊँगा। श्रीभगवान् अनन्य परम भक्तों के पीछे-पीछे चलते हैं और उनके चरणों की धूलि सिर से लगाते हैं। यह दैन्य विनम्र स्वभाव के कारण भक्त तो अपना सर्वस्व, अपना सब कुछ उसके लिये समर्पित कर देते हैं और वे अकिञ्चन-निष्किञ्चन दास सेवक स्वयं कहलाते हैं। इसका भाव गीताशास्त्र में देखिये—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

हे अर्जुन! जो भक्त जिस प्रकार से (सकाम और निष्काम भाव से) मेरी उपासना करते हैं, मैं उनको उसी प्रकार से ही अनुग्रह करता हूँ।

इसके आगे बद्ध मुक्तों के बहुत भेद हैं। उन भेदों को जानना चाहिये। **'प्रभेदबाहुल्यमथापि बोध्यम्'** यहाँ अपि शब्द अवधारणा में है। बद्ध और मुक्तों के मध्य में मुक्तों का ही प्राधान्य है। फिर भी बद्ध जीव प्रत्यक्ष हैं, इसलिये पहले उनका स्वरूप निरूपण करते हैं। उसमें बद्ध जीव अनादि कर्मों की वासना से बने देवता, पशु, पक्षी, मनुष्य, स्थावररूप चार प्रकार के देहों में और उनके सम्बन्ध के गेह-देह, बेटा-बेटी-स्त्री धनादि में ममता वाले हैं। ये बद्ध जीव विषयों में आसक्त होकर इतना रम जाते हैं कि वे अपनी मौत को भी नहीं देखते हैं और भूल जाते हैं कि इस शरीर के साथ मृत्यु लगी है।

अहन्ता और ममता वाले वे दो प्रकार के जीव होते हैं—मुमुक्षु और बुभुक्षु। नाना प्रकार के सांसारिक दुःखों को देखकर विरक्त होकर संसार से छुटकारा चाहने वालों को मुमुक्षु कहते हैं। वे भी दो प्रकार के हैं। **मुमुक्षुर्वै ब्रह्मोपासीत**=अर्थात् मुमुक्षु ब्रह्म की उपासना करे।

ज्ञानसाधनश्रीभगवत्परिकरसाधनश्च तत्र ज्ञानसाधनाः वर्णाश्रमोचितकर्मयोगानुष्ठानसमुत्थितगङ्गाप्रवाहवदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपसाक्षात्कारपर्यन्तभक्तिनिष्ठावन्तः, ते च द्विविधा उपासका औपनिषदाश्चेति। तत्रोपासकाः श्रीरामचन्द्रनृसिंहहयग्रीवाद्यावतारमन्त्रविहितध्यानपूजनपुरश्चरणादिनिष्ठावन्तः, औपनिषदास्तु श्रवणमननिदिध्यासनैकनिष्ठाः। एतेषु श्रीभगवल्लीलागुणरूपादिसाक्षात्कारप्रतिबन्धकान्मोक्षमिच्छवान्तरभावनीयाः श्रीभगवत्परीकरीसाधनास्तु ज्ञानकर्मादीनां प्रधानसाधनत्वमनङ्गीकृत्य करुणावरुणालयं गुरुमेवोपायं मत्वा कञ्चन सम्बन्धविशेषं लब्ध्वा मुक्तिनिश्चयवन्तः, एते च सर्वे च प्रत्येकं चतुर्विधाः आर्त्ता जिज्ञासवोऽर्थार्थिनो ज्ञानिनश्च। अथ बुभुक्षवो वैषयिकानन्दमिच्छवः; ते च योग्यायोग्यभेदेन द्विविधाः; तत्र योग्यानां श्रीभगवन्निर्हेतुककृपाकटाक्षेण भाविनीयोग्यतावन्तः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—मुमुक्षु दो प्रकार के हैं। आवागमनरूप जन्म-मृत्युरूपी संसार से छुटकारा चाहने वालों को मुमुक्षु कहते हैं। एक तो ज्ञानसाधना, दूसरी श्रीभगवान् की परिकर-साधना। उसमें ज्ञानसाधना बताते हैं। वर्णाश्रम अर्थात् मनुष्य अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप जातिगत उचित कर्म-योग अनुष्ठान करके, गङ्गा के प्रवाह की भाँति अखण्ड स्मरण-परम्परारूप साक्षात्कार-पर्यन्त श्रीभगवद्भक्ति निष्ठा वाले भक्त, दो प्रकार के उपासक होते हैं।

पहला उपनिषद् गम्य ज्ञान श्रोतव्य मन्तव्य निदिध्यासितव्य इत्यादि। उसमें उपासक का उपास्य श्रीरामचन्द्र, श्रीनरसिंह, श्रीहयग्रीव आदि अवतारों के मन्त्रविहित ध्यान-पूजन-पुरश्चरण आदि में श्रद्धा-निष्ठा-दृढ़विश्वास ही संसिद्धिरूप श्रीभगवत्प्राप्ति है, यही मोक्ष है।

तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि (बृ.उ.३/९/२६)।

मैं तुमसे उस उपनिषद् प्रतिपादित पुरुष को पूछता हूँ। इत्यादि वेदान्तवचन से जाना जाता है कि ज्ञानसाधना में ज्ञानी श्रवण-मनन- तत्त्वचिन्तन में

एकनिष्ठ होते हैं; कारण श्रीभगवान् ने कहा है—

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् (गी०७/१८)

ज्ञानी तो आत्मा ही है—यह मेरा मत है। ज्ञानी के लिये परमात्मा के सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। चूँकि ज्ञानी अपने ज्ञान के द्वारा मुझ सर्वात्मा परमात्मा का भरण-पोषण करता है–**ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्** (भा०११/१९/३)। ज्ञानीजनों में श्रीभगवान् की लीला, गुण, नाम, रूप, धाम के साक्षात्कार में न रहे—ऐसी मोक्ष की इच्छा वालों को भी समझ लेनी चाहिये। श्रीभगवत्परिकर-साधना में तो ज्ञान-कर्मादिकों को प्रधान साधनापन अङ्गीकार न करके, करुणावरुणालय श्रीगुरुदेव को उपाय मानकर कोई सम्बन्धविशेष को प्राप्त कर मुक्ति-निश्चय कर लिये हैं। ये सब एक-एक चार प्रकार के हैं—१.आर्त=क्लेश में पतित अर्थात् शत्रुव्याधि आदि आपदाग्रस्त जन। जैसे जरासन्ध के कारागृह में बन्दी बीस हजार आठ सौ राजसमूह। द्यूतसभा में वस्त्राकर्षण के समय द्रौपदी, ग्राह से गृहीत गजेन्द्र। वृकासुर से पलायमान शिव। २.जिज्ञासु=ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक अर्थात् तत्त्वज्ञानार्थी मुमुक्षु; जैसे राजा विदेह जनक, राजा रहूगण, राजा यदु, राजा मुचुकुन्दादि। ३.अर्थार्थी=अर्थ को चाहने वाले। अर्थात् भोग-ऐश्वर्यविशिष्ट पद से भ्रष्ट, उसे चाहने वाले; श्रीभगवान् को जो भजते हैं। जैसे—इन्द्र, ध्रुव, सुग्रीव और विभीषण।

४.ज्ञानी=सम्यक् निर्णीत आत्म-परमात्मातत्त्व-विवेकज्ञ पुरुष श्रीभगवान् को ही परम प्राप्य जानकर भजते हैं। जैसे—सनकादि, देवर्षि नारद, श्रीशुकदेव, प्रह्लाद, पितामह भीष्मादि। ये ही पुण्य कर्म वाले चार प्रकार के भक्त श्रद्धा=प्रीति से युक्त होकर श्रीहरि को भजते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।
(गी०७/१७)

हे भरतकुलश्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरा भजन करते हैं—जैसे आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इसके आगे बुभुक्षु को बताते हैं। सांसारिक वैषयिक आनन्द को चाहने वाले वे योग्य और अयोग्यभेद से दो प्रकार के हैं। उसमें योग्य वे हैं, जिन पर श्रीभगवान् की निर्हेतुकी कृपा-कटाक्ष से भाविनी योग्यता वाले। बुभुक्षु लोग विषयों में आसक्त चित्त अपने-पराये की भावनायुक्त घर-गृहस्थी में लगे हुए रहते हैं। उनको रसनेन्द्रिय, जननेन्द्रिय

सुख ही प्यारे लगते हैं। अपने पराये का भेद बिल्कुल झूठा है। हमारी भारतीय संस्कृति में लिखा है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

महामति महात्मा विदुर धृतराष्ट्र के बुभुक्षुत्व को बता रहे हैं—राजन्! तुम्हारे सभी सम्बन्धी चले गये। तुम्हारे शरीर में बुढ़ापा आ गया। तुम दूसरे के घर में रह रहे हो, फिर भी तुमको जीने की आशा बनी हुई है। क्या तुम यह अनुभव नहीं करते कि घर के लोग कितने तिरस्कार से तुमको रोटी देते हैं—**भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत्** (भा० १/१३/२२)। जैसे कुत्ते को रोटी का टुकड़ा डाला जाता है, वैसे भीम द्वारा तुम्हारे पास भोजन आता है। तुम्हारे दुर्योधन आदि बच्चों ने जिन पाण्डव-सरीखे धर्मात्माओं को लाक्षा-भवन में बन्द करके जलवाने की और भरी सभा में द्रौपदी का बाल पकड़कर नङ्गा करने की कुचेष्टा की, जिनका खेत और धन लूट लिया और तुम्हारे पुत्रों ने जुए रूपी अधर्म से पाण्डवों को जीत लिया, उन्हें वनवास दे दिया। समय पूरा होने पर पाण्डव लौटकर आये; फिर भी तुमने उनका हिस्सा नहीं दिया। उन्हीं के दिये हुए भोजन से तुम अपना जीवन व्यतीत (गुजारा) कर रहे हो। फिर भी तुम्हारा यह शरीर अब रहने वाला नहीं है।

यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान्।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत्स नरोत्तमः।।
(भा० १/१३/२६)

जो अपने से अथवा दूसरों के उपदेश से उत्पन्न वैराग्य द्वारा श्रीहरि को हृदय में करके घर से निकल जाय, वह नरों में उत्तम आत्मवान कहलाता है। सम्प्रति श्रीहरि की अहैतुकी कृपाकटाक्ष को दिखलाते हैं—वृत्रासुर कहते हैं कि मैं श्रीभगवान् के चरणारविन्द में अपना मन लगाता हूँ—**अहं समाधाय मनो यथाऽऽह सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्दे** (भा० ६/११/२१)। हमारे आराध्यदेव भगवान् सङ्कर्षण ने जैसे मुझे बताया है—वैसे ही मैं उनके श्रीचरणारविन्द में अपना मन लगाऊँगा। **अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव।** श्रीमद्भगवत में एक भिक्षु ब्राह्मण ने यह निश्चय किया कि मेरे ऊपर श्रीहरि की निर्हेतुकी कृपाकटाक्ष है, जिससे मैं भगवान् श्रीमन्मुकुन्द के चरणारविन्द की सेवा से ही इस अज्ञानान्धकार को पार कर जाऊँगा। **मुक्तिं ददतीति मुकुन्दः।** अपने श्रीचरणकमलों की सेवा से भगवान् श्रीमन्मुकुन्द बहुत प्रसन्न होते हैं तो

भजन करने वाले को मुक्ति देते हैं—भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति (भा०५/६/१८)।

अयोग्या द्विविधाः नित्यसंसारिणो निरययोग्याश्च। तत्र नित्यसंसारिणो वृक्षादयः, निरययोग्या मनुष्येष्वधमा रक्षःपिशाचादयश्च। ते च द्विविधाः प्राप्तनिरया अप्राप्तनिरयाश्चेति। अथ मुक्ताः ते च द्विविधाः नित्यमुक्ताः मुक्ताश्चेति। तत्र नित्यमुक्तानां गर्भजन्मजरामरणादिदुःखमननुभूय नित्य-प्राप्यानन्दानन्दानुभवैकरसः यथा नन्दसनन्दादयः। मुक्तास्तु श्रीभगवदनुग्रहेण अनादेरज्ञानात्प्रमुक्ताः सालोक्यसारूप्यसामीप्यसार्ष्टिसायुज्यानुभववन्तः। ते च द्विविधाः गुणगानपराः सेवनपराश्चेति। तत्र गुणगानपरा भीष्मादयः सेवनपरास्तु वनमालादिनिर्माणक्रियापरा। एते च देवर्षिमनुष्यराजन्यादिभेदेन प्रत्येकमनेकविधाः। पुनः सर्वेप्येते चतुर्विधाः आर्तमुक्ताः जिज्ञासुमुक्ताः अर्थार्थीमुक्ताः ज्ञानीमुक्ताश्चेति। तत्रार्त्तमुक्ताः शिवानुयायिनः, जिज्ञासुमुक्ता ब्रह्मभृग्वादयोऽनुयायिनः, अर्थार्थिनः श्रीलक्ष्मीविष्वक्सेनादयोऽनुयायिनः। ज्ञानिमुक्तास्तु सनकादिनारदनिम्बादित्यानुयायिनः। तत्र नित्यमुक्ताः द्विविधाः पार्षदा आनन्तर्य्याश्च। पार्षदा गरुडादयः; आनन्तर्य्यास्तु किरीटकुण्डल-वश्यादयः, तेषां तु पुनरीश्वरेच्छानुगुणितनिजेच्छयाविग्रहादिपरिग्रहो मातापित्रादिसृष्टिरपि भवति। तथाहि—श्रुतयः स एकधा भवति अपरिमितधा भवति स यदि पितृलोककामो भवति। सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति स तत्र पर्येति, यक्षन् क्रीडन् रममाणः इमाल्लोकान्कामान् कामरूप्यनुसञ्चरन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् स ब्रह्मणा विपश्चितेत्याद्याः (तै०उ० २/११)।

भ्रमति खलु जनोऽयं संसृतो मायया ते।
त्वमतिकरुण ईशः कृष्णदाता वदान्यः।
सततमिदमहं त्वां प्रार्थये दीनदीनो
न भवतु पुनरस्याजातुशक्तेः प्रसारः।।

इति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्तकश्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीश्वरपादपीठसमलंकृत-श्रीश्रीभट्टपादपद्मपरागभृङ्गेण श्रीहरिव्यासदेवाचार्येण विरचिते वेदान्तसिद्धान्तरत्नाञ्जलौ प्रथमः परिच्छेदः।।१।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—अयोग्य दो प्रकार के हैं, जो नित्य संसार में बड़े पेड़-पौधे आदि और नरक के लायक मनुष्यों में अधम (नीच) जिनके रात-दिन धन की कमाई और स्त्रीसङ्ग में बिताने वाले राक्षस-पिशाचादि। वे दो प्रकार के हैं, एक तो नरक में पड़े हैं और दूसरे नरक में अभी पड़े नहीं। अब मुक्तों का वर्णन करते हैं। जिनके अज्ञान की निवृत्ति हो गयी है और देह-गेह आदि में अहंभाव एवं ममता दूर हो गयी है और अपने स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं, वे दो प्रकार के हैं—नित्यमुक्त और मुक्त जीव। नित्यमुक्त जीव वे हैं, जो मातृगर्भ जन्म-जरा (बुढ़ापा)-मरण आदि दुःखों को अनुभव न करके सदा-सर्वदा एक रस; प्राप्य आनन्दानन्दानुभव जैसे नन्द सुनन्द आदि। मुक्त जीव वे हैं, जो श्रीभगवान् की कृपाप्रसाद से नित्य अनादि कर्मात्मिका अविद्यारूप अज्ञान से मुक्त हुए हैं। सालोक्य आदि मुक्ति के पाँच प्रकार हैं—१.सालोक्य=श्रीहरि के साथ उनके लोक में रहना, २.सारूप्य=श्रीभगवद्रूप को प्राप्त होना, ३.सामीप्य=श्रीभगवान् के समीप रहना, ४.सायुज्य=श्रीभगवान् के समान गुण वाला होना, ५.सार्ष्टि=भगवान् श्रीहरि के अवतार के समय उनकी दिव्य लीलाओं में व्रज में जितने नन्दादि गोप हैं, वसुदेवादि वृष्णि-वंशी हैं, देवकी आदि यदुवंश की स्त्रियाँ हैं, वे सब-के-सब देवता हैं। ये सारे श्रीभगवल्लीला सृष्टि में इस धराधाम पर अवतरित होते हैं। वे दो प्रकार के हैं। एक श्रीभगवान् के स्वरूप-गुण-माहात्म्य का गान करने वाले भीष्मादि। दूसरे वनमाला आदि बनवाने वाले, और सब देव, ऋषि, मनुष्य, राजन्य आदि भेद से एक-एक में अनेक प्रकार हैं। फिर ये सब चार प्रकार के १.आर्तमुक्त २.जिज्ञासुमक्त ३.अर्थार्थीमुक्त ४.ज्ञानीमुक्त। उसमें आर्तमुक्त शिवानुयायी, जिज्ञासुमुक्ता ब्रह्मा-भृगु आदि के अनुयायी, अर्थार्थी श्रीविष्वक्सेन आदि के अनुयायी, ज्ञानीमुक्ता सनकादि नारद निम्बादित्य के अनुयायी। उसमें नित्यमुक्त दो प्रकार के हैं—पार्षद एवं आन्तरीय=भीतर के पार्षद गरुडादि, आन्तरीय=भीतर के किरीट-कुण्डल-मुकुट-वंशी आदि। ये सब फिर जब कभी ईश्वरेच्छा हो अथवा निजेच्छा हो। धराधाम में श्रीविग्रह ग्रहण करते हैं और माता-पिता के रूप से सृष्टि भी होती है। श्रुति उसे विस्तार से दिखलाती है—वह एक प्रकार होता है, अगणित प्रकार होता है। वह यदि पितृलोक की कामना करना है तो सङ्कल्पमात्र से ही उसके सम्मुख पितर समुपस्थित होते हैं। वह वहीं पर्यटन करता है। वह हँसता हुआ, खेलता हुआ इन लोकों में इच्छाओं की पूर्ति तथा

कामनाओं के अनुरूप विचरण करता हुआ वह ज्ञानी विपश्चित् ब्रह्म के साथ मिलकर सारी कामनाओं को उपभोग करता है। हे कृष्ण! तुम्हारी माया से यह जीव संसार में ही भटक रहा है और तुम अकारण करुणावरुणालय वात्सल्यादि गुणगणालय अतिदयालु कृपालु उदारचित्त दाता कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुंसर्वसमर्थ दीनानाथ हो। दीनों के दीन मुझ दास की प्रार्थना यही है—**सततमिदं त्वाम् अहं प्रार्थये पुनः जातु अस्या शक्तेः न प्रसारः भवतु।** मैं तुमसे हमेशा यही प्रार्थना करता हूँ कि फिर कभी इस माया से हाथ न फैलायें। मैं इस संसार का कैदी न बनूँ। आत्मकल्याण की बहुत विलक्षण बात बताते हैं, उसे जरा ध्यान देकर सुनिये—

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥
दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः॥
तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति॥
सम्प्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः।
विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(भा०४/२९/४६,३१/१९,११/१३-१४)

हमारे हृदय में बैठे हुए भगवान् का ध्यान करने पर आत्मभावित भगवान् जिस पर अनुग्रह कर देते हैं, वह लोकनिष्ठ और वेदनिष्ठ मति का परित्याग कर निरन्तर श्रीहरि का भजन करता है। सद्गुरु की शरण में जाकर गुरूपदिष्ट श्रीभगवद्भजन से ही जीव का आत्मकल्याण होता है। ये तीन बातें अपने जीवन में धारण कर लें; पहली बात यह है कि सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया करें। दया करते समय यह मत सोचिये कि यह बिच्छू है, यह साँप है। दया तो दुःखी पर ही की जाती है। उसमें जाति-पाति का विचार नहीं होता; क्योंकि उसके भीतर तो भगवान् परमात्मा ही बैठे हुए हैं। दूसरी बात यह है कि अपने लिये जैसे जो कुछ मिलता है, उसी में सन्तोष से रहिये। तीसरी बात यह है कि अपनी सारी इन्द्रियों को शान्त रखिये। इस प्रकार समस्त भूतों में दया से यदृच्छा सन्तुष्टि से और एकादशेन्द्रियों की उपशान्ति से भगवान्

श्रीहरि शीघ्र प्रसन्न होते हैं। तितिक्षा से, करूणा से, मैत्री से, सभी प्राणियों में मित्रभाव और समता से भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान् के प्रसन्न होने पर जीव प्राकृत, गुणों से मुक्त होकर ब्रह्म में निर्वाण, मोक्ष को प्राप्त होता है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।
(गी०८/१५-१६)

हे अर्जुन! महात्मा लोग मुझे प्राप्त होकर परम सिद्धिरूप मोक्षलाभ करते हैं; फिर वे दुःखमय अनित्य जन्म को प्राप्त नहीं करते। ब्रह्मलोक से लेकर सभी लोक पुनः-पुनः आवर्तनशील=उत्पत्ति व विनाश धर्मयुक्त हैं। किन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होकर इस संसार में फिर जन्म नहीं होता है। यही मोक्ष है। श्रीकृष्ण की प्राप्ति।

ईशावास्योपनिषद् का पाँचवाँ मन्त्र कहता है—तद्दूरे तद्वदन्तिके=वह ब्रह्म दूर देश में है, वही समीप में भी है। महर्षि शौनक ने इस मन्त्रार्थ को विस्तार से बतलाया है—

पराङ्मुखा ये गोविन्दे विषयासक्तचेतसः।
तेषां तत्परमं ब्रह्म दूराद् दूरतरे स्थितम्।।
तन्मयत्वेन गोविन्दे ये नरा न्यस्तचेतसः।
विषयत्यागिनस्तेषां विज्ञेयञ्च तदन्तिके।।

जो गोविन्द से विमुख हैं और जिनके विषयों में आसक्त मन हैं, उनसे वह परम ब्रह्म दूर देश में हैं, तो किनके पास में हैं? जो गोविन्द में तन्मय है, गोविन्द ही है, गोविन्द ही जिनकी साँस हैं, गोविन्द ही जिनके प्राण हैं ऐसे विषयत्यागी भक्तों के पास में परब्रह्मस्वरूप गोविन्द हमेशा रहते हैं—ऐसा जानना चाहिये। भक्तिमान् मनुष्य ही भक्ति द्वारा श्रीभगवान् को सर्वत्र देखते हैं दूसरे नहीं।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।
(गी०६/३०)

हे अर्जुन! जो मुझे सर्वत्र, सारे संसार को मुझमें प्रतिष्ठित दर्शन करते हैं, उनके समीप में मैं सदा रहता हूँ; कभी अदृश्य नहीं रहता और वे भी कभी मेरी दृष्टि के बाहर नहीं होते हैं। सब जगह परमात्मा का ही दर्शन—यही श्रीभगवान् के अनन्य भक्तों का लक्षण है।

मुमुक्षु और निष्काम कर्मी, ज्ञानी और भक्त, भेद से तीन प्रकार के होते हैं।

१. जो फलाकाङ्क्षा का परित्याग करके शास्त्रवचन, श्रीभगवदादेश के ज्ञान में उसकी प्रीति के निमित्त कर्म करते हैं और श्रीगुरु के आदेश का निर्विचार पालन करते हैं, वे निष्काम कर्मी हैं। २. जो जानते हैं कि समस्त प्राकृतिक वस्तु ब्रह्म का ही अंश है, सुतरां ब्रह्म ही रूप एवं तदतीत स्वीय आत्मा का और आत्मा, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान, परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करते हैं, वे ज्ञानी हैं। ३. जो आत्मा और आत्मीयवर्ग को श्रीभगवान् में अर्पण करके तद्‌गतचित्त में श्रीभगवत्सेवा, उनकी कथाश्रवण, लीला-कीर्तनादि करते हैं एवं इस प्रकाशित विश्व को उन्हीं का प्रकट रूप एवं इस विश्व की सभी वस्तुओं में उन्हीं की सत्ता विद्यमान है, इस प्रकार जो सतत चिन्तन करते हैं, वे ज्ञानी भक्त हैं।

भक्त और साधन भक्तिमान और पराभक्तिभानभेद से दो प्रकार के होते हैं। १. श्रीभगवान् की लीला-कथाश्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और उन्हीं में आत्मनिवेदन—ये नवधा भक्ति का जो साधन करते हैं एवं निष्काम भाव में श्रीभगवत्प्रीति के लिये कर्म करते हैं, वे प्रथम प्रकार के भक्त हैं। २. जो निष्काम कर्म के द्वारा अथवा पूर्वोक्त प्रकार से आत्म-परमात्मा-चिन्तन के द्वारा अथवा नवधा भक्ति के द्वारा श्रीभगवान् से अभिन्न बुद्धि में प्रतिष्ठित हैं, समस्त जीव और जगत् को ब्रह्मरूप में दर्शन करके सर्वप्रकार शोक और आकाङ्क्षा-रहित हैं एवं सर्वत्र समबुद्धि लाभ करके श्रीभगवान् के प्रति परम प्रेमरूप अविच्युत भक्तिलाभ किये हैं, वे ही द्वितीय प्रकार के भक्त हैं।

जो इन्द्रियादि संस्पर्श-जनित वैषयिक सुखभोग के निमित्त लालायित रहते हैं, उन लोगों को बुभुक्षु कहते हैं। बुभुक्षु और भाविश्रेयस्क एवं नित्य संसारी भेद से दो प्रकार हैं। हम पीछे कह चुके हैं। जो सद्गुरु की कृपालाभ

करके उनके उपदिष्ट साधन द्वारा ब्रह्मज्ञान-लाभ करते हैं, वे देवयान पथ से (अर्च्चिरादि मार्ग से) गमन करते हैं और इस संसार में पुनः लौटते नहीं। जन्म-मृत्यु-जरा से विमुक्त होते हैं। गीताशास्त्र में श्रीभगवान् ने स्वयं ही कहा है—

मय्यार्पितमनोबुद्धिर्मामेवैव्यस्यसंशयम्। (८/७)

तुम अपना मन-बुद्धि मुझ सर्वेश्वर में अर्पण कर सकोगे, सदा मेरी ही चिन्ता करते हुए मुझको जरूर पा जाओगे, इसमें कुछ संशय नहीं है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गी० ११/५५)

श्लोकार्थ पूर्वाचार्यकृत गीतातत्त्वप्रकाशिका टीका के अनुसार करते हैं—हे पाण्डव! जो मेरे लिये कर्म करता है अर्थात् निःस्वार्थ भाव से १.शिक्षा, २.कल्प, ३.व्याकरण, ४.निरुक्त, ५.छन्द, ६.ज्योतिष-सहित वेदों का अध्ययन करता है, निष्काम भाव से यज्ञादि कर्मों को करता है। जो मत्परायण है अर्थात् जिसकी प्राप्य वस्तु, परम पुरुषार्थ मैं ही हूँ; मेरे लिये किये गये कर्मों के फल स्वर्ग, स्त्री, पुत्र, धनादि नहीं हैं; जो मेरा भक्त है अर्थात् मेरा स्तवन, पूजन, कीर्तन, नमन, भजन, कथाश्रवण, ध्यान में अपना समय बिताता हैं और मेरे भक्तों को छोड़कर और लोगों का सङ्ग नहीं करता और अपकारियों के प्रति भी जो द्वेष नहीं रखता, वही मुझे प्राप्त करता है अर्थात् वह संसार के मायाबन्धन से मुक्त हो मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है; उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। यही मोक्ष है। यही श्रीभगवान् की प्राप्ति का साधन बतलाया गया है।

इति श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रमतानुवर्तिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यत्यागमूर्तिस्वामिधनञ्जयदासजीकाठियाबाबातर्कतर्कव्याकरणतीर्थपादपद्मान्तेवासीयोगिराजस्वामीराधाविहारिदासजीकाठियाबाबाचरणारविन्दचञ्चरीक डॉ० स्वामी द्वारकादासकाठियाबाबाकृत व्याख्या श्रीवृन्दावनचन्द्रिका प्रथम परिच्छेद समाप्त।।१।।

द्वितीयः परिच्छेदः

अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः।
प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम्।।१।।
अक्षयं नान्यदाधारममेयमजरं ध्रुवम्।
हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिः सापरा मुने।।२।।

इत्यादिस्मृतिसिद्धप्रधानं निरूपयति श्रीभगवान् निम्बादित्य आचार्य अप्राकृतमित्यादिना—

अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र।।३।।

श्रीवृन्दाचनचन्द्रिका—जो अव्यक्त कारण है, वड़े-बड़े मन्त्रद्रष्टा महात्माओं ने उसे प्रधान कहा है। वह स्थूल सूक्ष्मात्मक नित्य है और अक्षय है। वह प्रकृति=प्रकर्षेण करोतीति इस अर्थ में है—**मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्** (गीता ९/१०)। हे अर्जुन! मुझ सर्वाधार के अधिष्ठान से प्रकृति चराचर जगत् की सृष्टि करती है। परमात्मा ही सबके आधार हैं। आधार को ही अधिकरण कहते हैं अर्थात् परमात्मा में ही सब-के-सब टिके हुए हैं। दूसरा आधार नहीं है। वह अमेय अजर-अमर ध्रुव नित्य है। हे मुने! सबके हेतुरूप वह परा प्रकृति है। श्रीभगवान् की यह परा=श्रेष्ठ नाम्नी जीवरूपा प्रकृति इस संसार को धारण करती है (गीता ७/५)।

प्रकृति पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(गीता १३/१९)

इस जीवरूपा परा प्रकृति और पुरुष चित्स्वरूप जीवात्मा दोनों को अनादि जानों इत्यादि । स्मृतिशास्त्र में प्रसिद्ध प्रधान (प्रकृति) के स्वरूप का निरूपण तीसरे श्लोक से आदि आचार्य भगवान् श्रीनिम्बादित्य करते हैं—अप्राकृतरूप, प्राकृतरूप और कालस्वरूप—ये तीनों अचेतन पदार्थ हैं। वेदविदों ने इन्हें वेदोपनिषदों में अचेतन माना है। माया प्रधान व प्रकृति शब्द से कहनी चाहिये। उसमें सारे लाल, सफेद और काले भेद हैं। श्रीमद्भागवतस्थित भिक्षुगीता में देखिये—

शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति।

सफेद, काला और लाल—इनसे जीवों की कर्मानुसार विविध गतियाँ होती हैं।

तत्राचेतनत्वं चाज्ञातृत्वमस्वप्रकाशत्वं वा। अस्याचेतनस्य व्यापारवत्त्वेऽपि न ज्ञातृत्वम्। अतएव कर्त्तृत्वभोक्तृत्वादयोऽपि न सन्ति। तदचेतनं त्रिविधं प्राकृतमप्राकृतं कालश्चेति प्रकृतिनामान्योन्यसमरूपगुणत्रयाश्रयभूतद्रव्यं गुणाश्च सत्त्वरजस्तमांसि एतद्गुणत्रयाश्रयभूतमेव द्रव्यं त्रिगुणं प्रधानमिति चोच्यते। एतच्च त्रिगुणस्वस्वकर्मवशीभूतानां जीवानां श्रीभगवत्स्वरूपतिरोधानं करोति।

जीवाशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति श्रुतेः। तत्र सत्त्वं नाम ज्ञानादिकारणं गुणविशेषः, इदमेवातिशयितं सत् मुक्तिकारणं च भवति रागदुःखादिकारणं विशेषं रजोप्रमादालस्यादिकारणं गुणाविशेषस्तमः श्रीभगवदिच्छया कालविशेषे त्रयाणामपि गुणानां साम्यावस्था प्रलयः, यथैकदेहावस्थितवातादीनां साम्यं एषां विषमावस्था सृष्टिः, वैषम्यं चानेकधा अव्यक्ताक्षरतमोरूपविभागः प्रकृतौ केचिद् नामान्तराणीत्यन्ये इदमेव द्रव्यं विषमः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—ग्रन्थकार निरूपणीय पदार्थ में अचेतन=अचित् पदार्थ के स्वरूप का निरूपण करते हैं—उसे अचेतन कहते हैं, जिसमें ज्ञातृत्व व कर्त्तृत्व धर्म=गुण नहीं है और स्वयं प्रकाशता नहीं है। इस अचेतन का व्यापार तो है, पर ज्ञातापन नहीं है। इसलिये उसमें कर्त्तापन और भोक्तापन आदि भी नहीं है। वह अचेतन तीन प्रकार के हैं—प्राकृत, अप्राकृत और काल। प्रकृति नाम परस्पर समान रूप, सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुणों के आश्रयरूप द्रव्य हैं, अर्थात् सत्त्व, रजः तमः—ये तीन गुण हैं और प्रकृति इन गुणों का आश्रय है। ये तीनों प्रकृति के गुण हैं, आत्मा के नहीं। इन्हीं तीन गुणों के आश्रयरूप द्रव्य को ही त्रिगुण प्रधान कहते हैं। ये तीनों गुण अपने-अपने कर्म के वशीभूत जीवों के हृदय में स्थित श्रीभगवान् के स्वरूप का तिरोधान करते हैं। जैसे कभी-कभी गले में मणि-माला-हीरा रहती हुई स्मृति नहीं रहती है, वैसे ही प्रकृति के गुणों के कारण जीवात्मा, परमात्मा को ही भूल बैठता है। यही जीवों के श्रीभगवत्स्वरूप की प्रधानता को दूर कर देता है। श्रुति कहती है कि जीव, आशा के आभास से कार्य करता है और वह

माया तथा अविद्या स्वयं ही हो जाता है। उसमें सत्त्व, गुण, ज्ञान आदि के कारण हैं और सत्त्व, गुण विशेष हैं। यह सत्त्वगुण ही अतिशय वृद्धि हो जाय तो मोक्ष का कारण होता है अर्थात् सत्त्वगुण में स्थित पुरुष देहत्याग के अनन्तर मोक्ष को प्राप्त होते हैं। राग-दुःखादिकों का कारण विशेष रजोगुण है; जैसे बहिर्मुखी जीव विषयों में आसक्त होकर बहुत प्रकार के सांसारिक राग-द्वेषादि कर्म करते रहते हैं। उनका जन्म-मरण आवागमन लगा ही रहता है। प्रमाद-आलस्यादिकों का कारण गुणविशेष तमोगुण है। जैसे ब्राह्म-मुहूर्त समय=भोर वेला में नींद का सुख भोगना, शास्त्रविहित धर्म-कर्म को छोड़कर मनमाना काम करना इत्यादि तमोगुण की पहचान है। तीनों गुणों का लक्षण निम्न प्रकार है—सत्त्वरजः और तमः। इन तीनों गुणों के बीच में सत्त्व गुण स्वच्छ होने के कारण स्फटिक पात्र की भाँति प्रकाशक दुःखरहित, आवरण स्वभावरहित, निरुपद्रव और शान्तस्वभाव है। रजोगुण का लक्षण है, रागात्मक राग, विषयों में अनुराग, स्पृहा, तृष्णा=अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति की आकाङ्क्षा, बड़ी चाह। गुणों की समान अवस्था प्रलय, जिस प्रकार एक देह में स्थित वातादिक समान होता है। तीनों गुणों की विषम अवस्था सृष्टि है और विषमता अनेक प्रकार की अव्यक्त, अक्षर तमोरूप विभाग है, प्रकृति में कई नामान्तर अन्य; यही द्रव्य विषम है। अव्यक्त अर्थात् देव-मनुष्य आदि शब्द से निर्देश नहीं कर सकते और चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। अक्षर=अनिर्देश्य, देहादि से विलक्षण हैं। **न क्षरति इति** अक्षर अर्थात् अविनाशी। प्रलय के समय लोक, लोकपाल और इन सबके कारण काल द्वारा सम्पूर्ण रूप से पञ्चत्व को प्राप्त होते हैं। उस समय केवल अत्यन्त घना और गहरा तम=अन्धेरा ही रहता है। इस सम्पूर्ण जगत् को अपने उदर में लीन करके शेषजी के साथ उन्हीं के गोद में अनन्तासन परमात्मा श्रीहरि योगनिद्रा में शयन करते हैं। विराजमान रहते हैं पुनः सृष्टि के समय—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

यह मन्त्र कृष्णयजुर्वेद में तथा महानारायणीयोपनिषद् में है (१/१४/२)। प्राणी मात्र के भरण-पोषण करने वाले पालनहार श्रीहरि ने सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष की रचना पूर्व सृष्टिक्रम के अनुसार ही की है। श्रीभगवान् ने गीताशास्त्र में कहा है कि हे अर्जुन! मैं अजन्मा, अविनाशी,

सम्पूर्ण प्राणियों का ईश्वर=नियामक व परिचालक होने पर भी अपनी माया द्वारा=अपने संकल्प द्वारा, अपनी प्रकृति=अपने स्वभाव का परित्याग न करके भली-भाँति लोकों का हित=परम कल्याण करता हुआ समय-समय पर प्रकट होता हूँ (४/६)। इस प्रकार माया, प्रधान, अव्यक्त, अक्षर, प्रकृति आदि जितने सारे शब्द हैं, सब हे सब परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण में ही समन्वित होते हैं; जानना चाहिये।

परिणामावस्थायां व्यक्तमित्युच्यते तच्च व्यक्तं त्रयोविंशतिविधं लक्ष्यते। तथाहि प्रथमं प्रकृतिः श्रीभगवदिच्छया महत्तत्त्वं व्यञ्जयति। अयं च महान् जीवस्य मनस्यध्यवसायं जनयति पुनरयं महान् स्वस्मिन्नहङ्कारं व्यञ्जयति अयमहङ्कारो जीवस्य मनसि शरीरगोचरामहं बुद्धिं जनयति। अहङ्कारस्याहं कर्तव्यं चेति श्रुतेः। अयं चाहङ्कारशब्दो दम्भाहङ्कारदेहेऽहं बुद्धौ गर्वे च प्रयोगेण नानार्थकः। अयमेवाहङ्कार उत्कृष्टजनावमानहेतुः शास्त्रे हेयतयोच्यते। आत्मवाच्याहंशब्दस्त्व-स्मच्छब्दसिद्ध इत्युक्तमधस्तात्। अहङ्कारस्त्रिवधः वैकारिक–तैजस–तामसभेदात्। तत्र वैकारिकः सात्त्विकाहङ्कारः तैजसो राजसाहङ्कारः तामसाहङ्कारो भूतादिः। सात्त्विकाहङ्कारेऽभिव्यक्ता देवता दश एकादशं मनः, राजसादिन्द्रियाणि अतएव मनःशब्दस्पर्शरूपरसगन्ध-पञ्चविषयसङ्गदशायां बन्धकारणमुक्तविषयान्प्रमुच्य सपरिकरभगवद्विषये प्रावण्ये सति विमुक्तिकारणं च भवति। अत्रायं विवेकः, इन्द्रियं द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति, तत्र बाह्यं श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानीति ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानीति कर्मेन्द्रियपञ्चकं; तत्र श्रोत्ररूपादीनि पञ्च— शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानुगृह्णन्ति दिग्वातार्कवरुणाश्विनोऽधिष्ठातृदेवाः क्रमेण श्रोत्रादीनां वागादीनां तु क्रमेण।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—परिणाम अवस्था में विषय द्रव्य व्यक्त बताया जाता है और वह व्यक्त तेईस प्रकार का देखा गया है। उसे दिखलाते हैं। उसमें पहले प्रकृति श्रीभगवान् की इच्छा से महत्त्व को प्रकाश करती है। यह महत्त्व फिर अपने में अहङ्कार को प्रकाश करता है, यह अहङ्कार जीव के मन में अध्यवसाय निश्चय उत्पन्न करता है और यह प्रहत्तत्त्व फिर अपने में अहङ्कार का प्रकाश करता है। यह अहङ्कार जीव के मन में शरीर की गोचर अहं बुद्धि उत्पन्न करता है। अहङ्कार और अहं कर्तव्य, यह श्रुति में है, इस अहङ्कार शब्द

के अनेक अर्थ हैं। जैसे दम्भ, अहङ्कार धार्मिकत्वख्यापन और श्रेष्ठता का अभिमान, शरीर में अहं बुद्धि, गर्व इत्यादि। यही अहङ्कार गणमान्य प्रतिष्ठित व्यक्ति को तिरस्कार, अपमान का कारण, शास्त्र में उसे त्याग करने योग्य बताया गया है। आत्मा शब्द से बताया गया 'अहं' शब्द ही 'अस्मत्' शब्द से सिद्ध है, वह पहले कह आये हैं। अहङ्कार तीन प्रकार के हैं—१.वैकारिक, २.तैजस और ३.तामसभेद से। उसमें वैकारिक सात्त्विक अहङ्कार है, तैजस राजस अहङ्कार है और तामस अहङ्कार भूतादि है। सात्त्विक अहङ्कार से प्रकट हुए दस देवता और ग्यारह मन हैं। राजस अहङ्कार से दस इन्द्रियाँ और यही मन; जब ये इन्द्रियाँ और मन पाँच विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के सङ्ग-दशा में जीव को संसार में बन्धन का कारण बताया गया है और जब यही मन अपने परिकर इन्द्रियों के साथ कहे गये विषयों को छोड़कर श्रीभगवान् के मङ्गलमय नाम-कीर्तन, कथा-श्रवण, श्रीविग्रहदर्शन, रस-आस्वाद-सौरभ में आसक्त चित्त, मोक्ष का कारण है। यहाँ ऐसा विचार चाहिए। इन्द्रियाँ दो तरह की हैं—बाहरी और भीतरी। उसमें बाहर की कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नाक—ये पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ हैं। वाणी, हाथ, पैर, पायु (गुदा), उपस्थ (जननेन्द्रिय) ये पाँच कर्म इन्द्रियाँ हैं। उसमें कान से सुनें, त्वचा से स्पर्श करें, नेत्र से रूप को देखें, जिह्वा से स्वाद लें, नाक से सूघें। इनके अधिष्ठातृ देवता क्रम से दिशा, पवन, सूर्य, वरुण और अश्विनीकुमारद्वय हैं।

वह्नीन्द्रोपेन्द्रो यमप्रजापतयोऽधिष्ठातृदेवताः, एतानि वागादीनि वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दादीन् कुर्वन्ति। आन्तरेन्द्रियं चतुर्विधं मनो बुद्धिः चित्ताहङ्कारभेदात्। तत्र सङ्कल्पविकल्पवृत्तकं मनोऽध्यात्मकं अनिरुद्धो दैवतकं सङ्कल्पविकल्याधिभूतं, द्रव्यस्फुर्णविज्ञानं बुद्धिरध्यात्मं प्रद्युम्नोऽधिदैवतं, संशयविपर्ययनिश्चयस्मृतयोऽधिभूतं स्वच्छत्वाविकारित्वशान्तत्ववृत्तिकत्वं चेतस्त्वं चित्तमध्यात्मं वासुदेवाधिदैवतं चिन्तनमधिभूतम् अहङ्कारोऽध्यात्मं सङ्कर्षणोऽधिदैवतम् अहन्ता ममताधिभूतम् एवं बाह्येन्द्रियेष्वऽपि बोध्यम्। तत्त्वोत्पत्तिक्रमस्त्वेवं तामसाहङ्काराच्छब्दतन्मात्रं शब्दः। तन्मात्रादाकाशः, आकाशात्स्पर्शतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, वायोरूपतन्मात्रं रूपतन्मात्रात्तेजः, तेजसो रसतन्मात्रं रसतन्मात्रात् आपः, अद्भ्यो गन्धतन्मात्रं गन्धतन्मात्रात्पृथ्वीति।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—वाणी से बोला जाता है, जिसके देवता अग्नि हैं। हाथ से वस्तु ग्रहण की जाती है, जिसके देवता इन्द्र हैं। पैर से चला जाता है, जिसके देवता उपेन्द्र हैं। पायु से मल त्याग होता है, जिसके देवता यमराज हैं। उपस्थ से विषयानन्द है जिसके प्रजापति अधिष्ठाता देवता हैं। भीतर की इन्द्रियाँ चार प्रकार की हैं—१.मन, २.बुद्धि, ३.चित्त और ४.अहङ्कारभेद से। उसमें सङ्कल्प-विकल्प वृत्ति वाला मन अध्यात्म है और इसके देवता अनिरुद्ध हैं। सङ्कल्प-विकल्प अधिभूत मन है। चूँकि मन ही संदिग्ध वस्तु का निश्चय करता है और नाना विकल्प करता है। द्रव्य की स्फुरणता के लिए विज्ञान की बुद्धि अध्यात्म है। इसके प्रद्युम्न अधिदैवत हैं। संशय, विपर्यय, निश्चय और स्मृति —ये अधिभूत हैं। स्वच्छपन में विकार न हो, शान्तपन में वृत्ति धर्म चेतनता चित्त अध्यात्म है। इसके वासुदेव अधिदेवता हैं। चिन्तन करना अधिभूत है, अहङ्कार अध्यात्म है। इसके सङ्कर्षण अधिदैवत हैं। अहन्ता और ममता अधिभूत है। इसी प्रकार बाह्य इन्द्रियों में भी जानना चाहिये।

सङ्कर्षणमहमित्यभिमानलक्षणं यं सङ्कर्षणमित्याचक्षते (भा०५/२५/१)। अविकारी स्वच्छ शान्त विशुद्ध सत्त्वगुण चित्त में भगवान् श्रीवासुदेव का निवास है। तत्त्व की उत्पत्तिक्रम इस प्रकार से है—तामस अहङ्कार से शब्दतन्मात्र हुए, शब्दतन्मात्र से आकाश हुए, आकाश से स्पर्शतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र से वायु, मन में अध्यवसाय निश्चय उत्पन्न करता है और यह प्रहत्तत्त्व फिर अपने में अहङ्कार का प्रकाश करता है। यह अहङ्कार जीव के वायु से रूपतन्मात्र, रूपतन्मात्र से तेज, तेज से रसतन्मात्र, रसतन्मात्र से जल, जल से गन्धतन्मात्र और गन्धतन्मात्र से पृथ्वी हुई।

केचित्तु तामसाहंकारात्क्रमेण शब्दादितन्मात्राण्यन्तरीकृत्य पञ्चभूतान्युत्पद्यन्ते इत्याहुः। अन्ये तु भूताद्भूतोत्पत्तिमाहुः। सिद्धान्ते तु सात्त्विकाहङ्कारन्मनो वैकारिका देवाश्च राजसादिन्द्रियाणि तामसाद्भूतानि तन्मात्राश्चेति सृष्टिक्रम इत्युक्तमधस्तात्। एवमपरेऽपि स्वस्वसम्प्रदायानुरोधेनोत्पत्तिक्रममाहुः। आकाशादिपञ्चभूतेषु शब्दादिपञ्चगुणानामुत्तरोत्तरमेकैकगुणाधिक्यं बोध्यं। तत्राकाशस्य शब्दो गुणः। वायोः शब्दस्पर्शौ, तेजसः शब्दस्पर्शरूपाणि अपां, शब्दस्पर्शरूपरसाः, पृथिव्याः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चापीति विवेकः। एतेनाकाशस्यैव शब्दो विशेषगुण इत्यापास्तम्। महत्तत्त्वमारभ्य

पृथ्वीपर्यन्तसमष्टिरित्युच्यते, यथा सेनावनराश्यादिव्यवहारः, तेषु एकदेशमादाय क्रियमाणं कार्यं व्यष्टिरित्युच्यते। यथा वृक्षधान्यादिव्यवहारः, पञ्चीकरणप्रक्रिया पुराणादिषु प्रसिद्धा। पञ्चीकरणं तु—भगवान् हरिरीश्वरः पृथिव्यादि पञ्चापि भूतानि सृष्ट्वा एकैकं भूतं द्विधा विभज्य द्वयोः भागयोः स्वभागमेकं निधाय द्वितीयं भागं पुनश्चतुर्धा करोति तांश्चतुरो भागान् भूतान्तरेषु चतुर्षु संयोजयति। एवं चिकीर्षितेषु पञ्चस्वपि भूतेषु एकैकस्य भूतस्यार्द्धं स्वविभागः द्वितीयमर्द्धं चतुर्णां भूतानां भागेषु संयोजनमिति। त्रिवृत्करणश्रुतिश्चात्र मूलं पृथिव्यादिव्यपदेशस्तु वैशेव्यात्तद्वाद (ब्र.सू.२/४/२१) इति न्यायात्सम्भवति। तत्र प्रकृतिमहदहङ्कारं पञ्चभूतानि शरीरस्योपादानकारणानि इन्द्रियाणि प्रत्येकसङ्गतानि प्रतिपुरुषभिन्नानि भोगायतनं शरीरम्। किञ्च मन एव कर्मेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोश इत्युच्यते। प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोश इत्युच्यते। प्राणापानसमानोदानव्याना इति वायुपञ्चकं तत्र हृदयस्थानवर्त्ती प्राणः, अपानः पायूपस्थस्थानवर्त्ती, समानः नाभिस्थानवर्त्ती अयं प्राणापानाभ्यां च समो भूत्वाऽशितं चतुर्विधम् अन्नादिकं पचति। उदानं कण्ठस्थानवर्त्ती विष्वग्गामनवान् सर्वशरीरवर्त्ती व्यानः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—कई कहते हैं कि शब्दादि जो तन्मात्राएँ हैं, उनको भीतर करके तामस अहङ्कार से ही क्रम से पाँचों भूतों की उत्पत्ति हुई है। दूसरे विद्वान् लोग भूतों से भूतों की उत्पत्ति बताते हैं। सिद्धान्त में तो सात्त्विक अहङ्कार से ही मन, वैकारिक और देवगण हुए हैं। राजस अहङ्कार से इन्द्रियाँ, तामस अहङ्कार से भूत और तन्मात्राएँ हुई, इस प्रकार से यह सृष्टि का क्रम पीछे बताया गया है। ऐसे ही और भी अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुरोध से उत्पत्ति के क्रम कहे गये हैं। आकाश आदि पञ्च भूतों में शब्द आदि पञ्च गुणों का उत्तरोत्तर एक-एक गुण अधिक जानना चाहिये। उसमें आकाश में गुण शब्द है; **शब्दगुणकम् आकाशम्** यह आकाश का लक्षण है। वायु में शब्द और स्पर्श—ये दो गुण हैं। तेज में शब्द, स्पर्श और रूप—ये तीन गुण हैं। जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार गुण हैं। पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रा और गन्ध—ये पाँचों हैं। **गन्धवती** पृथिवी इस विवेचन से यदि कोई कहे कि आकाश का ही शब्द विशेष गुण है तो वह निरस्त हो जायेगा। महत्त्व से लेकर पृथिवी तक समष्टि कहा जाता है; जैसे सेना, वन, राशि आदि का

व्यवहार। उनमें एक देश को लेकर किये जाने वाला कार्य व्यष्टि कहा जाता है, जैसे—वृक्ष, धान्य आदि का व्यवहार, पञ्चीकरण प्रकिया पुराणों में प्रसिद्ध है। पञ्चीकरण उसे कहते हैं—सर्वज्ञ सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि ने पृथ्वी आदि पाँचों भूतों का निर्माण कर एक-एक भूत के दो-दो भाग किये, दोनों भाग में एक भाग अपने पास रखकर दूसरे भाग का फिर चार प्रकार किये, उन चारों भागों को फिर चारों भूतों के भीतर संयोजन कर=(मिला) दिये हैं।

इस प्रकार पाँचों भूतों में करने की इच्छा एक भूत का आधा भाग अपने कर लेना और दूसरे आधे भाग को चार भूतों के भागों में मिला देना, संयोजन कर देना। इस प्रकरण में त्रिवृत्करणी श्रुति मूल है—'पृथिवी आदि कथन तो विशेषता तद्वाद है' इस न्याय से सम्भव है। उसमें पृथिवी महद् अहङ्कार पञ्च भूत—ये शरीर के उपादान कारण हैं। इन्द्रियाँ आपस में नहीं मिली हैं और पुरुष-पुरुष में भिन्न-भिन्न हैं, यह शरीर भोग का घर है। मन ही कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर मनोमय कोश है—ऐसा कहा जाता है। प्राण आदि पाँच कर्म इन्द्रियों के साथ मिलकर प्राणमय कोश है, ऐसा बोला जाता है। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्राणवायु हैं। उसमें हृदय के स्थान में प्राण वायु रहती है। पायु और उपस्थ में रहने वाली अपान वायु है। नाभि स्थान में रहने वाली यह समान वायु प्राण और अपान के साथ सम होकर भोजन किये गये भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—ये चार प्रकार के अन्न को पचाती है। उदान वायु कण्ठस्थान में रहने वाली चारों ओर उन्नयन यमन करने वाली है और व्यान वायु सारे शरीर में रहने वाली है। सामान्य जो बाह्य वायु है, वही व्याप्तिसामान्य से व्यान है। आकाश में विचरने वाला प्रत्यक्ष बाह्य वायु ही व्यान का बाह्य स्वरूप है अर्थात् वायु ही व्यान है।

केचित् नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याःपञ्चान्येऽवयवाः सन्तीत्याहुः। नाग उद्गिरणकरः, कूर्म उन्मीलनकरः, कृकलः क्षुधाकरः, देवदत्तो जृम्भणकरः, धनञ्जयः पोषणकरः, एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावः, अन्नविकारीत्वाद्धेतोः शरीरमन्न-मयकोश इत्युच्यते, विज्ञानमयो जीवः, आनन्दमयः परमात्मा। मायावादिनस्तु अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाः पञ्चापि कोशा इति वदन्ति। तच्चिन्त्यं ब्रह्मणो नानन्दमयत्वप्रसङ्गाच्च। अत्रायं विशेषः अचेतनं द्विविधं नित्यमनित्यं च—तत्र नित्यं कालमहदहङ्कार-

गुणापञ्चीकृतभूततन्मात्रेन्द्रियप्राणरूपम् एतद्विकारभूत-मनित्यं तत्र कालस्य विकाराः परमाणुमारभ्य परार्द्धपर्यन्ता अतीतानागतवर्तमानयुगपच्चिर-क्षिप्रादिव्यवहारहेतुकालः। तत्र सूर्यो यावत् परमाणुदेशमतिक्रामति तावत् कालः परमाणुः। दौ परमाणुः द्व्यणुकः, त्रयो द्व्यणुकास्त्रसरेणुः त्रसरेणुत्रिकं त्रुटिः त्रुटिशतं वेधः, त्रिभिर्वेधैर्लवः, त्रिलवो निमेषः, त्रिनिमेषः क्षणः, पञ्चक्षणः काष्ठा, पञ्चदशकाष्ठा लघुः, पञ्चदशलघूनि नाडिका, द्विनाडिके मुहूर्त्तः, नाडिका षट् सप्त वा प्रहरः, चत्वारश्चत्वारो यामाः, अहोरात्रौ पञ्चदशाहानि पक्षः शुक्लः कृष्णश्च तौ द्वौ मासः, द्वौ मासावृतुः षणमासा अयने द्वे संवत्सरः, एवमेवाग्रेप्यूह्यम्। तथा च कालस्वरूपं श्रीमद्भागवते (१२/४/३६-३७)।

कालस्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा।
परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः।।
अनाद्यन्तवतानेन कालेनेश्वरमूर्तिना।
अवस्था नैव दृश्यन्ते वियति ज्योतिषामिव।।
स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना।
जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते।।
जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः।
फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना।।

(श्रीमद्भागवते ३/३२/१४/७/७/१८)

मूर्तिः=प्रतिमा, ईश्वरस्य मूर्तिः, ईश्वरमूर्त्तेः तेन ईश्वरप्रतिमास्थानीयेत्यर्थः। अतएव प्रकृतिपुरुषाभ्यां कालस्य विभागोऽप्युपपन्नतरः, एतत्प्रकारपरिशोधने श्रीमद्भागवते (२/३/१७)

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ।
तस्यैते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—कई लोग कहते हैं कि नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय नाम के पाँच भिन्न अवयव हैं, इनके कार्य निम्न प्रकार हैं—१.नाग खाये गये भोजन को उगलाता है, २.कूर्म आँख की पलकों को

खोलता है, ३.कृकल (छिपकली) भूख को लाती है, ४.देवदत्त जम्हाई को लाता है, और ५. धनञ्जय पोषण करता है। इन पाँचों का प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान में अन्तर्भाव है। अन्न का विकार ही शरीर का कारण है। इसी कारण शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। जीव विज्ञानमय है और परमात्मा आनन्दमय है। मायावादी तो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये पाँच कोश बताते हैं, वह चिन्तनीय है और ब्रह्म में आनन्दमय नहीं है, प्रसङ्ग से आया है। इस विषय में जिज्ञासु पाठक के लिये व्याख्यात्रयोपेत ब्रह्मसूत्र निम्बार्कभाष्य अवलोकनीय।

यहाँ यह विशेष है—अचेतन दो प्रकार के हैं—नित्य और अनित्य; उसमें नित्य तो काल महद् अहङ्कार गुण सत्त्व, रज और तम अपञ्चीकृत भूत, तन्मात्राएँ इन्द्रियाँ प्राणरूप यह विकाररूप अनित्य हैं। उसमें काल का विकार परमाणु से लेकर ब्रह्मा के पचास वर्ष जिसे परार्द्ध कहते हैं, परार्द्धपर्यन्त (तक) यानी ब्रह्मा के पचास साल तक, अतीत=जो होकर चल बैठे अनागत=आने वाले जो होंगे और वर्तमान=मौजूद जो हो रहा है, युगपत्=एक साथ एक ही वार, चिर=बहुत समय, क्षिप्र=जल्दी इत्यादि व्यवहार का कारण काल है। उसमें सूर्य तब तक जितने समय में परमाणु देश को लाँघकर जाता है, तब तक वह काल परमाणु बोला जाता है। दो परमाणु को द्व्यणुक कहते हैं, तीन द्व्यणुक को एक त्रसरेणु कहते हैं, तीन त्रसरेणु की एक त्रुटि, सौ त्रुटि को वेध कहते हैं, तीन वेध को एक लव कहते हैं, तीन लव को एक निमेष कहते हैं। (एक पलक को काल) तीन निमेष को एक क्षण कहते हैं, पाँच क्षण को एक काष्ठा कहते हैं, पन्द्रह काष्ठा का एक लघु (छोटा), पन्द्रह लघु की एक नाडिका, दो नाडिका को एक मुहूर्त, छः या सात नाडिका को एक प्रहर, चार-चार प्रहर का दिन व रात, पन्द्रह दिन का एक पक्ष—शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष, दोनों पक्षों के मिलने पर एक महीना, दो महीने की एक ऋतु, जैसे—वैशाख और ज्येष्ठ ग्रीष्म ऋतु; इसी प्रकार छः ऋतु। छः महीने का एक अयन दो अयन, जैसे—उत्तरायण और दक्षिणायन। दो अयनों का एक संवत्सर (साल) होता है। ऐसे ही और आगे जान लेना चाहिये। श्रीमद्भागवत-शास्त्र में ईश्वरमूर्ति काल के स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार है—इस संसार के परिणामी पदार्थ नदी-प्रवाह और दीपशिखा आदि क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। उनकी बदलती हुई अवस्थाओं को देखकर यह निश्चय होता है कि देह आदि

भी कालरूप स्रोत के वेग में शीघ्र ही प्रतिदिन ह्रास होते-बहते बदलते जा रहे हैं। इसलिये क्षण-क्षण में उनकी उत्पत्ति और प्रलय हो रहा है। जैसे आकाश में तारे हर समय चलते ही रहते हैं, लेकिन उनकी गति स्पष्टरूप से दिखायी नहीं पड़ती, वैसे ही श्रीभगवान् के स्वरूपभूत मूर्ति अनादि-अनन्त काल के कारण प्राणियों की प्रतिक्षण होने वाली उत्पत्ति और प्रलय का भी पता नहीं चलता। वह परमात्मा पहला पुरुषावतार को प्राप्त कर जब सृष्टिकाल उपस्थित होता है तब कालरूप ईश्वरमूर्ति द्वारा गुणों में अपनी शक्तिविक्षेप होने पर जगत् की रचना पूर्वसृष्टिक्रम के अनुसार होती है—**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।** जैसे कालरूप ईश्वरमूर्ति द्वारा वृक्षों के फल लगते, ठहरते, बढ़ते, पकते, क्षीण होते और नष्ट हो जाते हैं; ठीक वैसे ही जन्म, अस्तित्व की अनुभूति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश—ये छः भावविकार शरीर में ही देखे जाते हैं; आत्मा में नहीं। कालरूप ईश्वर की मूर्ति=प्रतिमास्थानीय है; अतएव प्रकृति और पुरुष से काल का विभाग भी बिल्कुल सही हो गया है अर्थात् ठीक—ठीक निर्णय हो गया है इतने प्रकार के परिशोधन में पुराण तिलक श्रीमद्भागवत के वचन हैं—यह सूर्योदय और सूर्यास्त पुरुषों के आयु को हर रहे हैं यानी घटा रहे है। एक क्षण भगवान् श्रीहरि की कथावाती सुनने में व्यतीत हो रहा है, उसके अतिरिक्त सभी मनुष्यों की आयु व्यर्थ चली जा रही है। उत्तमश्लोक=अर्थात् उत्तम=श्रीनारदादि महर्षियों ने जिसके यश, गुण व माहात्म्य का गान किया है, वह उत्तमश्लोक भगवान् श्रीहरि की जगन्मङ्गलमयी कथा में अपनी आयु को जोड़ दीजिये।

उक्तप्रकारेण श्रीभगवद्भजनप्रवृत्तिरुपपद्यते। किञ्चैवं सम्पदैश्वर्यादीनामनित्यनिश्चये कालनिरूपणमुपयुज्यते महदादीनां विकार उपचयांशः स चानित्यब्रह्माण्डं च महदादीनां विकारः कार्यं, तच्च चतुर्दशभुवनात्मकं तानि भूर्भुवःस्वर्महर्जनःतपःसत्यमिति एतन्नामकान्युपर्युपरि वर्तमानानि सप्त अधोऽधो वर्तमानानि अतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपातालाख्यानि च सप्त ब्रह्माण्डं तदन्तर्वर्त्ति जरायुजाण्डजादिचतुर्विधशरीरसमष्टि-व्यष्टिरूपमन्नपानादिकं च सर्वमनित्यमेव। किञ्च वेदा एकपञ्चाशद् वर्णाश्च नित्या एव नित्या वेदाः समस्ताश्चेत्यादिप्रमाणात्। नित्यत्वं चात्र कूटस्थतयाद्यन्तशून्यत्वं तच्च वेदादीनामस्त्येव पुराणादयो येनांशेन नित्यास्तमशं

नित्यवर्गे निधाय येनांशेनानित्यास्तनित्यवर्गे निधाय नित्यादिविभागः समुन्नेय इति सर्वमनवद्यम्। अत्र च कार्यकारणयोः तन्तुपटात्मकं परस्परं भिन्नद्रव्यद्वयमिति वदन्त्यतोभेद एवेति केचिद् वदन्ति; अन्ये तु परमाणव एव तथा तथा सन्निविष्टाः पटादिबुद्धिविषयाः न तु पटो नामास्तीति ब्रुवते। अपरे तु कारणात् कार्यनातिरिच्यते, किन्त्वेकस्मिन्नेव द्रव्ये कार्यकारणावस्थे भवत इत्याहुः। कार्यकारणभूतयोः तन्तुपटयोर्भेद इति उक्तं गुणगुणिनोरपि भेदाभेदौ ज्ञातव्यौ यदि गुणः सत्यपि द्रव्ये स्वयं नश्यति। यथाम्रफले श्यामत्वादि। तत्र भेदाभेदौ प्रतिपत्तव्यौ यदि च गुणः यावत् कालं द्रव्यं वर्त्तते तावत् तिष्ठति तदत्यन्ताभेद एव।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—ऊपर कहे गये तरीके से जीव की श्रीभगवद् भजन में प्रवृत्ति होती है और इसी तरह सम्पत्-ऐश्वर्यादि को अनित्य निश्चय समझने पर ही कालनिरूपण उपयुक्त होता है; चूँकि इस लोक में चल धन-सम्पत्ति-ऐश्वर्यादि सब नाशवान् हैं; यह बात हम पीछे कह चुके हैं। महदादिकों को विकार उपचयांश और वही अनित्य है। ब्रह्माण्ड महदादि के विकार कार्य और वह चौदह लोकरूप हैं। वे निम्न प्रकार हैं—१.भूर्लोक, २.भुवर्लोक, ३.स्वर्लोक, ४.महर्लोक, ५.जनोलोक, ६.तपोलोक और सत्यलोक— ये ऊपर के सात लोक हैं और नीचे के वर्तमान सात लोक १.अतल, २.वितल, ३.सुतल, ४.रसातल, ५.तलातल, ६.महातल और पाताल। ये हैं—चौदह भुवनों के नाम। ब्रह्माण्ड और उसके भीतर रहने वाले १.जरायुज, २.अण्डज, ३.स्वेदज और ४. उद्भिज्ज—ये चार प्रकार के शरीर समष्टि तथा व्यष्टिरूप अन्न-पानादि यह सब अनित्य हैं। एक पचास यानी इक्यावन (५१) अक्षर (वर्ण) ये नित्य ही हैं, समस्त वेद नित्य हैं, प्रमाण से ही नित्यता है और इस विषय में जो कूटस्थ रूप से आदि-अन्तरहित और वह वेद आदि का अस्तित्व ही है। पुराणादि जिस अंश से नित्य है, उस अंश को नित्य वर्ग में धारण करके और जितने अंश में अनित्य हैं, उनको अनित्य वर्ग में रख कर नित्यादि का विभाग कर लेना चाहिये, इस प्रकार से सिद्धान्त निर्दोष है। इस स्थल में कई ऐसे बताते हैं कि तन्तु पट स्वरूप कार्य और कारण में परस्पर भिन्न ये दोनों द्रव्य हैं; इसलिये भेद ही है। दूसरे कितने कहते हैं—परमाणु ही तथा-तथा सन्निविष्ट-प्रविष्ट होकर पटादि रूप से बुद्धि में प्रतीत हो रहा है, न तो

पट नाम का कोई है। दूसरे कई तो ऐसे कहते हैं कि कारण से कार्य अलग नहीं है। मृत्तिका जैसे घट का कारण है। सुवर्ण जैसे अलङ्कार का कारण है, ठीक वैसे ही ब्रह्म, जगत् का कारण है, जब कारण सत्य है, तब कार्य भी सत्य है; अतः ब्रह्म सत्य है, जगत् सत्य है। एक ही द्रव्य में कार्य और कारण दोनों अवस्था हो जाते हैं। कार्य-कारणरूप तन्तु तथा पट में भेद है—ऐसा कहा गया है। गुण और गुणी में भी भेदाभेद जानना चाहिये। यदि गुण सत्य होने पर भी द्रव्य (वस्तु) स्वयं नष्ट होता है; जैसे आम के फल रहते-रहते श्यामता का गुण स्वयं नष्ट हो जाता है, वहाँ भेदाभेद जानना चाहिये और यदि गुणी जब तक रहे तब तक काल द्रव्य रहता है, तव वह अत्यन्त अभेद ही रहता है। इसलिये न गुणी के साथ गुण का अत्यन्त भेद है और न तो अत्यन्त अभेद है, गुण-गुणी में स्वाभाविक भेदाभेद है। चूँकि जड़-चेतन स्थावर-जङ्गम का ब्रह्म के साथ भेदाभेद सम्बन्ध है, यह अतीव निर्मल, निःसंशय मतवाद है। उसे दिखलाते हैं—सर्वात्मत्व, सर्वनियतृत्व, सर्वव्यापकत्व, स्वतन्त्रसत्व, सर्वाधारत्व योग द्वारा स्वरूप से भेद हैं और ब्रह्मात्मकत्व, तन्नियम्यत्व तद्व्याप्यत्व, तत्तन्त्रसत्व, पराधेयत्व आदि योग से स्वरूप से अभेद हैं। इतरेतर अत्यन्त विलक्षण होने के कारण ब्रह्म का चेतना-चेतन=चराचर का स्वरूप से ही भिन्नत्व और अभिन्नत्व स्वीकार करते हैं। ब्रह्म समस्त जीव जगत् से भिन्न होता हुआ अभिन्न है यही भिन्नाभिन्नत्व है। श्रीमद्भगवद्गीता में विभिन्न वाक्यों के द्वारा यही भिन्न (भेद) और अभिन्न (अभेद) उपदिष्ट हुआ है।

भेदवाचक वाक्य यथा—'न चाहं तेष्ववस्थितः' (९/४) मैं उन जीवों में नहीं रहता, **'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्'** (९/५) मुझमें स्थित रहने पर भी जीव पात्र में घृत के समान मेरे में चिपटे नहीं हैं, मेरे इस योग ईश्वरता प्रभाव को देखो। **'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'** (९/१०) मेरे अध्यक्ष दृष्टिपात से प्रकृति (माया) इस चराचर जगत् को उत्पन्न करती है।

'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते' (१५/१६) ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त जितने शरीर हैं—सबको क्षर कहते हैं। कूटस्थ पुरुष को अक्षर कहते हैं। **'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः'** (१५/१७) क्षर और अक्षर से भिन्न उत्तम पुरुष (श्रीपुरुषोत्तम) को परमात्मा कहा जाता है।

अभेदवाचक वाक्य यथा—'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना' (९/४) हे अर्जुन! मैं इस चेतन और अचेतन जगत् में अव्यक्त (इन्द्रियों से अगोचर) मूर्त्ति से (अन्तर्यामी रूप से) व्याप्त हो रहा हूँ। **'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'** (९/१९) हे अर्जुन! मैं ही प्राणियों का जीवन और मरण हूँ। मैं ही स्थूल और सूक्ष्म हूँ।

'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्' (११/७) हे अर्जुन! मेरे इस शरीर में, उसमें भी उसके एक कोने ही में स्थित सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम के साथ जगत् को अभी देखो। यही स्वाभाविक भेदाभेदवाद है।

'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्' (१०/३९) चराचर कोई वस्तु ऐसी नहीं, जिसमें मैं न हूँ। **'वासुदेवः सर्वमिति'** (७/१९) क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि। इस प्रकार गीताशास्त्र में स्वयं श्रीभगवान् ने भेद और अभेद का प्रतिपादन किया है। यही द्वैताद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है।

केचित् गुणगुणिनोरत्यन्तभेद इति वदन्ति। अपरे तु परमाणव एव रूपादिस्वभावाः गुणगुणिभावो नास्तीत्याहुः। तच्चिन्त्यम्; एवं क्रियाक्रियवतोर्जातिव्यक्त्योरंशांशिनोः, शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदौ ज्ञातव्यौ। अत्यन्ताभेदश्च प्रतिपत्तव्यः; तत्र सत्यपि घटे चलनक्रियाया अभावात् घटचलनयोर्भेदाभेदौ भवतः। चेतनक्रियायाश्च नित्यत्वेन चेतनस्य तत् क्रियाया अत्यन्ताभेदः ब्रह्महत्यादिना जातेर्नाशात्, ब्राह्मणत्वपिण्डयोर्भेदाभेदौ भवतः। घटत्वपटयोः त्वत्यन्ताभेदः यस्मिन्नंशेऽपगतेंऽशिनोऽवस्थानं तेनांशेन भेदाभेदौ अन्यैरंशैरत्यन्ताभेद एव। एवं शक्तिशक्तिमतोरत्यन्ताभेदो भेदाभेदौ च विज्ञातव्यौ।

गुणक्रियाजातिशक्तिसादृशादयः सर्वेऽपि द्रव्यस्य धर्माः। आत्मानात्मापरमात्मेति तत्त्वत्रयमित्युक्तं तत्र तत्त्वं नाम अनारोपितं प्रामाणिकमिति यावत्। तच्च द्रव्यमद्रव्यं चेति द्विविधं, तत्र द्रव्यं च पुनर्द्विविधं जडमजडं च तत्राजडमपि द्विविधम् ईश्वरो जीवश्चेति। तत्राजडं वस्तु जीवश्च निरूपित अद्रव्यं तु सत्त्वं रजस्तमः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः संयोगः क्रियाजातिशक्तिसादृश्यं चेति त्रिकं त्रयोदशविधं सर्वेषामपि पदार्थानां पदार्थत्रयान्तर्भावान्न पदार्थान्तरविरोधः। अचेतनमेव वस्तु मायाऽविद्यादिपदवाच्यं शक्तिशक्तिमतोरभेदात् इत्याह मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यमिति। जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति श्रुतेः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—अब जगत् और ब्रह्म के मध्य में जो भेदाभेद, सम्बन्ध हैं, वे भी ब्रह्मसूत्र और निम्बार्कभाष्यावलम्बन द्वारा दर्शाते हैं। २/१/१४ संख्यक ब्रह्मसूत्र के भाष्य में भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य लिखते हैं—'कारण से कार्य का अनन्यत्व (अभिन्नत्व) है, अत्यन्त भिन्नत्व नहीं है। चूँकि मृत्तिका ही सत्य है, घट-शरावादि नाम में प्रकाशित विकार सकल केवल पृथक्-पृथक् नाम द्वारा ही पृथक् है'। 'यह चराचर समस्त विश्व ही ब्रह्मात्मक है' वह ब्रह्म सत्य है, तुम वही हो'। यह प्रकाशित समस्त जगत् ही ब्रह्म है। इत्यादि श्रुतिसूत्र से यही निर्धारित हुआ। ब्रह्म के साथ जगत् का जो भेद-सम्बन्ध है, वह **'जन्माद्यस्य यतः'** प्रभृति सूत्र में और निम्बार्कभाष्य में बताया गया है; अतएव ब्रह्म के साथ जगत् का स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है। ब्रह्म के साथ जगत् का केवल भेदाभेद सम्बन्ध है, वह ब्रह्मसूत्रकार भगवान् बादरायण **'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्'** सूत्र ३/२/२१ और भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य अपने भाष्य में स्पष्टरूप से बतलाये हैं—ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दोनों—रूपों का प्रतिषेध नहीं है। उसे दृढ़ करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—मूर्त (स्थूल) और अमूर्त (सूक्ष्म) विश्व (जगत्) स्वीय कारण ब्रह्म में भिन्नाभिन्न सम्बन्ध से अवस्थित है। चूँकि ब्रह्म के साथ विश्व का भेद और अभेद दोनों ही सम्बन्ध रहने के लिये श्रुति में उपदेश किया गया है। जैसे सर्प कुण्डलाकार में रहता है, उसका सभी अङ्ग अप्रकाशित रहता है, प्रसारित करने पर फण-लाङ्गुलादि उसका सभी अवयव प्रकाशित होता है, वैसे ही ब्रह्म से जगत् प्रकाशित होता है एवं प्रलयकाल में उसी में लीन होने पर अप्रकाशित रहता है। कई गुण और गुणी का अत्यन्त भेद बतलाते हैं। दूसरे तो ऐसे कहते हैं कि परमाणु ही रूपादि स्वभाव है, गुण और गुणीभाव नहीं हैं, ऐसे बताते हैं। वह चिन्तनीय है। इस प्रकार क्रिया और क्रियावान, जाति और व्यक्ति, अंश और अंशी, शक्ति और शक्तिमान में अत्यन्त अभेद और भेदाभेद जानना चाहिये। उसमें सत्य होने पर भी घट में चलन क्रिया का अभाव है यानी घट तो है पर उसमें चलने की क्रिया का नित्यत्व है, चेतन का और चेतन की क्रिया नहीं है। घट में और चलनक्रिया में भेदाभेद दोनों है। चेतन में क्रिया का अत्यन्त अभेद है। ब्रह्महत्या आदि से जाति का नाश हो जाता है, ब्राह्मणपन में व पिण्ड में भेदाभेद दोनों है। घटत्व और पट में तो अत्यन्त अभेद है। जिस अंश के दूर हो जाने पर अंशी बना रहे, उस अंश

से भेदाभेद है। अन्य अंशों से अत्यन्त अभेद ही है। इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान में अत्यन्त अभेद और भेदाभेद जानना चाहिये। गुण, क्रिया, जाति, शक्ति, सादृश्यादि—ये सब द्रव्य के धर्म हैं। इस वेदान्त-सिद्धान्त में तीन तत्त्व बताये गये हैं—१.आत्मा, २.अनात्मा और ३.परमात्मा। आत्मा=जीवात्मा अज्ञ, अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ है। जीव असमर्थ और परमात्मा सर्वसमर्थ है। जीव परमात्मा का अंश है और परमात्मा अंशी है। जीव उपासक है और प्रेरक परमेश्वर श्रीभगवान् सबके साक्षी एवं सबके उपास्य, वन्द्य, सदा ध्येय हैं। ब्रह्म का साथ जीव और जगत् का यह भेदाभेद सम्बन्ध का परिज्ञान होने पर उपासक की स्थिति, प्रवृत्ति, कर्तृत्व और भोक्तृत्व इत्यादि सम्पूर्ण रूप में ब्रह्म के अधीन, ब्रह्म उनका आत्मा यह परिज्ञान 'सम्यक् ज्ञान' होता है। अतएव उपासक ब्रह्म साथ जीव और जगत् का इस प्रकार भेदाभेद सम्बन्ध का ध्यान करें। वस्तुत: ब्रह्म का ही जीव अंश है, सुतरां उस प्रिय आत्मा की ही उपासना करनी चाहिये, अत: श्रुति स्वयं ही उपदेश करती है—**'आत्मानमेव प्रियमुपासीत'** (वृ०उ०१/४/८) 'प्रिय आत्मा की ही उपासना करे।' **'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:'** (वृ०उ०४/५/६)। अरे मैत्रेय! आत्मा का श्रवण, मनन और निरन्तर ध्यान करना चाहिये। ब्रह्म ही मेरी आत्मा है—इस प्रकार ध्यान करना कर्तव्य है। अर्थात् अपने को ब्रह्म से अभिन्न ज्ञान में ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिये। चूँकि भेद सम्बन्ध ज्ञान-बद्ध जीव का स्वाभाविक ही है। यही जीव के बन्धन का हेतु है, परन्तु अभेद सम्बन्ध ज्ञान पुन:-पुन: अभेदचिन्तन द्वारा जब उनके निकट ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप प्रकाश होता है तब वे जो ब्रह्म का अंश हैं, ब्रह्म उनका अंश है; सुतरां ब्रह्म के साथ उनका जो स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है, वही उनके निकट प्रकाशित होता है। उसके बाद वे देहान्त में मोक्ष को प्राप्त होते हैं। अनात्मा=जड़ प्रकृति माया व प्रधान पद से पुकारे जाते हैं और उसका कार्य दृश्यवर्ग क्षणिक, नाशवान, परिवर्तनशील यह दृश्य जगत् है। अपौरुषेय वेद-विद्या के अन्तिम चरम सिद्धान्त ये तीन तत्त्व अनादि माने गये हैं—**'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्'** (श्वेताश्वतरोपनिषद्१/१२)। अर्थात् भोक्ता=जीव, भोग्य=जड़ जगत् और प्रेरिता=प्रेरक परमात्मा को जानकर सब कुछ जानना हो जाता है, फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। वेदोपनिषद् में यही त्रिविध तत्त्व वर्णित हैं

अर्थात् आत्मा चेतन जीव, अनात्मा जड़ प्रकृति तथा परमात्मा उन दोनों के आधार, परिचालक और नियामक हैं। ब्रह्मम् यह पद मान्त और छान्दस प्रयोग है। ये जीव ब्रह्म, जगत् ब्रह्म और प्रेरक परब्रह्म तीन तत्त्व हैं। उसमें तत्त्व नाम अनारोपित तथा प्रामाणिक को कहते हैं। वह तत्त्व दो प्रकार के हैं—द्रव्य और अद्रव्य, उसमें द्रव्य पुनः दो प्रकार के हैं—जड़ और चेतन उसमें चेतन भी दो प्रकार के हैं—ईश्वर और जीव। उसमें चेतन वस्तु जीव है; वह तो निरूपण कर चुके हैं। अब तो अद्रव्य को बताने जा रहे हैं—सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकृति के गुण हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, क्रिया, जाति, शक्ति, सादृश्य—ये तेरह प्रकार के हैं। समस्त पदार्थों का तीनों पदार्थों में अन्तर्भाव हो जाता है (पदार्थान्तर में विरोध नहीं है। अचेतन वस्तु ही माया, अविद्या आदि शब्द से कहे जाते हैं। शक्ति और शक्तिमान में अभेद है; अतएव कहा है—माया प्रधान आदि पद से बोले जाते हैं। जीव और ईश को आभास से माया और अविद्या=अज्ञान करता है और स्वयं ही हो जाता है। **मीयते कार्यमनयेति माया=ज्ञानं, 'माया वयुनं ज्ञानमि'**-ति निघण्टुकोशात्। इस अर्थ में माया शब्द का अर्थ ज्ञान है और अविद्या अज्ञान को कहते हैं कि स्वयमेव भवति=इसे शक्तिमान भगवान् की मायाशक्ति, ज्ञानशक्ति, कृपाशक्ति कहते हैं। माया दम्भे कृपायां चेति विश्वः।

शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्रेति। अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णामित्यादि श्रुतेः। समः शब्दः सर्वपर्यायः। समेऽपि=सर्वेऽपि, तत्र=तस्मिन्नचेतने सत्त्वरजःतमोमयमचेतनमित्यर्थः। दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्ययेति स्मृतेः। प्रत्यक्षादिविषयत्वान्प्राकृतमचेतनमित्यर्थः। नन्वेतदयुक्तं तथाहि तत्रानुमानं विमतं मिथ्या दृश्यत्वाज्जडत्वात्परिच्छिन्नत्वात् शुक्तिरुप्यवदिति, मिथ्यात्वं च सदसत्त्वानधिकरणत्त्वं, तच्च सत्त्वविशिष्टासत्त्वाभावो वा सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपं धर्मद्वयं वा सत्त्वात्यन्ताभावविशिष्टासत्त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टं वेति चेन्न सदेकस्वभावे जगति विशिष्टाभावस्येष्टत्वात् न द्वितीयः सत्त्वासत्त्वयोरेकाभावे परस्य सत्त्वावश्यकत्वेन व्याघातात् अतएव न तृतीयः, ननु सत्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वानङ्गीकारान्न व्याघातः परस्परं विरहव्याप्यत्वादिकं च न व्याहतिकरं गोत्वाश्वत्वयोः परस्परं विरह व्याप्ययोरुष्ट्रे अभावसत्वात् किन्तु क्वचिदुपाधौ सत्वेनाप्रतीयमानत्वमसत्वं

त्रिकालाबाध्यत्वं सत्वं तयोरभावः साध्य इति चेन्न; असल्लक्षणस्यासङ्गब्रह्मण्यतिव्याप्तेः तस्याप्युक्तासत्वाङ्गीकारे लक्षणे सद्भिन्नेत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः शब्दाभासेन तुच्छस्यापि क्वचिदुपाधौ सत्वेन धीसम्भवाच्च उक्तसत्वाभावस्य शून्यवादिनाऽपि जगति स्वीकाराच्च लाघवात् सत्वासत्वयोः परस्पराभावत्वस्यैवौचित्याच्च नापि सार्वत्रिकत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वं निषेधस्य तात्विकत्वे अद्वैतहानिरतात्विकत्वे सिद्धसाधनापत्तेः व्यावहारिकत्वेऽपि तस्य बाध्यत्वेन तात्विकसत्वाविरोधित्वेनार्थान्तराच्च न च ब्रह्मस्वरूपो निषेधः, भ्रमकालनिश्चितस्य सापेक्षस्य निषेधस्य भ्रमकालनिश्चितनिरपेक्षनिर्विशेषब्रह्मरूपत्वासम्भवात् किञ्च स्वरूपेण निषेधेऽसत्वापत्तेः पारमार्थिकत्वेन निषेधप्रतियोगित्वस्य निधर्मकि ब्रह्मण्यपि सत्वात् एतेन स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वं मृषात्वमिति निरस्तम्। स एवोपरिष्टादिति प्रतीयमानोपाधिके असङ्गत्वात्केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगिनि ब्रह्मण्यतिव्याप्तेः। न च ज्ञाननिवर्त्त्यत्वं मिथ्यात्वं सेतुदर्शनं निवर्त्त्य ब्रह्महत्यादेरिव संसारस्य ब्रह्मज्ञानेन निवृत्तेर्दृष्टत्वात्। नापि सद्भिन्नत्वं मिथ्यात्वं सत्वं च प्रमाणसिद्धत्वं प्रमाणत्वं च दोषासहकृतज्ञानकारणत्वं घटादेरपि कल्प्यदोषहीनप्रत्यक्षादिसिद्धत्वात् कल्प्यदोषस्य ब्रह्मबोधकवेदेऽपि सम्भवात्। सर्वप्रमाणगम्ये त्वदभिप्रेतशुद्धेऽति। व्याप्तेश्चेति मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चः सत्यः स्यात् ब्रह्मवत् मिथ्यात्वस्य सत्यत्वे तेनैवाद्वैतहानिः तद्वदेव विश्वस्यापि सत्यत्वोपपत्त्या दृश्यत्वादिकप्रयोजकं स्यात्। दृश्यत्वं च न तावद् वृत्तिव्याप्यत्वं वेदान्तजन्यवृत्तिविषये ब्रह्मणि व्यभिचारात्। अन्यथा ब्रह्मपराणां वेदान्तानां वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। नापि जडत्वं हेतुः तद्धि नाज्ञानत्वमात्मानि व्यभिचारात्। तथाहि ज्ञानं स्वविषयं परविषयं वा; नाद्यः त्वयानङ्गीकारान्नान्त्यः मोक्षे पराभवात्। न तु परिच्छिन्नत्वं हेतुः तच्च देशतः कालतो वस्तुतश्चेति त्रिविधं तत्र देशतः परिच्छिन्नत्वमत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, कालतः परिच्छिन्नत्वं ध्वंसप्रतियोगित्वं, वस्तुतः परिच्छिन्नत्वमन्योन्याभावप्रतियोगित्वमिति चेन्न; नाद्यं तयोर्ब्रह्मणि व्यभिचारात् मध्यमस्य ध्वंसकालादौ भागासिद्धे सप्रकारकधीबाधार्हत्वमध्यस्ताधिकदोषप्रयुक्तभानत्वं प्रतिभासमात्रशरीरत्वं चोपाधिः देहात्मैक्याद्यध्यासस्यापि सप्रकारकभेदविषयकज्ञानेन बाधयोग्यत्वान्न तत्र साध्याव्याप्तिः। न च

सप्रकारकेति अध्यस्ताधिकेति च विशेषणं व्यर्थं तद्विनैवोपाधेः साध्यव्यापकत्वात् तावन्मात्रस्य तु साधनव्यापकत्वान्नोपाधिकत्वमिति वाच्यम्।

विशिष्टाभावस्यातिरिक्तत्वेन वैयर्थ्याभावादिति सपरिकरमिथ्यात्वपञ्चलक्षणीनिरासः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—जड़ अचेतन तत्त्व सत्त्व, रज और तम के बारे में बताते हैं। इनमें शुक्ल आदि भेद हैं। जैसे सफेद, लाल और काले सत्त्वगुण, निर्मल एवं प्रकाशक होने से उसे शुक्ल=श्वेत माना गया है। रजोगुण रागात्मक है, अत: उसका रङ्ग लाल माना गया है तथा तमोगुण के अज्ञानरूप एवं आवरक होने से उसे कृष्णवर्ण बताया गया है। यह त्रिगुणमयी जड़ प्रकृति अजा=अजन्मा है। आद्याचार्य-पठित सम शब्द सर्व शब्द का वाचक है। गीताशास्त्र में श्रीभगवान् ने कहा है कि यह दैवी गुणमयी मेरी माया दुरत्यया है। प्रत्यक्षादि विषय प्राकृत अचेतन पहले निरूपण कर चुके हैं। ऊपर निरूपण किये गये औपनिषद सिद्धान्त से विरुद्ध मत रखने वाले मायावादी कहते हैं—यह अयुक्त है, यानी पहले कहा हुआ ठीक नहीं है। इसको दृढ़ करने के लिये अनुमान करते हैं। अनुमान में पक्ष, साध्य, हेतु और दृष्टान्त—ये चार कहे जाते हैं। **विमत** यह पक्ष है; सकल प्रपञ्च को विमत बोलते हैं। मिथ्या **साध्य** है, दृश्य **हेतु** है, जडत्व-परिच्छिन्नत्व—ये दोनों भी मिथ्यात्व के साधक हेतु हैं और शुक्तिरूप्य **दृष्टान्त** है। मायावादी बताते हैं कि जैसे शुक्ति में रुप्य मिथ्या है, इसी तरह दृश्य होने से, जड़ होने से और परिच्छिन्न होने से जगत् मिथ्या है। अब कहते हैं, मिथ्या किसको कहते हैं कि सत्व और असत्व का अनधिकरण मिथ्या है? इस पर पुन: विचार करते हैं—सत्वविशिष्ट असत्वाभावरूप है किंवा सत्वाभाव और असत्वाभाव रूप धर्मद्वयस्वरूप है; किंवा सत्वाभावविशिष्ट असत्वाभाव रूप है, ये तीन विकल्प हैं। इनमें से पहले विकल्प का खण्डन करते हैं—सत्वविशिष्ट असत्त्वाभाव जगत् में मानते ही हैं, क्योंकि जगत् में स्वभाव से ही सत्स्वरूपता है। उसमें सत्त्वविशिष्ट असत्त्व कैसे रह सकता है? दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है; असत्त्वाभाव। माना उस अवस्था में सत्त्वाभाव नहीं आ सकता; किन्तु सत्त्व ही रह जाता है। इसी तरह सत्त्वाभाव रहने पर असत्त्व ही रह जाता है; असत्त्वाभाव नहीं आ सकता। सत्त्वाभाव असत्त्व स्वरूप है, जिससे तीसरा विकल्प नहीं कह सकते; इसी प्रकार व्याहति दोष आयेगा। ननु इत्यादि वाक्य से पूर्वोक्त व्याघातादि दोषों का निवारण करते हैं—सत्त्वाभाव असत्त्वस्वरूप नहीं और असत्त्वाभाव सत्त्वरूप नहीं; परस्पर

विरहव्याप्यत्वरूप सत्त्वाभाव मानने से भी व्याहति का अवसर नहीं है। जैसे गोत्व और अश्वत्व परस्पर विरह के व्याप्य हैं। अर्थात् गौ में गोत्व धर्म है और अश्व में गोत्व नहीं रहता; ऐसे ही अश्वत्व के अभावशाली गौ में अश्वत्व नहीं रहता, दोनों का अभाव उष्ट्र में रहता है। इससे सत्त्व और असत्त्व का पहले कहे गये अर्थ नहीं बन सकते। अब उनका अर्थ लिखते हैं—किसी स्थान में जो प्रतीयमान नहीं है, वह असत्त्व है और जिसका तीनों काल में बाध नहीं होता, वह सत्त्व है। इन दोनों का अभाव साध्य है, ऐसा कहना भी युक्तियुक्त नहीं है। असत् का लक्षण ब्रह्म में अतिव्याप्ति दोष है; कारण यह है कि ब्रह्म का भी असङ्ग है। यदि उसे भी उक्त असत्त्व मानेंगे उसके लक्षण में सद्भिन्नत्व विशेषण व्यर्थ होता है। शब्दाभास से तो खपुष्प भी किसी स्थान में सत्प्रतीति का विषय हो सकता है। उक्त सत्त्वाभाव तो शून्यवादी भी जगत् में मानता ही है। लाघव से सत्त्व और असत्त्व का परस्पर अभाव रूप मानना ही उचित है। सार्वत्रिक और त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व भी नहीं कह सकते; जो निषेध तात्त्विक=सत्य माना जाय तो अद्वैत की हानि है और अतात्त्विक निषेध मानें तब भी सिद्धसाधन दोष है, व्यावहारिक मानें तो तात्त्विक सत्य का विरोधी न होने से अर्थान्तर दोष हो जायेगा; निषेध को ब्रह्मस्वरूप मानने से बताये गये दोष का परिहार हो सकता है; परन्तु जिस काल में भ्रान्ति है, उस काल में निषेध का निश्चय नहीं है। उसी भ्रम-काल में निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप का तो निश्चय है; फिर कैसे ब्रह्मस्वरूप हो सकता है। और भी दोष है कि जो स्वरूप से निषेधक होंगे तो असत् को समान प्रपञ्च को भी मानना होगा। अर्थात् आकाशपुष्प असत् है, ऐसे ही प्रपञ्च को भी असत् कहना पड़ेगा; इसलिये स्वरूप से निषेध नहीं कर सकते। पारमार्थिकत्व रूप से निषेध प्रतियोगिता निर्धर्मक ब्रह्म में भी है, इससे पारमार्थिक निषेध भी नहीं कर सकते। प्रपञ्च के अत्यन्ताभाव का अधिकरण ही जो ब्रह्म उसमें जो प्रतीयमान है, वह मिथ्या है—ऐसे मिथ्या का लक्षण नहीं कह सकते, ब्रह्म में अतिव्याप्ति है। श्रुति कहती है—वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है। वही दाँयें—बाँयें है। वही सब कुछ है (छान्दोग्योपनिषद् ७/२५/१)। इस प्रकार सनातनी श्रुति शास्त्र में ब्रह्म की दृश्यमान जागतिक, समस्त भूत पदार्थों में व्याप्ति वर्णित है। प्रतीतिगोचर उपाधियों से ब्रह्म को असङ्गत्व बोधन किया गया है। प्रतीयमान उपाधिक असङ्गत्व होने से केवलान्वयी अत्यन्ताभाव प्रतियोगी ब्रह्म में अतिव्याप्ति है। उसका अभाव सर्वत्र है और उस अभाव का प्रतियोगी ब्रह्म ही है। जिसकी ज्ञान से निवृत्ति होती है, वह मिथ्या है; यह भी

मिथ्यात्व का लक्षण नहीं बन सकता। जैसे ब्रह्महत्या की निवृत्ति सेतुदर्शन से होती है, ऐसे सत्य संसार की निवृत्ति ब्रह्मज्ञान से दिखाई पड़ती है। जो सत् से भिन्न है, वह मिथ्या है—यह कथन भी असत्=तुच्छ है। चूँकि उसमें विचार होगा—सत्त्व क्या है? कदाचित् कहो कि **प्रमाणाद्धि वस्तुसिद्धिः**। प्रमाण से ही वस्तु की सिद्धि होती है अर्थात् प्रमाणों से सिद्ध है, वही सत्त्व है। प्रमाण उसे कहते हैं कि जो दोष-निरपेक्ष ज्ञान का कारण हो। घटादि भी दोषहीन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है और मिथ्यालक्षणग्रस्त नहीं हुआ, कल्पित दोष तो ब्रह्मबोधक वेद में भी है ही। समस्त प्रमाणों का अगोचर आपके अभिमत जो शुद्ध ब्रह्म, उसमें अतिव्याप्ति है। मिथ्यात्व को जो मिथ्या कहें तो प्रपञ्च सत्य होना चाहिये। ब्रह्म की तरह अगर मिथ्यात्व को सत्य कहें तो अद्वैत की हानि हो जायेगी। ऐसे ही विश्व के भी सत्य हो जाने पर मिथ्यात्व के साधक, जो दृश्यत्वादि हेतु हैं, वे कार्यकारी नहीं होंगे; दृश्यत्व उसको कहते हैं जो वृत्ति का विषय हो; परन्तु इस प्रकार दृश्यत्व का निरूपण बनें नहीं, ब्रह्म में व्यभिचार आवे, जैसे कि वेदान्तजन्य वृत्ति का विषय है, मिथ्यात्व वहाँ रहे नहीं, दृश्यत्व हेतु रह गया, इसी रीति से व्यभिचार हुआ। साध्य के अभाव वाले जो हेतु रह जाय उसे व्यभिचार कहते हैं। यदि वेदान्तजन्य वृत्ति का विषय ब्रह्म को न मानें तो ब्रह्म के प्रतिपादन करने वाले वेदान्त वचन व्यर्थ हो जायेंगे। जड़त्व भी हेतु नहीं बनता। यदि जड़त्व अज्ञानस्वरूप कहा जाय तो आत्मा में व्यभिचार है। उसे दिखलाते हैं। ज्ञान को स्वविषयक मानों कि परविषयक, पहला स्वविषयक तो आपको अङ्गीकार नहीं, परविषयक कहो तो मोक्ष में पर ही अभाव है=उपलब्ध नहीं। इस तरह परिच्छिन्नत्व हेतु नहीं बनता और यह परिच्छिन्नत्व देश से, काल से ओर वस्तु से होता हे। त्रिविध परिच्छिन्नत्व में देश से परिच्छिन्नत्व वह होता है, जो कि अत्यन्त अभाव का प्रतियोगी हो। काल से परिच्छिन्नत्व वह होता है, जो कि ध्वंस का प्रतियोगी हो और वस्तु से परिच्छिन्नत्व वह होता है, जो कि अन्योन्याभाव का प्रतियोगी हो। इति चेन्न कह कर खण्डन कर रहे है; यह कहना ठीक नहीं है। पहला देश और वस्तु से परिच्छिन्नत्व ब्रह्म में व्यभिचारी है। जैसेकि ब्रह्म में मिथ्यात्वरूप जो साध्य, वह तो रहता ही नहीं और काल से परिच्छिन्नत्व भी नहीं कह सकते। ध्वंस कालादि में भागासिद्धि होती है; क्योंकि पक्ष का एकदेश जो ध्वंसादि उसमें काल से परिच्छिन्नत्व नहीं रह सकता। अब अनुमान में उपाधि दिखलाते हैं—सप्रकारक बुद्धि से बाध्य के योग्य हो और अध्यस्त से अधिक

दोषप्रयुक्त ज्ञानत्व और प्रतिभासमात्र शरीरत्व—ये तीन उपाधियाँ हैं। देह और आत्मा का ऐक्याध्यास भी सप्रकारक भेदविषयक ज्ञान से बाध्य के योग्य है; जिससे उपाधि साध्य का व्यापक हो जाता है; क्योंकि उपाधि वही है, जो कि साध्य का व्यापक एवं साधन का अव्याप्य हो। यद्यपि सप्रकारक और अध्यस्ताधिक— इन दोनों विशेषणों के विना भी उपाधि साध्य का व्यापक हो जाता है; परन्तु साधन का अव्यापक नहीं बन सकता; अपितु व्यापक ही हो जाता है। इससे बताये गये दोनों विशेषण व्यर्थ हैं और उपाधि भी सङ्गत नहीं हो सकती; फिर भी विशिष्ट अभाव के अतिरिक्त मानने से दोनों विशेषण व्यर्थ नहीं हो सकते, उपाधि भी चरितार्थ हो जाती है। इस प्रकार परिकर-सहित मिथ्यात्व पञ्चलक्षणी निरस्त कर दी गयी।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ८६ वें अध्याय में वर्णित है, यह परिदृश्यमान समस्त चराचर जगत्, इसके सम्बन्ध की सारी भावनाएँ और इसके कारण प्रकृति-महत्तत्त्वादि सब के सब ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण के ही रूप हैं।

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम्। (श्रीमद्भागवत २/६/३०)

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।(श्रीमद्भगवद्गीता १०/४२)

पादोऽस्य विश्वा भूतानि। (पुरुषसूक्तम्)

स एवेदं सर्वम् (छान्दोग्योपनिषद् ७/५/१)

सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/१)

आत्मेदं सर्वम् (छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/१)

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म (माण्डूक्योपनिषद् २)

अर्थः—भगवान् नारायण में यह परिदृश्यमान नामरूपात्मक समस्त जगत् अवस्थित है। हे अर्जुन! मैं अपने एकांश मात्र से समस्त जगत् (संसार) को धारण करके अवस्थित हूँ। समस्त विश्व परमात्मा का अंश है। आत्मा ही यह समस्त जगत् है। इत्यादि शास्त्रवाक्य के द्वारा जगत् को ब्रह्म बताकर जगत् को सत्य बतलाया गया है।

और भी जरा ध्यान से सुनिये—

इदं हि विश्वं भगवान् (श्रीमद्भागवत १/५/२०)

देवर्षि नारद महर्षि वादरायण से कहते हैं—हे मुने! यह विश्व ही भगवान् है। भगवान् बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र २/१/१४ से २/१/२० में ब्रह्म से जगत् का अनन्यत्व बतलाकर जगत् को सत्य बताते हैं। भगवान्

श्रीनिम्बार्काचार्य इन सारे ब्रह्मसूत्र के भाष्य में जगत् को सत्य कहे हैं। श्रीमद्भागवत श्रुति और गीताशास्त्र विरुद्ध मायावादी जगत् को मिथ्या कहते हैं। यह कुसंस्कार है। कुसंस्कार छाया है। वे कहते हैं—उपनिषद् की दृष्टि में ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जगत् मिथ्या है। यह आपातरमणीय कपोलकल्पित बृहत् मिथ्या है। जगत् मिथ्या है—यह उपनिषदों के महर्षियों ने कभी भ्रम से भी नहीं लिखा। विश्वात्मा परमेश्वर परब्रह्म ने सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष की संरचना पूर्वसृष्टि के अनुसार ही अपने से की है, जैसे मकड़ी अपने पेट में से जाले को बाहर निकालकर फैलाती है और फिर उसे निगल जाती है। इस बात को ठीक उसी तरह जानना चाहिये। इस जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। **'जनी प्रादुर्भावे'** तथा **'णश् अदर्शने'** धातुद्वय इस सत्यता का प्रतिपादक है। समस्त उपनिषदों का सार श्रीमद्भगवद्गीता इस सत्यता का साक्षी दे रही है—हे भारत! देही आदि में=जन्म के पहले अव्यक्त=अप्रकाशित रहते हैं, बीच में=जन्म के बाद जन्म और मृत्यु के बीच में प्रकाशित रहते हैं, मृत्यु के बाद फिर से अव्यक्त=अदर्शन हो जाते हैं; अतः इसमें शोक या विलाप का क्या कारण है? (गी०२/२८) तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्............सत्यमभवत् यदिदं किञ्च (तै०उ०२/६/१), सर्वं खल्विदं ब्रह्म। **तज्जलानिति शान्त उपासीत** (छा०उ०३/१४/१), तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। (श्वेताश्वतर ०४/२)। इस प्रकार सैकड़ों सहस्रों श्रुतिवचन जगत् की सत्यता का साक्षी दे रहे हैं। जगत् मिथ्या है, यह बात श्रुति नहीं कहती।[1]

श्रीविष्णुपुराण में भी देखिये—

एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तदेतदखिलं जगत्॥
१/२२/५८

तदेतदक्षरं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत् ॥
११/२२/५१

हे मुनिवर! जिस प्रकार एकदेश में स्थित अग्नि की ज्योत्स्ना (प्रभा) विस्तीर्ण होकर व्याप्त होती है, ठीक उसी प्रकार परब्रह्म की शक्ति ही (शक्ति का विकास ही) यह जगत् है। जीवज्ञान में आविर्भाव, तिरोभाव, उत्पत्ति,

१. **द्रष्टव्य**—अध्यास परपक्ष गिरिवज्र, निम्बार्ककुञ्ज, वृन्दावन।

नाश दृष्ट होने पर भी यह अखिल जगत् वस्तुत: अक्षर और नित्य ब्रह्मस्वरूप है। श्रीमद्भागवत में इस तथ्य को स्पष्ट रूप में बताया गया है—इस संसार में भगवत्स्वरूप से जो तत्त्वत: अवगत हो चुके हैं, वे जानते हैं कि यह जो जड़-चेतनात्मक अखिल जगत् देखने, सुनने और अनुभव में आ रहा है, समस्त जगत् ही भगवद्रूप है, इस जगत् में ब्रह्मभिन्न अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। यथा—

व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन॥

(भा०१०/१४/५६)

निखिल प्रपञ्च में ब्रह्म की व्याप्ति है।

अत: यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या कल्पनामात्र स्थानीय है ही नहीं, ब्रह्म का ही सत्य प्रकट रूप ब्रह्म ही इस जगत् रूप में प्रकाशित है। सब ब्रह्मात्मक है।

अथाप्राकृतं निरूप्यते, अप्राकृतं=विकारशून्यं वस्तुइयाँस्तु विशेषाः, भक्तजनैर्हरयेऽर्पितस्य प्राकृतस्यापि भोजनसामाग्र्यादेरप्राकृतत्वं जायते इति, अतएवान्याप्यप्राकृतः संसारो वर्त्तते इति केचित् वदन्ति, वैकुण्ठादिगत-शुकशारिकादीनामप्राकृतिकलौकिकशरीरादिरूपमप्राकृतमेवाचेतनं चेतनं तच्च ज्ञानजनकं इदमेव स्वप्रकाशरूपं शुद्धसत्त्वद्रव्यमित्युच्यते, अतएव सुगन्धपुष्पाञ्जनोद्वर्त्तनवस्त्रभूषणविमानगोपुरचत्वरमण्डपादिसर्वशुद्धसत्त्व-द्रव्यात्मकमेव तदुक्तं भवति श्रीमद्भागवते

प्रववर्ति यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः।
न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः॥
श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः॥
प्रवालवैदुर्यमृणालवर्चसः परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमलिनः॥
भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम्।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः॥

(२/९/१०/१२)

प्रकृतिरिह कालः शुद्धसत्त्वं विभाग इति किल कथयित्वा ब्रह्म तत्त्वं परस्तात् कथयति कमनीयं श्रीमदाचार्यदेवः प्रवरपरमहंसस्वामिभावाधिशाली।

इतिश्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्तकश्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीश्वरपादपीठसमलङ्कृत-श्रीश्रीभट्टपादपद्मपरागभृङ्गेण श्रीहरिव्यासदेवाचार्येण विरचिते वेदान्तसिद्धान्तरत्नाञ्जलौ द्वितीयः परिच्छेदः।।२।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—उपनिषदों तथा श्रीमद्भागवत एवं प्रपञ्च का सत्यत्व प्रतिपादन करके अब इस समय अप्राकृत वस्तु का निरूपण करते हैं। जो विकाररहित वस्तु है, उसे अप्राकृत कहते हैं। उसमें यह विशेष है कि भक्तजन भक्ति के साथ श्रीभगवान् को प्राकृत वस्तु जैसे—पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि प्रदान करते हैं। ये सारी भोजन सामग्री आदि भी अप्राकृत=दिव्य हो जाती है। अतएव अन्य भी अप्राकृत संसार है—ऐसे कई कहते हैं। वैकुण्ठ आदि में जो तोता-मैना आदि अप्राकृत लौकिक शरीर आदि रूप अप्राकृत ही अचेतन हैं और वह ज्ञानजनक है। यह स्वयंप्रकाश रूप शुद्ध, सत्त्व द्रव्य है—ऐसा बताते हैं। अतएव सुगन्ध, पुष्प, अञ्जन, उद्वर्तन, वस्त्र, भूषण, विमान, गोपुर, चौराहे, मण्डपादि सभी शुद्ध सत्त्व द्रव्यस्वरूप ही श्रीमद्भागवत में वर्णित हैं। श्रीभगवान् की नाभि में से एक कमल पैदा हुआ। कमल में से ब्रह्माजी पैदा हुए और वे श्रीभगवान् की आज्ञा से चतुर्विध सृष्टि करने लगे। नाभि में से पैदा हुआ कमल, कमल में से ब्रह्मा पैदा हुए और नाभिकमल पर बैठे ब्रह्मा जी को कुछ पता नहीं कि सृष्टि कैसे बनायें? जब चे चिन्तन करने लगे तब उनको आकाशवाणी द्वारा 'त' और 'प' ये दो अक्षर सुनाई पड़े—**'स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशम्। कादयो मावसानाः स्पर्शाः।'** जितने व्यञ्जन वर्ण हैं, उनमें 'क' से लेकर सोलहवाँ अक्षर 'त' है और इक्कीसवाँ अक्षर 'प' है। यह तप ही धन है जिनका, वे तपोधन महापुरुषों का परम धन है। अब ब्रह्माजी यह ढूँढ़ने लगे कि इन दो अक्षरों 'त' और 'प' का उच्चारण किसने किया। उन्होंने चारों तरफ देखा, परन्तु कुछ भी पता नहीं चला। उसके बाद श्रीभगवान् ने बड़ी कृपा करके ब्रह्माजी को अपने अप्राकृत वैकुण्ठ लोक का दर्शन कराया। जब ब्रह्माजी को अप्राकृत वैकुण्ठधाम के दर्शन हुए तो उन्होंने देखा कि श्रीभगवद्धाम वैकुण्ठ में न रजस् और न तमस् है; केवल शुद्ध ही सत्त्व है। न उन दोनों का मिश्रण है, न माया है और न काल का विक्रम=पराक्रम है। वहाँ भगवान् श्रीहरि के पार्षद=सेवकजन सुर तथा असुरों द्वारा पूजित हो रहे हैं। वहाँ तो सब-के-सब श्याम, उज्ज्वल, शतपत्र-लोचन, अतिकमनीय, अतिसुकुमार पीताम्बरधारी बड़े ही दिव्य चतुर्भुज=चार भुजा वाले, प्रकाशमान, मणियों के समूह की धुकधुकी भूषण अर्थात् मणिजटित तपाये हुए सुवर्ण के सदृश प्रभायुक्त आभूषण धारण किये सब कृष्णानुचर

शोभायमान हो रहे हैं। उनकी छवि मूँगे, वैदूर्य मणि और कमलनाल की चमक तन्तु के समान है। उनके कानों में कुण्डल और मस्तक पर किरीटमुकुट देदीप्यमान है और कण्ठ में मालाएँ शोभा पा रही हैं। ऐसे महापुरुष लोग प्रकाशमान जिस पर विराजमान हैं, उस विमान की पंक्ति से वैकुण्ठ में शोभा बिजली के समान चमक रही है। अर्थात् जैसे आकाश बिजली के साथ बादलों से शोभायमान होता है, वैसे ही वह अप्राकृत वैकुण्ठ लोक प्रमदा उत्तमाओं की कान्ति से युक्त महात्माओं के दिव्यातिदिव्य प्रकाशमय विमानों से शोभायमान है, देदीप्यमान है। ब्रह्माजी ने श्रीभगवान् की प्रेरणा से तप करके उनके अप्राकृत परम धाम का दर्शन किया। **तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः सन्दर्शयामास परं न यत्परम्।** (भा० २/९/९) अस्यार्थः—श्रीभगवान् ने ब्रह्माजी की तपस्या से प्रसन्न होकर उन्हें अपना लोक दिखाया, जो सबसे श्रेष्ठ है और जिससे पर कोई दूसरा लोक नहीं है। इसे ही परम वैष्णव पद कहते हैं—**परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्** (भा० २/२/१८) अर्थात् उस परम पद को वैष्णव कहते हैं। प्रकृति, काल, शुद्ध सत्त्व विभाग इस प्रकार बताकर इसके आगे परमहंसप्रवर स्वामी भावाधिशाली श्रीमद् आचार्यदेव श्रीनिम्बार्क भगवान् अनुत्तम परम सुन्दर सब से परे ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करते हैं (चतुर्थ श्लोक में)—

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं राधालिङ्गितविग्रहम्।
श्रीनिवासं सदा वन्दे गुरुं राधाविहारिणम्॥

जो कान्ति से कृष्णवर्ण हैं अर्थात् वर्षाकालीन नवीन मेघ के समान श्यामवर्ण हैं तथा जो कान्ति से अकृष्ण अर्थात् गौरवर्ण=गौर तेज और श्याम तेज राधाकृष्ण बुद्धियोग देने वाले गुरु हैं। जिनके स्वेच्छामय, छन्दोमय श्रीविग्रह सदा राधा से युक्त हैं। जिनके वक्षःस्थल पर श्रीजी (राधाजी) सदा छन्दोमय निवास करती हैं, ऐसे राधाविहारी श्रीकृष्ण की हम सदा वन्दना करते हैं।

कृपा करके ब्रह्मविद्या प्रदान कर इस मृत्युमय संसारसागर से उद्धार करने वाले श्रीगुरुदेव राधाविहारीदासजी काठियाबाबा महाराज की हम सदा वन्दना करते हैं।

इति श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रमतानुवर्तिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यत्यागमूर्तिस्वामिधनञ्जयदासजीकाठियाबाबा तर्कतर्कव्याकरणतीर्थपादपद्मान्तेवासीयोगिराजस्वामीराधाविहारिदासजी काठियाबाबाचरणारविन्दचञ्चरीक डॉ० स्वामी द्वारकादासकाठियाबाबाकृत व्याख्या श्रीवृन्दावनचन्द्रिका द्वितीय परिच्छेद समाप्त।।२।।

तृतीयः परिच्छेदः

सुरचितशुभवेशौ भूषितौ भूषिताभिरधिकृतपरहासौ नन्दयन्तौ जनान्स्वान्।
श्रुतिभिरपि विमृग्यौ गोपिकानन्दपालौ विमलकमलनेत्रौ नौमि भक्त्येकनेत्रौ।।

तत्र तावदात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (बृहदारण्यकोपनिषद् २/३/५)

इत्यादिना श्रवणादिकं च भक्तिसहकृतं साधनत्वेनाभिहितम्। तत्र कोऽयं श्रवणादिविधिः त्रयो हि विधेः प्रकाराः अपूर्वविधिर्नियमविधिः परिसंख्याविधिश्चेति। तत्र कालत्रयेऽपि कथमप्यप्राप्तिफलको विधिरपूर्वविधिः। यथा व्रीहीन् प्रोक्षतीति, प्रोक्षणस्य संस्कारकर्मणो विधिं विना मानान्तरेणाप्राप्तेः पक्षे प्राप्तस्याप्राप्तांशपरिपूर्णो विधिर्नियमविधिः। यथा व्रीहीन् अवहन्तीति। अत्र विध्यभावेऽपि पुरोडाशप्रकृतिद्रव्याणां तण्डुलनिष्पत्त्याक्षेपादेवावहनन-प्राप्तिर्भविष्यतीति न तत्प्राप्त्यर्थो विधिः। किञ्चाक्षेपादेवावहननप्राप्तौ तद्वदेवलोकावगतकारणत्वविशेषान्नखदलनादिरपि पक्षे प्राप्नुयादिति अवहननाप्राप्तांशसम्भवात् तदंशपरिपूर्णफलकः। द्वयोः शेषिणोरेकस्य शेषस्य वा एकस्मिन् शेषिणि द्वयोः प्राप्तौ शेषान्तरस्य शेष्यन्तरस्य वा। निवृत्तिफलको विधिस्तृतीयः। यथा अग्निचयने इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते इत्यत्राश्वरशनाग्रहणं गर्दभरशनाग्रहणं चानुष्ठेयं तत्र इमामगृभ्णन् इति मन्त्रो लिङ्गादेव रशनाग्रहणप्रकाशनसामर्थ्यरूपात् गर्दभरसनाग्रहण इवाश्वरशनाग्रहणेपि नित्यं प्राप्नोतीति। न तत्प्राप्त्यर्थेऽयं विधिः, किन्तु लिङ्गाविशेषाद्गर्दभरशनाग्रहणेऽपि मन्त्रः प्राप्नुयादिति तन्निवृत्त्यर्थः। यथा वा ज्योतिष्टोमेशंय्वन्ताप्रायणीयां संतिष्ठते न पत्नीः संयाजयन्तीत्यत्राद्यवाक्ये-नशव्यन्त त्वेविहिते तदुत्तरभाव्यगोपकरणे प्राप्ते न पत्नीरिति वाक्येन न पत्नी संयाजभिन्नेषु सक्तवाक्समिष्टयजुरादिषुकरणं परिसंख्यायते इदं तु पूर्वपक्षरीत्योदाहृतम्। अन्यथा संतिष्ठते इत्यकरणशास्त्रस्य प्रत्यक्षत्वेन प्राप्तिपरिसंख्या स्यात्। सा च स्वार्थत्यागपरार्थकल्पनाप्राप्तिबाधादिरूपानन्त-दोषदुष्टा विधिरत्यन्तप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति तत्र त्वन्यत्र च प्राप्तौ

परिसंख्येति गीयते यस्य शब्दत अर्थतो वा अयोगव्यावृत्तिफलं सनियमविधिः नियमपरिसंख्यातिरिक्तफलकविधित्वमपूर्वविधित्वम् एषामुदाहरणसाङ्कर्येऽपि न क्षतिरति नव्याः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—सुशोभित सुन्दर गौर श्याम तेजद्वय विविध आभूषणों से विभूषित अधिकृत परिहास-विलास भरे अपने भक्तजनों को सुख देने वाले श्रुतियों द्वारा अन्वेषणीय वृषभानुनन्दिनी देवी राधा और नन्दनन्दन देव कृष्ण की मैं भक्ति गद्गद् हृदय से स्तुति करता हूँ। परमात्मा के दर्शन के लिये ये तीन साधन बताये गये हैं—१.श्रवण, २.मनन और ३.निदिध्यासन=निरन्तर ध्यान अर्थात् चिन्तन। जैसे कहा गया है—सत्यं परं धीमहि, ध्यायेदजस्रं हरिम्=अर्थात् हम सत्यस्वरूप परमात्मा का ध्यान करते हैं। हमेशा भगवान् श्रीहरि का ध्यान इत्यादि करें। तत्त्वकथा श्रवण, मनन व सतत चिन्तन श्रीभगवद्दर्शन करने योग्य सुलभ साधन है अर्थात् केवल भक्ति के साथ साधन रूप से श्रुति ने विधान किया है। उसमें श्रवणादि यह कौन विधि है? तीन ही विधि के प्रकार हैं—१.अपूर्वविधि, २.नियमविधि और ३.परिसंख्याविधि। उसमें तीनों कालों में भी जो वस्तु किसी प्रकार से भी प्राप्त नहीं, उस फल की विधि को अपूर्वविधि कहते हैं। जैसे धान प्रोक्षण करते हैं, जैसे आसन पर जल के छींटे से संस्कार करते हैं, यह प्रोक्षणरूप संस्कार कर्म की विधि बिना और-और प्रमाणों से अत्यन्त प्राप्त नहीं है, उसे अपूर्वविधि करती है। एक पक्ष में जो प्राप्त है, उसमें अप्राप्त अंश को पूर्ण करती है, उस विधि को नियम विधि कहते हैं। जैसे धानों को कूटा जाता है। यहाँ विधि के अभाव में भी पुरोडाश, प्रकृति द्रव्य जो धान कूटकर चावल निकालने के आक्षेप से ही कूटने की प्राप्ति होती और नाखूनों से छीलकर भी चावल की सिद्धि होती है, जो पक्ष की प्राप्ति से कटने का अंश नहीं प्राप्त होता, उस अंश का परिपूर्ण फल नियम विधि है। चावल छर के ही निकालें, नाखूनों से दलन न करें। दो शेषी की नित्य प्राप्ति में अथवा शेष अन्तर वा शेषी अन्तर की निवृत्ति करने वाली फल की तीसरी विधि परिसंख्या है। इसे यों समझें कि दो की प्राप्ति में एक की निषेध करने वाली वह परिसंख्या विधि है; जैसे अग्निचयन यज्ञ में यह डोरी ग्रहण करें—यह एक मन्त्र है, अश्व की डोरी ग्रहण करें—यह दूसरा मन्त्र है।

एक घोड़ा, दूसरा गर्दभ=गधा; उसमें पहले मन्त्र से दोनों डोरी पकड़ना,

प्राप्त हुए मन्त्र को लिङ्ग डोरी पकड़ने का सामर्थ्य प्रकाश करता है। उसमें गधा की डोरी की तरह घोड़ा की डोरी पकड़ना नित्य प्राप्त है, उसमें अश्वरसना प्राप्ति के अर्थ में यह विधि नहीं है। अश्व के नाम लेने से गदर्भ की रसना पर यह मन्त्र प्राप्त हो जाय, जोकि निवृत्ति की विधि है। जैसे अग्निष्टोम याग के विषय में **शंय्वन्ता प्रायणीया सन्तिष्ठते न पत्नीः संयाजयन्ति** इत्यादि वाक्य का अर्थ यह है कि प्रायणीया नाम की इष्टि शय्वन्त पाठ करके समाप्त करनी चाहिये; फिर पत्नीसंयाज का निषेध है। यहाँ पर शय्वन्ताया आदि वाक्य से शय्वन्तत्व-विधान से उसके उत्तर में होने वाले जितने भी पत्नीसंयाज आदि अङ्ग हैं, सबको हीन करना प्राप्त हुए; फिर 'न पत्नीः' इत्यादि पीछे के दूसरे वाक्य से पत्नीसंयाज का ही निषेध ठीक रहा है, जिस कारण से 'न पत्नीः' इस वाक्य से पत्नीसंयाज से भिन्न सूक्त समिष्टियजुरादि में न करने की व्यावृति करते हैं। यह तो पूर्वपक्ष की रीति से उदाहरण दिया। अन्यथा संतिष्ठते यह अकरण शास्त्र के प्रत्यक्ष रूप से प्राप्ति परिसंख्या विधि हो जायेगी, और वह स्वार्थत्याग तथा परार्थ-कल्पना प्राप्ति बाधादि रूप अनेक दोषों से दुष्ट विधि अत्यन्त अप्राप्ति में नियमपक्ष में तो अन्यत्र प्राप्ति में परिसंख्या कही गयी है। जिसके शब्द से या अर्थ से अयोग- व्यावृति फल, वही नियमविधि है। नियम व परिसंख्या के अतिरिक्त फलक विधित्व अपूर्वविधित्व इनके उदाहरण साङ्कर्य में भी क्षति=हानि नहीं है, ऐसा नवीन कहते हैं।

श्रवणं नाम वेदान्तवाक्यानि श्रीभगवत्तत्त्वप्रतिपादकानीति तत्त्वदर्शिन आचार्यग्रहणम् एवम् आचार्योपदिष्टार्थस्य स्वात्मन्येव युक्तमिति हेतुतः प्रविष्टापनम्। मननम् अस्यार्थस्यानवरतभावना। निदिध्यासनम् एतादृशश्रवणादेरप्राप्तत्वाद् अपूर्वविधिरेवायं विचार्यस्य ब्रह्मणः परमात्मनो भगवतो जगज्जन्मस्थितिमोक्षलयकारणत्वं लक्षणं, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति (तैत्ति ०उ०३/१/१) **श्रुत्याभिहितं तत्र जगज्जन्मस्थितिमोक्षलयेष्वेककारणत्वं लक्षणमनन्यगामित्वात् तथा च लक्षणचतुष्टयमेवेदं परस्परनिरपेक्षमिति तत्त्वम्। श्रीरामानुजस्तु सृष्टिस्थितिप्रलयकारणत्वं समुदितिमेकमेव लक्षणमिति स्वभाष्ये आह तन्न, व्यावर्त्त्याभावात्। तदनुयायिनस्तु यत्प्रतियन्तीति प्रलयः, अभिसंविशन्तीति मोक्ष इति वदन्ति, तदपि न प्रलयानन्तरमोक्षाधिकारिणो सम्भवात्।**

मायावादिनस्तु एकमेव लक्षणमिदमभिन्ननिमित्तोपादानतया द्वितीयं ब्रह्मोपलक्षयति ब्रह्मणश्चोपादानत्वमद्वितीयकूटस्थचैतन्यरूपस्य न परमाणूनामिवारम्भकत्वरूपं न वा प्रकृतेरिव परिणामत्वरूपं किन्त्वविद्यया-वियदादिप्रपञ्चरूपेण विवर्तमानत्वलक्षणम्। वस्तुतस्तु तत्समसत्ताकोऽ-न्यथाभावः परिणामस्तदसमसत्ताको विवर्त्त इति वा कारणसमलक्षणो-ऽन्यथाभावः परिणामः तद्विलक्षणो विवर्त्त इति वा कारणाभिन्नं कार्यपरिणामः तदभेदं विनैव तदव्यतिरेकेन दुर्वचं कार्य इति विवर्त्त इति वा विवर्त्त-परिणामयोर्विवेक इत्याहुः। तत्र धर्मान्तरमुत्थाप्य व्यावर्त्तकत्वरूपोपलक्ष-णत्वस्य निर्विशेषेऽसम्भवाद् उक्तलक्षणस्य विवर्तकस्य विकल्पासहत्वात्।

माध्वास्तु उत्पत्तिस्थितिसंहारनियतिर्ज्ञानमावृत्तिः। बन्धमोक्षौ च पुरुषाद्यस्मात् स हरिरेकराडिति स्कान्दोक्त्या जन्माद्यस्य यत इति सूत्रस्थादिपदेन नित्यादयोऽपि लक्षणानि सन्तीति लक्षणाष्टकं स्वीकुर्वन्ति तच्चिन्त्यं यतो वेति श्रुतौ अनुक्तत्वात्। प्रमाणान्तरेण लक्षणान्तराण्यपि वक्तुं शक्यत्वाच्च।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—श्रवण का अर्थ बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं— श्रीभगवान् के तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त के वाक्यों का, तत्त्वदर्शी गुरु के वाक्यार्थ का ग्रहण करना ही श्रवण है। इस प्रकार गुरु के बताये गये अर्थ का यह युक्तियुक्त ही है—ऐसा जानकर हृदयङ्गम करना, अपने मन में ही हेतु से प्रवेश करना और मनन आचार्य के श्रीमुख से श्रवण के अर्थ की निरन्तर भावना करना निदिध्यासन (ध्यान) है। ऐसे श्रवण आदि से पहले प्राप्त न होने से यह अपूर्वविधि है। सद्गुरूपदिष्ट देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न अपूर्वविधि-साधना का निर्णय बस यही है कि सर्वात्म रूप से सर्वत्र सर्वदा=सब जगह, सभी काल, सारी अवस्थाओं में **श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवन्नृणाम्'** (भा०२/२/३६) मनुष्यों को भगवान् श्रीहरि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण करते रहना चाहिये।

विचार करने योग्य ब्रह्म परमात्मा भगवान् का स्वरूप जगत् की उत्पत्ति, पालन, मोक्ष और लय—इस स्वरूप लक्षण के द्वारा ब्रह्म की जगत् कारणता को पहचानकर विचार करना चाहिये। विचार सर्वथा सम्प्रदाय-निरपेक्ष होना चाहिये और उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं आना चाहिये तथा श्रुति-स्मृति के अनुकूल हो; यथा— जिससे ये सब भूत=प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न

होकर जिसके बल से ये सब जीते और चेष्टा करते हैं। प्रलय में जिसमें विलीन हो जाते हैं, अपनी इच्छा से जिसमें प्रवेश करते हैं। यह श्रुति है। श्रुति-विहित उसमें जगत् का जन्म, स्थिति, मोक्ष और लय में एक-एक कारण का लक्षण अनन्यगामी है। चारों लक्षण परस्पर निरपेक्ष हैं, यह तत्त्व है। स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।

(गी०७/६-७)

यह स्मृति है। हे अर्जुन! मैं ही इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ। सूत में गूँथे हुए मणियों की भाँति यह सारा संसार मुझमें ही गुँथा हुआ (टिका हुआ) है।

'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र १/१/२)

सूत्रार्थ—जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है। श्रीरामानुजाचार्यजी ने अपने भाष्य में कहा है—सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण एक ही लक्षण है। उन्होंने वह नहीं बताया कि व्यावर्त्त्य का अभाव है। उनके अनुयायी **'यत्प्रतियन्तीतिप्रलयः, अभिसंविशन्तीति मोक्षः'** ऐसा बताते हैं।

यह भी नहीं बन सकता। प्रलय के बाद मोक्ष के अधिकारी असम्भव हैं। मायावादी का तो एक ही लक्षण है।अभिन्न निमित्त उपादान रूप से अद्वितीय ब्रह्म का लक्षण करते हैं, अद्वितीय कूटस्थ चैतन्यरूप ब्रह्म का उपादानत्व परमाणुओं की तरह आरम्भकत्व रूप से नहीं है और जैसे प्रकृति के परिणामत्वरूप को प्राप्त होता है, वैसे भी नहीं है; किन्तु अविद्या से आकाशादि प्रपञ्च रूप से विवर्त्तमानत्व लक्षण है। वस्तुतस्तु तत्समसत्ताक के अन्यथाभाव को परिणाम कहते हैं और उसके असमसत्ताक को विवर्त्त कहते हैं अथवा कारणसमलक्षण के अन्यथाभाव को परिणाम कहते हैं अथवा उससे विलक्षण को विवर्त्त कहते हैं अथवा कारण से अभिन्न जो कार्य वह परिणाम है, उससे अभेद विना ही उससे व्यतिरेक कह नहीं सकते। जो कार्य है, वही विवर्त है। यह विवर्त और परिणाम दोनों का विचार है। **इत्याहुः**=ऐसा लोगों ने कहा है। उसमें यह कहना है कि धर्मान्तर को उठाकर व्यावर्तकत्वरूप को उपलक्षणपन निर्विशेष में असम्भव है। बताया गया लक्षणविवर्त का विकल्प

सहन नहीं कर सकते हैं।[1] श्रीमध्व सम्प्रदाय के लोगों का कहना है—उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियत ज्ञान आवृत्ति है। बन्ध और मोक्ष जिस पुरुष से ये दोनों होते हैं, वह एक हरि ही है 'राजते इति राट्' स्वयं प्रकाश, सभी ओर प्रदीप्त है। ये स्कन्दपुराण के कहे गये लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' इस ब्रह्मसूत्र के आदि पद से नित्यादि भी लक्षण ब्रह्म में हैं—ऐसे आठ लक्षण स्वीकार करते हैं, वह चिन्तनीय है। **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** इस श्रुति में वर्णित नहीं है और दूसरे प्रमाणों से दूसरे लक्षणों को कह सकते हैं।

समस्त जगत् जो ब्रह्म का ही प्रकाशित (प्रकट) रूप है एवं अनन्त जीवरूप में वही उसका पृथक्-पृथक् अंश में प्रविष्ट है। श्रुति में वह सुना जाता है—**'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' 'तत्त्वमसि' 'सेयं देवतेमास्तिस्त्रो देवता अनेनैव जीवेनानुप्रविष्य नामरूपे व्याकरोत्'।** इत्यादि वाक्य में श्रुति स्पष्ट में उपदेश किया है।

जीव और जगत् ब्रह्म के शक्तिरूप में सर्वदा ही स्थित है, कभी भी लुप्त नहीं होता। अतएव शक्ति और शक्तिमान के मध्य में जो भेदाभेद सम्बन्ध हैं, वही ब्रह्म के साथ जीव और जगत् का सम्बन्ध कहना होगा एवं वही भेदाभेद सम्बन्ध जो नित्य और स्वाभाविक है, वह भी अवश्य स्वीकार करना होगा। बृहन्नारदीय पुराण में ऐसा ही कहा गया है—

अन्तर्यामी जगद्रूपी सर्वसाक्षी निरञ्जनः।
भिन्नाभिन्नस्वेरूपेण स्थितो वै परमेश्वरः।।

परमेश्वर, अन्तर्यामी, जगद्रूपी, सर्वसाक्षी और निर्मल स्वरूप है। वह (जीव और जगत् के सहित) भिन्नाभिन्न रूप में स्थित है।

अथ यथोक्तचतुर्भिरेव लक्षणैर्लक्षयिषितस्य ब्रह्मणो निर्दोषत्वमनन्तानवद्य-कल्याणगुणगुणाकरत्वमुपास्यत्वं चाह श्रीभगवान् सुदर्शनचक्रावतारः स्वभावत इत्यादिना—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।।४।।
य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः

१. द्रष्टव्य—अध्यासपरपक्षगिरिवज्र।

सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः (छा०उ०८/७/१), यः सर्वज्ञः स सर्ववित् (मु०उ०१/१/१०), सेयं देवतैक्षत (छा०उ०६/३/२), स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति (ऐतरेय उ०१), नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् (क०उ० २/२/१३), तं देवतानां परमं दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् (श्वेताश्वतर उ०६/७), न तस्य कार्यं करणं च विद्यते (श्वे०उ०६/८), ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ (श्वे०उ०१/९), तमीश्वराणां परमं महेश्वरम् (श्वे०उ०६/७), न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वे०उ०६/८), चेत्याद्याः श्रुतयो हेयगुणान् प्रतिषिध्य अनन्यापेक्षमहिमैश्वर्यस्य सत्यकामत्वप्रमुखान् कल्याणगुणगणान् स्वरूपस्यैव ब्रह्मणः स्वाभाविकान् वदन्ति। न च निर्गुणवाक्यविरोधः प्राकृतहेयगुण-विषयत्वात् तेषां निर्गुणं निरञ्जनं निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् इत्यादीनां किञ्च समस्तहेयगुणरहितानां च निर्गुणवाक्यानां सगुणवाक्यानां च विषयमपहतपाप्मेत्यादि अपिपास इत्यन्तेन हेयगुणान् प्रतिषिध्य सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, इति ब्रह्मणः कल्याणगुणान् विदधतीयं श्रुतिरेव विवेकं करोतीति। सगुणनिर्गुणवाक्ययोर्विरोधा-भावादन्यतरस्य न मिथ्यात्वाशङ्कापि। भीषाऽस्माद्वातः पवते (तै०उ०) इत्यादिना ब्रह्मगुणानारभ्यते ये शतमित्यनुक्रमेण क्षेत्रज्ञानन्दातिशयमुक्त्वा यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् (तै०उ०) इति श्रुतेः ब्रह्मण अनन्तकल्याणगुणानामत्यादरेण ब्रवीति। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति (तै०उ०) ब्रह्मवेदनफलमवगयद्वाक्यं परस्य विपश्चितो ब्रह्मणो गुणानन्त्यं वदति, विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् अश्नुते। काम्यन्त इति कामाः=कल्याणगुणाः, ब्रह्मणा सह तद्गुणान् सर्वान् अश्नुते इत्यर्थः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—अथ शब्द मङ्गलवाचक है। जैसे कहा गया है—चार ही लक्षणों से लक्ष्य ब्रह्म का निर्दोषत्व, अनन्त, अनवद्य, कल्याण गुणगणों की खान हैं, नित्य विग्रह हैं और सुधीजनों द्वारा उपास्य श्रीहरि करकञ्जसम्पुट विराजित सुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्क भगवान् कहते हैं—जो स्वभाव से ही अविद्या आदि दोषों से रहित हैं और समस्त दिव्य कल्याणकारी

गुणों की राशि (खान) हैं। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध जिसके अङ्ग हैं, जिसके नेत्र कमल के सदृश हैं, जो सबके उपास्य हैं, जो समस्त पापों को हरण करने वाले हैं, ऐसे परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण का हम ध्यान करते हैं। अब इस श्लोक का व्याख्यान उपनिषदों के आधार पर करते हैं। **उपनिषद्यते=प्राप्यते ब्रह्मभावोऽनया इति उपनिषद्।** जिससे ब्रह्मभाव प्राप्त किया जा सके, वह उपनिषद् है। छान्दोग्योपनिषद् के इन्द्र और विरोचन को प्रजापति का उपदेश—जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प—इन आठ गुणों से युक्त हैं, उसे खोजना चाहिये। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म की सर्वज्ञता वर्णित है—जो सामान्य से सबको जानता है और विशेषरूप से भी सबको भली-भाँति जानता है; जैसे एक ही साथ सारे देश, सभी काल और सब वस्तु-विषयक प्रत्यक्ष अनुभूतिमान ज्ञानवान् आत्मा। अग्नि, जल और अन्न—त्रिविध सृष्टि उसका इस देवता ने ईक्षण किया। प्रसिद्ध प्राणियों के तीन ही बीज होते हैं; जैसे—अण्डज=पक्षी आदि, जीवज, जरायुज=मनुष्यादि और पृथिवी का भेदन करके उद्भिज्ज=वृक्षादि पैदा होते हैं। उस सर्वेश्वर परमात्मा ने इस प्रकार विचार किया कि मैं पृथिवी आदि लोकों की रचना करूँ। जो नित्यों के नित्य हैं, चेतनों के चेतन हैं और एक ही परमात्मा सबकी कामनाएँ पूर्ण करता है। **अपाणिपादो जवनो ग्रहीता** (श्वे०उ०३/१९) वह परमात्मा हाथ-पाँव वाला न होकर भी वेगवान् और ग्रहण करने वाला है, इत्यादि मन्त्रवर्ण भी है। वेदों ने परमात्मा के सिर से लेकर पैर के नख तक सभी अङ्ग-अवयव को सुवर्णमय बताया है—

य एषोऽन्तरादित्ये हिरणमयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्यश्म-
श्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः।

(छा०उ०१/६/६)

इस प्रकार श्रुति ने आदित्यमण्डल में चिद्धन ज्ञानघन सच्चिदानन्द दिव्यमङ्गल विग्रहवान् श्रीभगवान् को कहा है। प्रशान्तात्मा जितेन्द्रिय ब्रह्मज्ञानी सुदामाजी ने भगवान् श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा—**यस्य च्छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभो** (भा०१०/८०/४५)। भगवान् श्रीहरि का देह अवतारों में भी शुक्रादि से उत्पन्न नहीं होता, फिर भी वे शुक्रस्थ होकर मातृदेह में प्रवेश करते हैं, प्रवेश कर शुक्र को वहीं छोड़कर केवल ज्ञानस्वरूप से छन्दोमय दिव्य

श्रीविग्रह में परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण समय-समय पर प्रकट होते हैं। अतएव कहा—

तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि।।
(भा० ३/२४/६)

जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।
(गी०४/८)

यही अपाणिपाद का अर्थ है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान् का अद्भुत-अलौकिक सोने की ही भाँति चमचमाता पाणि-पाद (हाथ=पैर) है। वह परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण समस्त देवताओं के परम आराध्य=उपास्य हैं और नियन्ता हैं। समस्त पतियों=रक्षकों के परम पति हैं अर्थात् समस्त जगत् के पालन में नियुक्त पतियों के पालक स्वामी हैं। ब्रह्मादि देवगणों से भिन्न स्वयंप्रकाश ज्ञानानन्दस्वरूप तथा समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं। ऐसे स्तुति करने योग्य श्रीभगवान् को हम लोग जानते हैं। उसकी कार्य=प्राकृत शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं। आनन्दचिन्मयता से उज्ज्वल, दिव्य विग्रह जिसका, जिसके सभी अङ्गों से सभी इन्द्रियों का कार्य होता है। जो चिरकाल तक जगत्प्रपञ्च का परिपालक, सन्द्रष्टा, नियामक सच्चिदानन्द भगवान् है। जीव आत्मा और परमात्मा, दोनों के बीच में सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमात्मा ईश्वर है और जीवात्मा अज्ञ, अनीश, अल्पज्ञ और अल्प शक्ति वाला है। वह परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्म-शिवादि तथा इन्द्रादि लोकपालों के महान् शासक व नियन्ता हैं। उस परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण के समान तथा उससे बड़ा दूसरा कोई नहीं दिखता। श्रुति-स्मृतियों में इस परब्रह्म श्रीकृष्ण की परा=स्वरूप विलक्षण स्वाभाविक स्वरूप की भाँति नित्य शक्ति अघटनघटनापटीय रूप सामर्थ्यविविध=अनन्त अचिन्त्य प्रकार की सुनी जाती है। **ज्ञान**=समस्त देश, समस्त काल, समस्त वस्तु-विषयक प्रत्यक्ष अनुभवरूप **बल**=विश्वधारणादि शक्ति, ज्ञान और बल के साथ **क्रिया**=विश्वसृष्टि आदि रूपा—ये तीनों ब्रह्म की स्वरूपभूत दिव्य शक्ति हैं।

इत्यादि श्रुतियाँ त्यागने योग्य गुणों का निषेध करके अन्य की अपेक्षा

न कर परब्रह्म की महिमा स्वरूपभूत ऐश्वर्य का सत्यकामत्व प्रमुख और ब्रह्म के स्वाभाविक कल्याणगुणगणों को ही कहती हैं और निर्गुण वाक्यों का विरोध नहीं है, प्राकृत त्याज्य गुणों का निषेध है। जैसे इस मन्त्र में दर्शाया गया है—**निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्** (श्वे० उ० ६/१९)।

जो किसी की कला नहीं है, वह निष्कल ब्रह्म, आप्त समस्त कामरूप से स्वार्थ क्रियारहित परिपूर्णानन्द है, इसलिये ब्रह्म निष्क्रिय है। शान्ति के गुणों के सागर है; अतः शान्त है। माया के गुण-दोषों से सर्वथा रहित है, अतः निरवद्य है। स्वभाव से ही निर्दोष निर्मल है। निर्गुणः=गुणेभ्यो निष्क्रान्तः अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस—इन प्राकृतिक हेय गुणों से परे है; पर वह असंख्य अप्राकृत कल्याणात्मक दिव्य गुणों की राशि है। समस्त हेय गुणों से रहित, निर्गुण वाक्यों का और सगुण वाक्यों का विषय अपहतपाप्मा इत्यादि में अपिपास यह अन्त में हेय गुणों का निषेध करके सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प—ये ब्रह्म के कल्याणगुणों को यह श्रुति ही कहती है और ऐसा विवेचन करती है। सगुण और निर्गुण—इन दोनों प्रकार के वाक्यों का विरोध नहीं है और अन्य रीति से मिथ्यापन की शङ्का भी नहीं है। इस परब्रह्म परमेश्वर श्रीकृष्ण के भय से ही पवन नियमानुसार तृण-पर्ण आदि का सम्मार्जन द्वारा भूशुद्धि करता है। श्रीभगवान् के भय से ही ठीक समय पर ही सूर्योदय और सूर्यास्त होता है अर्थात् सूर्य उदित होकर अन्धकार का विनाश कर पदार्थों को प्रकाशित करता है। अग्नि और चन्द्र—ये दोनों पचन और वर्षणरूप अपने व्यापार करते हैं। इस श्रीपरमात्मा के भय से पाँचवाँ=पञ्चत्व संख्यापरक मृत्यु=यमराज प्रजा-संयमनादि रूप अपने कार्य करने में प्रवृत्त हो रहे हैं। व्याख्याता किये गये इस मन्त्र को अक्षरशः श्रीमद्भागवत में देखिये—

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्।।

मनुष्यों के आनन्द से सौगुना आनन्द क्रम से क्षेत्रज्ञों का आनन्द अतिशय कहकर मन के सहित सभी इन्द्रियाँ जहाँ से उसे न पाकर लौट आती हैं, जिस ब्रह्मानन्द को जानने की इन मन और इन्द्रियों की शक्ति नहीं है, परमात्मा के उस आनन्द को जानने वाला वेदान्ततत्त्वज्ञानी तथा योगीश्वर महापुरुष कभी किसी से भी भय नहीं करता है। इस श्रुति से जाना जाता है कि श्रुति ब्रह्म के अनन्त कल्याणगुणों का अत्यन्त आदर के साथ बखान

करती है। जो इस प्रकार परब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी अधिकारी अपने योग्य आनन्द आदि को=कल्याणगुणों को ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के साथ भोगता है। वस्तुतः श्रीभगवान् का न जन्म है न कर्म है, न नाम और न तो रूप है। जो अनन्य परमभक्त भगवान् श्रीहरि के श्रीचरणकमलों का भजन करते हैं, श्रीभगवान् उन पर अनुग्रह करने के लिये दिव्य जन्म और कर्मों से गोवर्द्धन-धारणादि द्वारा गिरिधारी गोपाल नाम-रूप धारण करते हैं। तत्त्वज्ञानी की उनके साथ उनकी समस्त भोगों में सहभागिता होती है।

ननु यस्यामतं तस्य मतं विज्ञातमविजानताम् (के०उ०२/३१) **इति ब्रह्मणो ज्ञानाविषयत्वमुक्तमिति चेन्न, ब्रह्मविदाप्नोति परम्** (तै०उ०) **ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति** (मु०उ०३/२/९) **इति ज्ञानान्मोक्षोपदेशात् ज्ञानं चोपासनात्मकम् उपास्यं च ब्रह्म सगुणं तथाहि श्रुतयः—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।**

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

(श्वे०उ०३/८)

सर्वे निमेषाज्जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधिष्ठितस्येशीकश्च न तस्य महद्यशः, एवं विदुरमृतास्ते भवन्तीत्याद्याः, एतेन ब्रह्मज्ञानादेवाविद्यानिवृत्तिरित्यपास्तम्, यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेति ब्रह्मणोऽनन्तस्यापरिमितगुणस्य वाङ्मनसयोरेतावदिति परिच्छेदायोग्यस्य च श्रवणेन ब्रह्मेतावदिति ब्रह्मपरिच्छेदज्ञानवतां ब्रह्माविज्ञातममतमित्युक्तमपरिछिन्नत्वाद् ब्रह्मणः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—उपर्युक्त कथनों से वादी की शङ्का है कि जिस पुरुष का देश, काल और वस्तु से ससीम मानना है, वह ब्रह्म जानने में नहीं आता, उसका तो वह मालूम हुआ। इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं है। परिच्छिन्न ज्ञान वालों के लिये ब्रह्म अविज्ञात है। परिच्छेद को न जानने वालों को ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। अगर ऐसा कहो कि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं है, तो वह नहीं कह सकते; चूँकि श्रुति कहती है—ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। जो ब्रह्म को जानता है, ब्रह्म ही हो जाता है। इस प्रकार श्रुति में ज्ञान से मोक्ष का उपदेश है; अतः ज्ञान उपासनात्मक है और उपास्य सगुण=साकार ब्रह्म है। इस बात को श्रुतिप्रमाणों से प्रमाणित करते हैं—वेदान्त

के तत्त्वों को जानने वाला ब्रह्मज्ञानी महापुरुष कहता है—मैं इस महान् पुरुष भगवान् पुरुषोत्तम को जानता हूँ, जो स्वभाव से ही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पाँचों दोषों से सर्वथा अतीत है तथा सूर्य की भाँति स्वयंप्रकाशस्वरूप है। उसको जानकर ही जीव मृत्यु का उल्लङ्घन करने में, इस जन्म-मृत्यु के बन्धन से सदा के लिये छुटकारा पाने में समर्थ होता है। परमपद की प्राप्ति के लिये इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग अर्थात् उपाय नहीं है। सब पुरुष के निमेष से उत्पन्न हुए हैं। विद्युत् अधिष्ठाता पुरुष से ऐशीक (सर्वोपरि) और उसका बड़ा यश नहीं है—इस प्रकार जो जानते हैं वे अमृत=अमर हो जाते हैं। इस विवेचन से यह दर्शाया गया कि निर्विशेष ब्रह्म के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है, मानने या कहने वाले निरस्त हो गये।

वस्तुत: सविशेष और निर्विशेष, सगुण और निर्गुण—इन दोनों में किञ्चिन्मात्र भेद नहीं है, ऐसा महाभागवत श्रीप्रह्लादजी ने कहा है। **त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्!** (भा० ७/९/४८), हे सर्वव्यापिन्! तुम ही सगुण और निर्गुण हो। महाराज मुचुकुन्द ने गर्गाचार्यजी के वाक्य का अनुस्मरण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण को नारायणदेव जानकर श्रीभगवान् को प्रणाम कर कहा है—

निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम्।

(भा० १०/५१/५७)

अस्यार्थ:—मैं निरञ्जन निर्गुण अद्वय=अद्वितीय ज्ञप्तिमात्र=ज्ञानधन परम पुरुष पुरुषोत्तम आपकी शरण में हूँ। त्वां ह्यपवर्गदं हरे=श्रीहरि अपवर्ग=मोक्ष देने वाले हैं। इससे नीरूप ब्रह्म के ही दर्शन मोक्ष के कारण हैं। ऐसे मानने वाले दूर हो गये।

जहाँ से मन के सहित वाणी उसे प्राप्त न करके लौट आती है, यह श्रुति ब्रह्म अनन्त है और अपरिमित गुण है, वाणी और मन का इतना ब्रह्म है; अत: परिच्छेद के योग्य नहीं हो सकता। उसे सुनने से जो ब्रह्म इतना है, ऐसे परिच्छेद ज्ञान वालों को ब्रह्म अविज्ञात है अर्थात् परिच्छिन्न ज्ञान वालों को ब्रह्म जानने में नहीं आता है। देश, काल और वस्तु से ब्रह्म अपरिच्छिन्न है। **यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान्** (भा०११/४/२) अनन्त भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्त कल्याणगुणों का कोई बखान नहीं कर सकते।

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह।
अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः।।

(भा० ३/६/४०)

जहाँ से मनसहित वाणी जिसे प्राप्त न करके लौट आती है, मैं और अन्य ये देवगण उस सर्वशक्तिमान् भगवान् को मन, वाणी और सिर से प्रणाम करते हैं। इस प्रकार उपनिषत्तत्त्व-प्राकृतिक मायिक हेय गुणों से परे सगुण साकार ब्रह्म इस वेदान्तशास्त्र का विषय है।

ननु नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्युः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति (क०उ०२/१/११/१०) **यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितरं इतरं पश्यति यत्र सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् तत् केन विजानीयात्** (बृ०उ०२/४/१४) **इति भेदनिषेधो बहुधा दृश्यते।**

अतः कथं पार्थक्येन ईश्वरतत्त्वनिरूपणमिति चेन्न; अत्र सर्वस्य जगतः ब्रह्मणो जातत्वात् तदन्तर्यामित्वेन च तदात्मकत्वेनैवन्यात् प्रत्यनीकनानात्वस्यैव निषेधात्। ननु यदा ह्येवेष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति (तै०उ०) **इति ब्रह्मणि। नानत्वं पश्यतो भयप्राप्तिश्रुतिसिद्धेति चेत्, उच्यते—ब्रह्मणि अन्तरमवकाशो विच्छेद एव -उक्तं च महर्षिभिः—**

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया।।

नन्वेकमेवाद्वितीयपदं ब्रह्मेत्यत्राद्वितीयपदं गुणतोऽपि स द्वितीयतान्तं न सहते। प्रत्ययन्यायेनैव कारणवाक्यानामद्वितीयवस्तुप्रतिपादनपरत्वमभ्युपगमनीयं कारणतयोपलक्षितस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणो लक्षणमिदमुच्यते—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै०उ०) **इति; अतो लिलक्षपिषेतं ब्रह्म निर्गुणमेवेति चेन्न जगत्कारणस्य ब्रह्मणः स्वव्यतिरिक्ताधिष्ठानन्तरनिवारणे नाद्वितीयपदस्य तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत** (छा०उ०६/२/३) **इत्यादिविचित्रशक्तियोग-प्रतिपादनपरत्वात् सर्वशाखाप्रत्ययन्यायश्चात्र भवतो विपरीतफलः। सर्वशाखासु कारणान्वयिनां सर्वज्ञत्वादीनां गुणानामत्रोपसंहारहेतुत्वात्। अतः कारण-वाक्यस्वभावादपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यनेन सगुणमेव प्रतिपाद्यते। किञ्च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यत्र समानाधिकरण्यानेकविशेषणविशिष्टैका-**

र्यविधानव्युत्पत्याऽपि निर्विशेषवस्तुसिद्धिर्न भवेदिति भिन्नप्रवृत्तिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यमिति शाब्दिकाः तत्र सत्यज्ञाना-दिमुख्यार्थैर्गुणैरेकस्मिन्नेपदानां प्रवृत्तौ निमित्तभेदोऽवश्यायणीय इति।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—उस पर फिर यह शङ्का है कि **नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति** (क०उ०२/१/११/१०) **यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् तत्केन कं विजानीयात्** (बृ०उ०२/४/१४) इत्यादि श्रुतियों में भेद का निषेध बहुत प्रकार से देखा जाता है। श्रुतियों का अर्थ जरा ध्यान से सुनिये—इस जगत् में ब्रह्म के विना कुछ भी नहीं है। उपर्युक्त श्रुति में नाना शब्द बिना अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। अतः 'नेह नानास्ति किञ्चन' श्रुति का अर्थ इस प्रकार जोड़ना—इस जगत् में नाना—स्वोपादान ब्रह्म के बिना कोई भी वस्तु है ही नहीं। अर्थात् समस्त सचराचर जगत् ब्रह्ममय है। समस्त कार्य ही स्वोपादान का अविनाभूत होने से उपादान विना कार्य रह नहीं सकता है। बिल्कुल यही बात गीताशास्त्र में श्रीभगवान् ने भी कही है—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मयाभूतं चराचरम्।।

(गीता १०/३९)

हे अर्जुन! जो समस्त भूतों का बीज है, वह मैं ही हूँ। मेरे विना चराचर भूत=स्थावर और जङ्गम प्राणी कुछ भी नहीं हैं। जैसे परमात्मा में अत्यन्त भेद, वैसे ही अत्यन्त अभेद, जो देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् वह बार-बार जन्म-मरणभाव को प्राप्त होता है। ब्रह्म के साथ चेतन और अचेतन का स्वाभाविक भेदाभेद, सम्बन्ध वेदान्तशास्त्र का चरम सिद्धान्त है; यथा—**तस्मात् सर्वज्ञः सर्वाचिन्त्यशक्तिविश्वजन्मादिहेतुवेदैक-प्रमाणगम्यः सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासाविषयस्तत्रैव सर्वं शास्त्रं समन्वेतीत्यौपनिषदानां सिद्धान्तः** (ब्र०सू०निम्बार्कभाष्य)।

जो सर्वज्ञ है, वही अचिन्त्य शक्ति विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का हेतु है, वह एकमात्र वेदप्रमाणगम्य है, वह समग्र विश्व से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है एवं वही सर्वविध ऐश्वर्यपूर्ण विश्वात्मा वासुदेव है। उसी में ही सकल शास्त्र समन्वित होते हैं। यही उपनिषद् वेत्तागणों का सिद्धान्त है।

बृहन्नारदीयपुराण में बताया गया है—

अन्तर्यामी जगद्रूपी सर्वसाक्षीनिरञ्जनः।
भिन्नाभिन्नस्वरूपेणस्थितो वै परमेश्वरः।।

परमेश्वर का अर्थ—पर=मा शक्तिर्यस्यासौ परमेश्वरः=राधाकृष्ण इत्यर्थः। परा नाम्नी मा शक्ति (राधा) जिसकी है, वह परमेश्वर। राधाकृष्ण सबके अन्तर्यामी हैं, जगद्रूपी अर्थात् नाम-रूप जगत् रूपी हैं, सब के साक्षी हैं, यानी सबके कर्मों का द्रष्टा हैं और निर्मल स्वरूप हैं। वह जीव और जगत् के साथ भिन्नाभिन्नरूप में स्थित हैं। सर्वनियन्तृत्व, सर्वात्मत्व, सर्वव्यापकत्व, स्वतन्त्रसत्व और सर्वाधारत्वादि धर्मों से ब्रह्म का और जड़-चेतनों का अत्यन्त भेद है—**सर्वभूतान्तरात्मा अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्** (यजुरारण्यके २/११ अनुवाक्)। समस्त जनों के शासक परमात्मा तथा सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तरात्मा श्रीभगवान् सब जीवों के हृदय में प्रविष्ट हैं। जिस अवस्था में द्वैत-सा होता है, अपनी निष्ठा द्वारा परमात्मा से पृथक्-सा होता है, स्वतन्त्र जैसा होता है। वही अन्य-अन्य को सूँघता है, अन्य-अन्य को देखता है, अन्य-अन्य को सुनता है। इतर स्वतन्त्र करण से सूँघता है। देखता है और सुनता है। जिस ध्रुवा स्मृति सञ्ज्ञा अवस्था में विद्वान् पुरुष का सब कर्ता, करण और कर्मादि कारक सकल आत्मा ही हो गया है। यहाँ पर आत्म शब्द विश्वात्मरूप ब्रह्मपरक है। ब्रह्मात्म रूप से ब्रह्म से अलग नहीं है। तत्त्व का विधान विरुद्ध नहीं है। ब्रह्म ही ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध हो गया है तब किस स्वतन्त्र सत्त्वावच्छिन्न करण से किसे अथवा स्वतन्त्र रूप से पृथक् वस्तुजात कर्म, कारकरूप को कौन अथवा स्वतन्त्ररूप द्रष्टा कर्ता कारकरूप देखे। जिस परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम के प्रसन्न होने से अनुगृहीत जीव सर्वज्ञ होता है, उस परमात्मा को किस हेतु से जाने? वह परमात्मा जहाँ जैसा है, कौन जानता है (क०उ०१/२/२५)। श्रीभगवान् के अनुग्रह बिना परमात्मा दुःखबोध है। इस प्रकार श्रुतियों में भेद का बहुधा प्रतिपादन है, भेद का निषेध नहीं है। अब ईश्वरतत्त्व का निरूपण करते हैं—यह दृश्यमान अखिल जड़-चेतनात्मक जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। परमात्मा सबके अन्तर्यामी हैं, निखिल जगत् ब्रह्मात्मक हैं। अन्तर्यामीपन से तदात्मकत्व से एकता है, प्रत्यनीक नाना प्रकार का निषेध है। फिर भी शङ्का है कि यदि यह अधिकारी जीवात्मा इस परमात्मा में ध्यान का थोड़ा-सा भी अन्तर=विच्छेद किये रहता है तब उसको भय

उत्पन्न होता है। ऐसे ब्रह्म में नानात्व देखने वालों को भय की प्राप्ति श्रुति से सिद्ध है। उस पर कहते हैं—ब्रह्म में अन्तर, अवकाश व विच्छेद ही महर्षियों ने कहा है। जिस मुहूर्त और क्षण में भगवान् वासुदेव का चिन्तन नहीं होता है, वही हानि है, वही बड़ा छिद्र है, वही भ्रान्ति और वही विक्रिया है।

और भी वादी की शङ्का है कि—**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।** (त्रिपाद्विभूतिमहाना०उ०, ३/३) ब्रह्म एक ही है। वह अद्वितीय सद् चिद् आनन्दस्वरूप है। अद्वितीय कहने का अभिप्राय यह है कि उसके जोड़े का कोई नहीं है। **'एति इति एकः इण् गतौ' धातु से 'एक' शब्द बनता है।** जो अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा सभी जगह हमेशा सबमें=सारी सृष्टि में अनुस्यूत हैं, जिसके बगैर कुछ नहीं है; वह ब्रह्म एक ही है।

अब कहते हैं—इस स्थल में अद्वितीय पद भी द्वितीयान्त को नहीं सहता है; इसीलिये सभी शाखा-प्रत्यय न्याय से ही कारणवाक्यों का अद्वितीय वस्तु का प्रतिपादन करती हैं, ऐसा मानना चाहिये। कारण रूप से उपलक्षित अद्वितीय ब्रह्म का लक्षण (स्वरूप) यह बात तैत्तिरीयोपनिषद् कहती है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' परब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप है, ब्रह्म निर्गुण ही है यदि ऐसा कहो तो वह नहीं है। जगत् कारण ब्रह्म के बिना दूसरा अधिष्ठान नहीं है, ब्रह्म ही सबका आधार है। अधिकरण है। अधिष्ठान है, ब्रह्म में ही सब लोक, टीके हुए हैं। उसके निवारण में अद्वितीय पद का श्रुति में स्पष्ट निर्देश है अर्थात् ब्रह्म के समान तथा उससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है।

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' अर्थात् उस स्वतन्त्र सत्ताश्रय परब्रह्म ने पर्यालोचन किया (मैं) बहुत (अनेक) जगद् रूप से मैं ही वहुत नामरूप होऊँ। अग्नि, जल और अन्नादि रूप से मैं उत्पन्न होऊँ। इत्यादि छान्दोग्योपनिषद्-वर्णित विचित्र शक्तियोग-प्रतिपादन के अर्थ में अद्वितीय पद दिया है और यहाँ पर आपके सब शाखा-प्रत्यय न्याय विपरीत फल हैं। सारी शाखाओं में कारण विषय सर्वज्ञत्वादि गुणों का यहाँ पर उपसंहार हुआ है। इसीलिये कारणवाक्य स्वभाव से ही सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म ऐसे अद्वितीय सगुण ब्रह्म के स्वरूप के विज्ञान के लिये यह निश्चय करके उपनिषद् और श्रीमद्भागवतशास्त्र प्रतिपादन करते हैं—(१०/२८/१५)।

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः।।

श्रीभगवान् ने सोचा कि इस संसार में जीव अविद्या, कामना और कर्मफलस्वरूप ऊँची-नीची गतियों में जाते रहते हैं, अपनी गति को नहीं जानते। यह सोचकर श्रीभगवान् को बड़ी करुणा आयी। इसीलिये उन्होंने गोपों को अपने परमधाम को और अपने स्वरूप को भी दिखाया है। श्रीभगवान् ने सर्वप्रथम उनको अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराया; जिसका स्वरूप सत्य, ज्ञान, अनन्त, सनातन और ज्योतिःस्वरूप है तथा समाधिनिष्ठ योगीश्वर महापुरुष ही जिसे देख पाते हैं और सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म में सामानाधिकरण्य अनेक विशेषणविशिष्ट एकार्थ का विधान है। व्युत्पत्ति से भी निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती, भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्दों का एक अर्थ में शब्दार्थ-सम्बन्ध को सामानाधिकरण्य—ऐसा शब्द को जानने वाले कहते हैं। वहाँ जो सत्य-ज्ञानादि पद है, वह मुख्यार्थ में है और गुणों द्वारा एक अर्थ में, पदों की प्रवृत्ति में निमित्तभेद अवश्य आश्रयणीय है। अब यहाँ कितने विरुद्ध शास्त्रवाक्य उद्धृत करते हैं, यथा—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।।

(क०उ०१/२/२१)

एकत्र उपविष्ट रहकर दूरगामी एवं शयान (क्रियारहित) होकर सर्वत्र गामी उस सहर्ष और हर्षहीन देव को मुझसे भिन्न और कौन जानने में सक्षम है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।

(ईश०उ०४/५)

एक एवं अचल होकर भी मन से अधिक वेगवान; वह पहले चलता है, सारी इन्द्रियाँ उसे पकड़ नहीं सकती; वह स्थितिशील होने पर भी द्रुतगामी अन्य सबको अतिक्रमण कर जाता है। प्राणवायु सर्वदा उस स्थितिशील ईश्वर की ही उपासना करती है। जो चलता है और नहीं चलता है, जो दूर में है और निकट में है, जो सबके बीच में है और सबके बाहर में है। इसी प्रकार इस

द्वैताद्वैत वेदान्तसिद्धान्त में इन समस्त विरुद्ध वाक्यसमूहों का सामञ्जस्य होता है; क्योंकि वह सब से भिन्न होता है, हुआ भी अभिन्न है; इसलिये ब्रह्म भिन्नाभिन्न है। अतएव भगवान् भाष्यकार श्रीनिम्बार्काचार्य ने कहा है—

वेदैकप्रमाणगम्य सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासाविषयस्तत्रैव सर्वं शास्त्रं समन्वेतीत्यौपनिषदानां सिद्धान्तः (ब्र०सू०१/१/४)।

तत्त्वमस्यादिवाक्येष्वपि सामानाधिकरण्यननिर्विशेषवस्त्वैक्यपरं तत्त्वंपदयोः सविशेषाभिधायित्वात्। तत्पदमनन्यगोचरानन्तविशेषणविशिष्टं जगत्कारणं ब्रह्म प्रतिपादयति। त्वं पदं च संसारित्वविशिष्टजीवाभावं तत्त्वं पदस्य निर्विशेषस्वरूपपरत्वे स्वार्थः परित्यागः स्यात्, एवं च सामानाधिकरणप्रवृत्तयोस्तत्त्वमिति द्वयोरपि पदयोर्मुख्यार्थपरित्यागे न लक्षणा च समाश्रयणीया। सर्वेष्वपि वेदान्तवाक्येषु समानाधिकरणनिर्विशेषु तत्तद्विषेषणविशिष्टस्यैव ब्रह्मणोऽभिधानात्। यथा नीलोत्पलमानयेत्युक्ते नीलमादिविशिष्टमेवानीयते तथेति ज्ञेयम्। किञ्च सर्वेषां प्रमाणानां सविशेषवस्तुविषयत्वात् निर्विशेषप्रमाणाभावः। न च स्वानुभवं सिद्धं तदिति वाच्यमनुभवानामपि इदमहमदर्शम् इति केनचिद् विशेषणविषयत्वात्। न च तत्र शब्दः प्रमाणं शब्दस्य पदवाक्यरूपेण प्रवृत्त्या निर्विशेषेऽभिधानस्य सामर्थ्याभवात्। प्रकृतिप्रत्यययोगेन हि पदत्वं पदसमुदायो वाक्यं तस्यानेकपदार्थसंसर्गविशेषाभिधायित्वेन निर्विशेषवस्तुप्रतिपादनासामर्थ्यात्। तथाहि न हि निधर्मके वस्तुनि वाक्यस्य प्रामाण्यं सम्भवति; वाक्यं हि पदार्थज्ञानद्वारा बोधकं पदार्थज्ञानं च गृहीतसङ्गति केभ्यः पदेभ्यो वृत्त्या भवति; सङ्गतिग्रहश्च वाक्यार्थज्ञानात्पूर्वमेव प्रमाणान्तरोपस्थितिवृद्धव्यवहारादिना भवति। न चात्र निधर्मके ब्रह्मणि प्रमाणान्तरं प्रक्रियते। तथाहि न तावत् प्रत्यक्षं तत्र प्रमाणं तस्य निर्विकल्पसविकल्पभेदभिन्नत्वात्। तत्र निर्विकल्पकं नाम केनचिद् विशेषेण वियुक्तस्य ग्रहणं न सर्वविशेषरहितस्य सविकल्पकं तु सविशेषविषयमेवजात्यादि अनेकपदार्थ विशिष्टविषयत्वात्। अत एक जातीयद्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणं निर्विकल्पकं द्वितीयादि पिण्डग्रहणं सविकल्पकमित्युच्यते। नाप्यनुमानं तस्य प्रत्यक्षादिदृष्टसम्बन्धविशिष्टविषयत्वात् नेन्द्रियाणि नानुमानम् इति श्रुतेश्च। भावरूपत्वेनाभावागोचरत्वात् यूपाहव-

नादित्यादिवच्छास्त्रादेव तदुपस्थितेरिति चेन्न। वैषम्याद् यूपाहवनीयादीनां शब्दशक्यतावच्छेदकधर्मवत्वादिह च सर्वधर्मातीत्वेन पदवृत्त्यविषयत्वात्।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—तत्त्वमसि श्वेतकेतो=हे श्वेतकेतु! वह तुम हो, (छा०उ०६/८/७) इत्यादि वाक्य में भी सामानाधिकरण्य निर्विशेष वस्तु में एकता नहीं है, तत्=ब्रह्म और त्वं=जीव—ये दोनों पद सविशेष का ही विधान कर रहे हैं। तत्त्वमसि वाक्य में तत् जो पद है, वह अन्य गोचर नहीं है, अनन्त विशेषण-विशिष्ट जगत् के कारण ब्रह्म का ही प्रतिपादन कर रहा है और त्वं पद संसारी जीवात्मा को बता रहा है। तत्त्वं=तत् और त्वं—इन दोनों पदों को निर्विशेष स्वरूप में लगाओ तो स्वार्थ ही छूट जाय और इस प्रकार तत् और त्वं—इन दोनों पदों का सामानाधिकरण जो करोगे तो मुख्य अर्थ को छोड़कर लक्षणा का सहारा लेना पड़ेगा, सभी वेदान्तवाक्यों में समानाधिकरण निर्विशेषों में तत् तद् विशेषणविशिष्ट ब्रह्म का ही कथन है। जैसे किसी ने कहा कि नील कमल लाओ। इस प्रकार उसके कहने पर नीले रङ्ग का कमल ही लाये हैं, ठीक वैसे ही इस प्रकरण में जानना चाहिये। सब प्रमाण सविशेष वस्तु का प्रतिपादन कर रहे हैं। इसलिये समस्त उपनिषद् शास्त्रों का सार गीताशास्त्र में स्वयं श्रीभगवान् ने कहा—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (गी०१५।१५)। हे अर्जुन! वेदसमूह मुझको ही प्रकट करती हैं। श्रुति कहते है—**सर्वे वेदा यत्पमामनन्ति** (क०उ०१/२/१५)। वेदसकल जिसके सगुण स्वरूप का साक्षात् अथवा परम्परा से प्रतिपादन करते हैं। सभी प्रमाणों का मूल उद्देश्य यह है कि सविशेष वस्तु ही विषय है और निर्विशेष में प्रमाण नहीं है और अपने अनुभव से सिद्ध है, निर्विशेष अनुभव से सिद्ध है, ऐसा नहीं कह सकते। अनुभवों के भी जैसे मैंने यह देखा हुआ है तो इसमें कोई विशेषण वाला ही विषय है और निर्विशेष शब्द भी प्रमाण नहीं है, शब्द की वाक्य रूप से प्रवृत्ति होती है, निर्विशेष के अभिधान (कथन) में शब्द का सामर्थ्य नहीं है। प्रकृति और प्रत्यय के योग से ही पद (शब्द) कहे जाते हैं और पदसमूह को वाक्य कहते हैं, उसके अनेक पदार्थ के संसर्गविशेष जिसमें है, उसे विधान करते हैं; निर्विशेष वस्तु का विधान नहीं कर सकते। निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन करने में सामर्थ्य नहीं है। उसे विस्तार से दिखलाते हैं—निर्धर्मक वस्तु में वाक्य का प्रामाण्य सम्भव नहीं हो सकता है। वाक्य पदार्थ के ज्ञान द्वारा बोधक है और पदार्थज्ञान गृहीत सङ्गति किन पदों से वृत्ति द्वारा

होती है, सङ्गति ग्रहणवाक्यार्थ के पहले ही दूसरे प्रमाण की उपस्थिति हुई, जो वृद्धों के व्यवहारादि से होता है। यहाँ निर्धर्मक ब्रह्म में अन्य प्रमाण की प्रकिया नहीं है। उसे विस्तार से दिखलाते हैं—न उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है, प्रत्यक्ष प्रमाण में निर्विकल्प और सविकल्प—ये दो भेद अलग-अलग होते हैं। उसमें निर्विकल्प उसे कहते हैं, कोई एक विशेषण से वियुक्त का ग्रहण यानी विशेषण से अलग होता है, सभी विशेषण से रहित न हो और सविकल्प तो सविशेष विषय को ही जाति आदि अनेक पदार्थ से विशिष्ट विषय है; इसलिये एक जाति के द्रव्यों में प्रथम पिण्डग्रहण करना निर्विकल्प है, द्वितीय आदि पिण्डग्रहण करना सविकल्प कहा जाता है। निर्धर्मक ब्रह्म में अनुमान भी नहीं बन सकता। अनुमान तो प्रत्यक्ष आदि में देखा-सुना जाता है। ब्रह्म में इन्द्रियाँ अनुमान नहीं हैं; ब्रह्म इन्द्रियातीत है, यह श्रुति है। यदि कहो कि भावरूप से अभाव अगोचरत्व है, जैसे यूप आवाहन करने योग्य है अर्थात् यूप को सूर्य देवता आवाहन करने योग्य है, वहाँ यूप से सूर्यदेव का ग्रहण है, वैसे ही शास्त्र से निर्विशेष की उपस्थिति है, ऐसा नहीं कह सकते। यह विषम है सम नहीं है, यूप और आहवनीय आदि शब्द की वाच्यता अवच्छेद है। आदित्य धर्मवान है, यह निर्विशेष ब्रह्म सर्व धर्म से अतीत है और उसमें पद की वृत्ति नहीं पहुँच सकती है।

तथाहि पदवृत्ति तावद् द्वेधा मुख्या जघन्या च। तत्र मुख्या सामान्यविशिष्ट-व्यक्तिविषयास्मच्छब्दादयमर्थो बोधव्यः, इतीश्वरेच्छारूपः सङ्केत इति तार्किकाः। सामान्यमात्रयोगो यथा पङ्कजस्यावयवशक्तेः कुमुदपद्मयोरविशिष्ट-त्वेऽपि भूरिप्रयोगवशात्पद्मेऽपि नियमोपपत्तेरित्याहुः। जघन्याऽपि द्विविधा लक्षणा गौणी च। तत्र शक्यसम्बन्धलक्षण यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र प्रवाहशक्तस्य गङ्गापदस्य तत्सम्बन्धतीरे वृत्तिरेतस्याः साक्षाच्छक्यवृत्तित्वेऽपि परम्परया पदवृत्तित्वमित्यविरोधः। अत्र चोद्देश्यान्वयानुपपत्तिर्बीजं यथा वामं चाक्रोशन्तीत्यत्र मञ्चशक्तस्य मञ्चपदस्य मञ्चसम्बद्धेषु पुरुषेषु वृत्तिः। शक्तवृत्तिलक्ष्यमाणगुणसम्बन्धो गौणी यथा सिंहो माणवक इत्यत्र सिंहपदस्य सिंहवृत्तिशौर्यादिगुणलक्षणया तद्वति माणवके वृत्तिरिति। अतएव लक्षणा गौणीतो बलवती गौण्या वृत्तिद्वयात्मकत्वात्। तदुक्तम्—अभिधेयाविनाभूत

प्रतीतिर्लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगात् वृत्तेरिष्टा तु गौणतेति व्यञ्जनाख्या परावृत्तिरित्यालङ्कारिकाः ते तु गौणी लक्षणामध्यन्तर्भाव्यमुख्या लक्षणा व्यञ्जना चेति त्रैविध्यमाचक्षते। व्यञ्जना च यत्र गतोऽस्तमर्क इति। वाक्यप्रयोगानन्तरं दूरं मा गा इति पण्यान्यापसार्य्यतामिति। सन्ध्योपास्यतामित्यादि बहूना बहुविधार्थप्रत्ययो भवति। तत्र च न शक्ति न वा लक्षणा; किन्तु शब्दस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यामपरा व्यञ्जनाख्या वृत्तिराश्रयणीयेति वदन्ति। यत्तु यौगिको योगरूढश्च शब्दः स्यादौपचारिकः, मुख्यो लाक्षणिको गौणः शब्दः षोढा निगद्यते इति वैयाकरणैः षड्विधत्वमुक्तं तन्मुख्यजघन्ययोरवान्तरभेदमादाय योजनीयम्। तथाहि मुख्यो रूढ़ः यौगिको योगरूढ इत्येकं त्रिकं मुख्यायां लाक्षणिक औपचारिको गौण इत्यपरं त्रिकम्। लक्षणाऽपि त्रिविधा अजहत्स्वार्था जहदजहत्स्वार्था जहत्स्वार्था चेति। तत्राद्या वाचा अर्थापरित्यागे नैवान्यत्र वर्तमाना शक्तितुल्या सर्वजघन्याऽतो बलवती, यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामिति लोके उपघातकत्वेन काकपदस्य काकतदितरेषु वृत्तिः। यथा वा अष्टीरुपदधातीत्यत्र अष्टिशब्दस्य मन्त्रोपधेयेष्टकासु वृत्तिः। अष्टिमन्त्र बाहुल्येनेति। यथा वा शोणो धावतीत्यत्र शोणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिषु वृत्तिः। केचित्तु शोणो धावतीत्यादिनोदाहरणं तादात्म्यसम्बन्धेन तत्रापि मुख्यत्वोपपत्तेः। अतएव चतुष्टयीशब्दानां वृत्तिरिति महाभाष्यकारैरुक्तं, चतुष्टयं च जातिगुणक्रियाद्रव्यस्वरूपम्। तत्र गौरित्यादौ जातिः, शुक्लो नील इत्यादौ गुणः, चल इत्यादौ क्रिया, डित्थ इत्यादौ द्रव्यस्वरूपमेव लक्षणाङ्गीकारे च तद्विरुध्येतेत्याहुः। जहदजहत्स्वार्था शक्यैकदेशपरित्यागेन शक्यैदेशे वृत्तिरियमपि जहल्लक्षणातो गौणीतश्च बलवती वाक्यैकदेशान्वयाद्यथा सोऽयं देवदत्त इत्यादौ अत्र तत्कालवैशिष्ट्ये तत्कालवैशिष्ट्ययोर्युगपदन्वये विरोधात्तदुपलक्षितदेवदत्तस्वरूपमेव शक्यैकदेशलक्षणाया पदाभ्यामुपस्थाप्यते। इयमेव भागत्यागलक्षणेत्युच्यते।

जहत्स्वार्था तु वाच्यार्थस्य सर्वांशत्यागेन नान्यत्र वृत्तिः, यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ इयं च गौणीतो बलवती सर्वमुख्यार्थबाधात् इति शब्दवृत्तयः निरूपिताः। आसामेकतरापि नाद्वितीये ब्रह्मणि भवितुमर्हति। तत्रादौ रूढेरसम्भव

उच्यते शक्तिग्रहस्तु क्वचित् प्रवृत्तिलिङ्गानुमानात्। यथा घटमानयेति वाक्यश्रवण-समनन्तरं कश्चित् कम्बुग्रीवादिमन्तमर्थमानयति तस्यानयनक्रियाप्रत्यक्षत उपलभ्य तत्कारणत्वेन तस्य कृतिमनुमानय तस्याः कृतेः स्वकृतिदृष्टान्तेन प्रवर्तकज्ञानजन्य-त्वमनुमिनोति। तच्च ज्ञानशब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् कारणान्तरस्य चानुपस्थितेः तस्य शब्दस्यैव घटकर्मनयनकर्त्तव्यताप्रतिपादने सामर्थ्यं कल्पयति। तत्रावापोद्वापाभ्यां प्रत्येकसामर्थ्यं क्रमेण निश्चिनोति इति शक्तिग्रहक्रमः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—पद की वृत्ति दो प्रकार की होती है—मुख्या वृत्ति और जघन्या वृत्ति। उसमें मुख्या वृत्ति उसे कहते हैं—सामान्यविशिष्ट व्यक्तिविषय इस शब्द से यह अर्थ जानने योग्य है, यह ईश्वर की इच्छारूप सङ्केत है, ऐसा तार्किकजन बताते हैं। सामान्य मात्र योग है, जैसे पङ्कज पद की अवयव शक्ति कुमुद और पद्म—इन दोनों में है, किसी में विशेषता नहीं है, पर बहुत प्रयोग पङ्कज गौणी और उसमें शक्य के सम्बन्ध में लक्षणा शब्द का पद्म में है, यह नियम है। जघन्या भी दो प्रकार की है—लक्षणा गौणी और उसमें शक्य के सम्बन्ध में लक्षणा। **'यथा गङ्गायां घोषः'** जैसे गङ्गा में घोष=अहिरपल्ली। यहाँ प्रवाहशक्त गङ्गा पद का सम्बन्ध उसके तीर में है, गङ्गाजी के मध्य में जलप्रवाह पर गाँव कैसे बस सकता है। गङ्गायां सप्तमी विभक्ति में गङ्गा सम्बन्ध तट पर वृत्ति है अर्थात् गङ्गातीर पर रहने वाले ग्वाल-बाल। उसके सम्बन्ध का जो गङ्गाजी के किनारे में गाँव है, उसकी साक्षात् शाक्य वृत्ति होने पर भी परम्परा से पद की वृत्तिपन में विरोध नहीं है। इस स्थल में उद्देश्य जो प्रवाह, उसके अन्वय की उपपत्ति नहीं है, यह बीज है, अथवा मञ्च चिल्लाते हैं—इस स्थल में मञ्च शक्ति की, मञ्च पद की, मञ्च पर बैठे जो पुरुष हैं, वे चिल्ला रहे हैं—**'यथा मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति इत्यर्थः'**। शक्ति की वृत्ति देखी गयी है। जो गुण उसके सम्बन्ध में गौणी कही जाय **सिंह इव माणवकः** अर्थात् सिंह की भाँति माणवक—इस स्थल में सिंह पद का सिंह की वृत्ति शौर्यादि गुण माणवक में देखकर उसमें वृत्ति की, इसलिये लक्षणा गौणी से बलवती है। पुरुवंश में पैदा हुए दुष्यन्त तथा शकुन्तला का बालक भरत पाँच वर्ष की अवस्था में ही बड़े-बड़े सिंहों को पकड़-पकड़कर बाँध लेता था।[1] गौण्यां वृत्ति द्वयात्मक (दो) हैं जो अभिधान करता है उसके नहीं बिना भूत

---

१. द्रष्टव्य—भा० ९/२०/१८

की प्रतीति लक्षणा कहलाती है। लक्ष्यमाण गुणों के योग से गौणी वृत्ति वाञ्छित है। एक व्यञ्जना नाम की और परा वृत्ति अलङ्कार वालों ने कही है। वे तो गौणी लक्षणा के मध्य में अन्तर्भाव करके मुख्या, लक्षणा और व्यञ्जना—ये तीन प्रकार की बताते हैं। उसमें व्यञ्जना बतलाते हैं; किसी ने यह वचन कहा है कि—सूर्यास्त हो रहा है, बच्चे दूर मत जायँ। बनिया दुकान बढ़ावे। ब्राह्मण सन्ध्योपासना करें। बहुतों को बहुत तरह के अर्थ की प्रतीति होती है। उसमें न शक्ति है, न लक्षणा है; किन्तु शब्द का ही अन्वय और व्यतिरेक से अपरा व्यञ्जना नाम की वृत्ति आश्रय करने योग्य है, ऐसा बताते हैं। वैयाकरण छः प्रकार के शब्द कहते हैं—१.यौगिक, २.योगरूढ़, ३.औपचारिक, ४.मुख्य, ५.लक्षिणिक और ६.गौण। वह मुख्य और जघन्य— इन दोनों के अवान्तर भेद में योजना करने योग्य है। वैसे ही मुख्य १.रूढ़, २.यौगिक और ३.योगरूढ—यह एक तीन मुख्य में १. लाक्षणिक, २.औपचारिक और ३.गौण, यह दूसरा तीन जघन्य में है। लक्षणा भी तीन प्रकार की होती है—अजहत्स्वार्था लक्षणा अर्थात् अपने अर्थ को न छोड़ना। जहत्-अजहत्स्वार्था लक्षणा अर्थात् कुछ अपने अर्थ को छोड़ा और कुछ नहीं छोड़ा और तीसरी जहत्स्वार्था लक्षणा अर्थात् अपने अर्थ को ही छोड़ दिया। उसमें पहले अजहत्स्वार्थ लक्षणा कहते हैं—वाच्यार्थ का परित्याग न करके ही अन्यत्र तुल्य शक्ति से वर्तमान—**यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्** अर्थात् कौओं से दही की रक्षा कीजिये। इस प्रकार लोक में नष्ट करने वाले काक पद की काक से अतिरिक्त बिल्ली आदि में वृत्ति है। जैसे अष्टि को धारण करें। यहाँ अष्टि शब्द की मन्त्रोपधेय ईटों में वृत्ति है। अष्टि के मन्त्रबाहुल्य से जैसे शोण दौड़ता है, इस स्थल में शोणगमन लक्षण वाक्यार्थ के विरुद्ध है, उसका परित्याग न करके उसके आश्रय अश्वादि में वृत्ति है। कई कहते हैं 'शोणो धावति' शोण दौड़ता है इत्यादि से उदाहरण तादात्म्य सम्बन्ध द्वारा उसमें भी मुख्यपन की प्राप्ति है। इसीलिये चारों शब्दों की वृत्ति महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने कही है—१.जाति, २.गुण, ३.क्रिया, और ४. द्रव्यस्वरूप को। उसमें गौ इत्यादि में द्रव्यस्वरूप ही है। जिस लक्षणा के अङ्गीकार करने से विरोध होता है—उसे कहते हैं, जहत् अजहत्स्वार्था लक्षणा। चूँकि १.जहत् २.अजहत और ३. भागत्याग के भेद से लक्षणा तीन प्रकार की होती है। जिसमें कहे हुए को छोड़कर तथा उससे सम्बन्धित दूसरों का ग्रहण किया जाय, उसे

जहल्लक्षणा कहते हैं—'यथा गङ्गायां देवव्रतः तिष्ठति' जैसे गङ्गा में देवव्रत खड़ा है, यहाँ पर गङ्गा को छोड़कर तत्रस्थ गृहबोध होता है। जिसमें शक्य को एक-देश परित्याग से शाक्य के एकदेश में वृत्ति है, यह भी जहल्लक्षणा, लक्षणा और गौणी से यह बलवती है, वाक्य के एकदेश में जिसका अन्वय है—यथा 'सोऽयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है' इत्यादि वाक्य में यही दर्शाया है कि बहुत पहले=उस समय में देखा देवदत्त नवयौजन संदृष्ट-पुष्ट शरीर से विशिष्ट परित्याग कर देना या काल की वृद्धावस्था=बुढ़ापा-दुर्बलता, वह भी त्याग देना—ये दोनों वैशिष्ट्य एक साथ एक काल में अन्वय करने में विरोध पड़ते हैं। देवदत्त का पिण्डमात्र ही लेना शाक्य के एकदेश में लक्षणा करके दोनों स्थापन होते हैं । यही भागत्याग लक्षणा कही जाती है। तत्त्वमसि=तत्, त्वम् असि में सोऽयं देवदत्तः की भाँति भागत्याग लक्षणा की प्राप्ति नहीं है। तत्त्वमसि इत्यादि वेदान्तवाक्य में तत् एवं त्वम् तथा असि श्रुति का अर्थ है—श्वेतकेतु! तुम उस ब्रह्म से अभिन्न हो। तत् और त्वम् दोनों के मध्य में ब्रह्म-ज्ञ=सर्वज्ञ है; इसलिये ईश्वर है और त्वं पदवाच्य जीव अज्ञ और अनीश है, जीव और ब्रह्म में परस्पर वैलक्षण्य है—**ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ** (श्वेता०उ०१/९)। जहत्स्वार्था लक्षणा की तो वाच्यार्थ का सर्वांश त्याग द्वारा अन्यत्र वृत्ति है; जैसे—गङ्गायां घोषः=गङ्गा में गाँव इत्यादि में यह गौणी से बलवती सारी लक्षणा से दुर्बल है। जिसकी वृत्ति इतर में जाती है, उसे आदर नहीं दिया जाता है, सब मुख्य अर्थ के बाध से शब्द की वृत्तियाँ निरूपित की गयी हैं। इनमें से एक भी अद्वितीय ब्रह्म में नहीं घटते हैं। उसमें पहले रूढि को असम्भव कहा गया है, शक्ति का ग्रहण कहीं-कहीं प्रवृत्ति के लिङ्गानुमान से होता है, जैसे 'घटम् आनय' घट लाओ, यह बात सुनकर कोई कम्बुग्रीवादिमान एक अर्थ लाया है, कोई दूसरा घट आनयन क्रिया प्रत्यक्ष देखकर कारणता की कृत्ति अनुमान किया है, उसकी कृति से अपनी कृति के दर्शन करके ज्ञान उत्पन्न होना अनुमान किया है। वह ज्ञान शब्द के अन्वय और व्यतिरेक से विधान हुआ। और कुछ कारण तो है ही नहीं। घट कर्म नयन की जो कर्त्तव्यता उसके प्रतिपादन में शब्द की सामर्थ्य कल्पना है, उसमें ले जाना और ले आना प्रत्येक सामर्थ्य क्रम से निश्चय करता है, इस प्रकार शक्तिग्रह का क्रम है।

एवं दिष्ट्या वर्द्धति पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यश्रवणसमन्तरं श्रोतुमुखविकाशादिलिङ्गेन हर्षमनुमाय तस्य च कारणान्तरानुपस्थितेः पुत्रजन्मनश्च मानान्तरेण

ज्ञातत्वात् तज्जन्यतां निश्चित्य तज्ज्ञानं प्रत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामिदं ज्ञानजनकमिति कल्पयित्वा क्रमेण पूर्ववत् प्रतिपदशक्तिग्रहमद्वदत्र ब्रह्मज्ञानस्य प्रवृत्त्यादिजनकत्वाभावान्मानान्तरागो चरत्वाच्च न तत्र शक्तिग्रहावसरः। क्वचिदुपमानाच्छक्तिग्रहः यथा गोसदृशो गवय इति वाक्यं श्रुतवतो नागरिकस्य कदाचिद् अरण्यगमनानन्तरं गोसदृशव्यक्त्यन्तरदर्शने पूर्वश्रुतवाक्यार्थस्मरणेन गोसादृश्याद् गवयपदनिश्चयः। क्वचिद् वैधर्म्याद् 'यथा धिक् करभम्' अतिदीर्घग्रीवं कठोरकण्टकाशिने पूर्ववत् करभपदवाच्यत्वनिश्चयः तदुभयं ब्रह्मणि न सम्भवति। साधर्म्यवैधर्म्यशून्यत्वात् मानान्तरायोगाच्च क्वचिद् आप्तवाक्याद् यथा कम्बुग्रीवादिमानघटपदवाच्य इति तद्वदप्यत्र न सम्भवति उद्देश्यांशोपस्थापक पदाभावात् क्वचित्प्रसिद्धार्थपदसामानाधिकरण्यात्। यथेह सहकारतरौ पिको रौतीति रुर्तरिप्रत्यक्षप्रसिद्धे इत्यादिनिन्दावाक्यश्रुतवतः तादृशव्यक्तिदर्शने पिकपदवाच्यत्वनिश्चयः। 'यथा वज्रहस्तः सहस्राक्षः पुरन्दरः' इत्यादौ वज्रहस्ताद्याकृतिविशिष्टपुरन्दरादिपदवाच्यत्वाध्यवसायः तद्वदपि नेह सम्भवति। निर्विकल्पे तस्मिन् सर्वस्यापि पदस्याप्रसिद्धार्थत्वात् क्वचिद् वाक्यशेषाद् यथा यववराहादिशब्दानां पदान्या औषधयोम्लायन्त्यैतामोदमाना एवावतिष्ठन्ति 'वराहमनुधावन्ति' इत्यादिवाक्यशेषात् कङ्गुकङ्कादिव्यावृत्त्या वाच्यार्थविशेषनिश्चयः। यथा वा स्वर्गयूपाहवनीयादिशब्दानां यन्न दुःखेन सम्भिन्नमित्यादिवाक्यशेषादलौकिकार्थविशेषनिर्णयः। तद्वदपि ब्रह्मणि न सम्भवति वाक्यशेषस्यापि ब्रह्मविषयित्वासम्भवात्। न च ब्रह्मविदाप्नोति परमिति परमपुमर्थसाधनम्।

ब्रह्मज्ञानमित्यभिहिते किं तद् ब्रह्मेत्याकाङ्क्षायां सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै०उ०) इति ब्रह्मलक्षणमुपदिशति। तथा च सत्यादिपदोपस्थापितः द्वितीये वस्तुन्येव ब्रह्मपदशक्तिग्रहो भविष्यति इति वाच्यम्। सत्यादिपदेभ्योऽपि निर्विकल्पोपस्थितेरसम्भवात्तत्रापि वाक्यशेषान्तरानुधावनेन व्यवस्था शक्येन समं सम्बन्धाग्रहान्न लक्षणाऽपि न हि लक्षणयैव लक्ष्यस्वरूपोपस्थितिः, तस्याः स्मारकत्वात् स्मरणस्य च पूर्वज्ञानजन्यत्वनियमात्। किञ्चजहत्स्वार्थाविशिष्टोपस्थितिः प्रसङ्गात्, तत्त्वमस्यादिवाक्याविरोधेनानन्वयापत्तेः नापि जहत्-अजहत्स्वार्था तस्याः शक्यसम्बन्धवति प्रमाणान्तरानुपस्थिते देवदत्तादौ

सम्भवः प्रमाणान्तरानुपस्थिते। सर्वसम्बन्धशून्येऽनवकाशादतएव न जहत्स्वार्थाऽपि तदङ्गीकारे वा गङ्गापदलक्ष्यस्यसत्यत्वादि स्यात् वाच्यत्वस्य सर्वात्मना परित्यागात् नापि गौणी तत्र सम्भवति। सर्वसादृश्यशून्यत्वात् मायावादिमते प्रभ्वादिगुणयोगेन गौण्यस्वीकारः, नापि व्यञ्जनावृत्तिः तत्र सम्भवति तस्यानिःसम्बन्ध्ये अप्रसरात् तस्मान्निर्विशेषे वृत्तिमात्रायोगान्निर्विशेषे पदविधया वाक्यविधया चोपनिषन्मानं मम तु मते प्राकृताप्रकृतद्विविधभेद-भिन्नाचिद् विशेषरहितमेव निर्विशेषमिति नास्मत्प्रतिवन्दी प्रकृतिमनुसरामः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—इस प्रकार किसी ने कहा—मङ्गल हो और कल्याण बढ़े, तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ, तुम्हारा कल्याण हो इत्यादि वाक्य सुनने के पीछे सुनने वाले का मुख विकाशादि-युक्त हर्ष अनुमान किया। हर्ष का कारण दूसरा तो है ही नहीं। पुत्र का जन्म शब्द के सिवाय और प्रमाण से तो जाना नहीं, उसका जन्म निश्चय करके ज्ञान के प्रति अन्वय और व्यतिरेक से यह शब्द ही ज्ञान उत्पन्न करने वाला है। ऐसी कल्पना करके क्रम से पहले की तरह शक्तिग्रह होता है। वैसे ही यहाँ ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्ति आदि उत्पन्न नहीं है और अन्य प्रमाण का गोचर नहीं तो शक्तिग्रह का अवसर कहाँ है? कहीं उपमान से भी शक्तिग्रह है। जैसे—**'गोसदृश गवय'** गौ के समान गवय—यह वाक्य सुनने वाले नगरवासी कोई समय वन में गया और वहाँ गौ के समान दूसरी वस्तु देखी, जिसे दर्शन करके पहले सुने, वाक्यार्थ के स्मरण से गौ समान गवय यह पद निश्चय कर रहा है। कहीं वैधर्म्य से भी शक्तिग्रह होता है। जैसे—**धिक् करभम् अतिदीर्घग्रीवकठोरकण्टकाशिनम्।** ऊँट को धिक्कार है, बहुत लम्बी गर्दन और कठोर कण्टक को खाने वाला है इत्यादि निन्दा-वाक्य किसी ने सुना और फिर उसने वैसे ही वस्तु देखी तो पहले की भाँति ऊँट पद वाच्यत्व निश्चय होता है। वह दोनों ब्रह्म में सम्भव नहीं है। न कोई साधर्म्य है, न वैधर्म्य है और न प्रमाणान्तर में योग है। कहीं आप्तवाक्य से जैसे—कम्बुग्रीवादिमान घट पदवाच्य ऐसा, वह भी यहाँ सम्भव नहीं है। उद्देश्य अंश का उपस्थापक=स्थापना करने वाला पद नहीं है। कहीं प्रसिद्ध अर्थ के पद का समान अधिकार प्राप्त होता है। जैसे आम के पेड़ पर कोयल बोल रही है, बोलने वाली प्रत्यक्ष सिद्ध है। उसमें पिक पदवाच्यत्व निश्चय है। जैसे—'वज्रहस्तः सहस्राक्षः पुरन्दरः' अर्थात् हाथ में वज्र है जिसके, ऐसे सहस्र नेत्र

वाले पुरन्दर=देवराज इन्द्र—इत्यादि में वज्र हाथ में आदि आकृति- विशिष्ट पुरन्दर आदि पदवाच्यत्व निश्चय हुआ है। वैसे भी ब्रह्म में सम्भव नहीं है। इस निर्विकल्प ब्रह्म में भी सब पदों का अर्थ प्रसिद्ध नहीं है। कहीं वाक्य- शेष से भी, जैसे यव-वराह आदि शब्दों के पद अन्य औषधियाँ ये मोदमान ही हैं। वराह के पीछे दौड़ रहे है इत्यादि वाक्यशेष से कङ्गु-कङ्कादि की व्यावृत्ति करके वाच्यार्थ के विशेष निश्चय होते हैं। जैसे स्वर्ग के यूप आहवन करने योग्य हैं, जो दु:ख से भिन्न नहीं हैं, इत्यादि वाक्यशेष से अलौकिक अर्थविषय निर्णय होता है, वैसे भी ब्रह्म में सम्भव नहीं है और वाक्यशेष का भी ब्रह्मविषय नहीं हो सकता। यदि वादी ऐसे कहे कि ब्रह्म को जानने वाला परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, परम पुरुषार्थ का साधन ब्रह्मज्ञान है। इस प्रकार के कहने पर तो उनसे यह बात पूछी जाय कि वह ब्रह्म कौन है? इस आकांक्षा में श्रुति स्वयं ब्रह्म के स्वरूप (लक्षण) का उपदेश करती है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् परब्रह्म सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है और अनन्तस्वरूप है। सत्य आदि पद से उपस्थापित जो अद्वितीय वस्तु में ही ब्रह्म पद की शक्तिग्रहं हो जायेगी—ऐसा कहना चाहिये तो ऐसा मत कहो, सत्यादि पदों से भी निर्विकल्प की उपस्थिति सम्भव नहीं है, वहाँ भी वाक्यशेष के अन्तर के अनुधावन में व्यवस्था है। शक्य के साथ सम्बन्ध न होने से लक्ष्य स्वरूप की उपस्थिति नहीं बन सकती। चूँकि लक्षणा का स्मारकत्व है और स्मरण का पूर्वज्ञान से जन्यत्व—यह नियम है। अजहत्स्वार्था से विशिष्ट की उपस्थिति का प्रसङ्ग नहीं बनता; कारण तत् त्वम् असि आदि वाक्य में विरोध से अन्वय की प्राप्ति नहीं है। जहत् अजहत् स्वार्था भी नहीं बनती; जहत् अजहत्स्वार्था शक्य के सम्बन्ध वाली है। प्रमाणान्तर से उपस्थित होने पर देवदत्त आदि में सम्भव है। प्रमाणान्तर से जिसकी उपस्थिति नहीं, जो सब सम्बन्ध से शून्य है, उसमें लक्षणा का अवकाश कहाँ है। अतएव जहत्स्वार्था भी नहीं बन सकती। उसके अङ्गीकार करने से गङ्गा पद का लक्ष्य जो तीर है, गङ्गात्ववत्=गङ्गापन भाँति नहीं है, वैसे सत्य आदि पद का लक्ष्य जो ब्रह्म है, वाच्यार्थ के सर्वात्मना परित्याग से गौणी भी सम्भव नहीं है, सब सादृश्य से शून्य है, मायावाद के मत में प्रभु आदि गुणों का योग ब्रह्म में नहीं है। गौणी स्वीकार नहीं है। व्यञ्जना वृत्ति भी उसमें सम्भव नहीं है। विना सम्बन्ध के वह भी प्रसर नहीं; इसलिये निर्विशेष में वृत्तिमात्र की योग्यता नहीं, निर्विशेष में पद की विधि

करके तथा वाक्य की करके उपनिषद् प्रमाण नहीं; हमारे स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त में तो प्राकृत और अप्राकृत दो प्रकार के भेद से भिन्न जो अचेतन विशेष से रहित ही है, शेष हमारे प्रतिबन्धी=प्रतिबन्धन नहीं है। अब अपने प्रकरण में चलते हैं। हम प्रमाण और लक्षण—इन दोनों के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करना चाहते हैं। चूँकि लक्षण और प्रमाण—दोनों से ही वस्तु की सिद्धि होती है। लक्षण वस्तु में रहता है और प्रमाण अपने पास रहता है। उदाहरण के रूप में गाय है। जैसे गाय के गले में जो ललरी होती है, वह उसका लक्षण है और उसका आँख से दीखना प्रमाण है। इससे प्रमा उत्पन्न होती है और निश्चय होता है कि यह गाय है। इसलिये हम प्रमाण और लक्षण—इन दोनों के द्वारा ही ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण को जान सकते हैं।

अब इस समय ग्रन्थकार लक्षण और वेदप्रमाण के द्वारा ही वस्तुसिद्धि करते हैं।

विष्णोर्नु कं वीर्य्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि इति (ऋक् १/१५४/१) **न ते विष्णोर्जायमानो न जातो देवमहिम्नः परमन्तमायेति सहस्रधाममहिमानः सहस्र इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यश्च**

ब्रह्मणोऽनन्तकल्याणगुणैकराशित्वं सिद्धम्। व्यूहाङ्गिनमिति वासुदेव-प्रद्युम्नानिरुद्धसङ्कर्षणरूपसमुदायो व्यूहः, तस्याङ्गिनं वयं ध्यायेम् इत्यर्थः। यथोक्तं श्रीमद्भागवते—

वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्।
अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् मन्त्रमूर्तिर्व्यूहोऽभिधीयते।।२१।।
स विश्व-तैजस-प्राज्ञः-तुरीय इति वृत्तिभिः।
अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाव्यते।।२२।।
अङ्गोपाङ्ग्युधाकल्पैर्भगवांस्तच्चतुष्टयम् ।
बिभर्तिस्म चतुर्मूर्तिर्भगवान् हरिरीश्वरः।।२३।।

अत्रेदं बोध्यं वासुदेवो विश्वो जागर्त्यभिमानी सत्त्वाधिष्ठातत्वात्। प्रद्युम्नस्तैजसः स्वप्नाभिमानी। रजोऽधिष्ठातृत्वात् सङ्कर्षणः प्राज्ञः सुषुप्त्य-भिमानी। तमोऽधिष्ठातृत्वात् निर्गुणत्वाज्जागर्त्यादिषु निर्विकारत्वेना-नुगतत्वादनिरुद्धस्तुरीयो जागरणादिषु एकरूपात्मतत्वम्। एवं तत्तदधिष्ठित-

सत्त्वादितो जागर्तिस्वप्नसुषुप्तयो भवन्तीत्यर्थः। प्रमाणं श्रीमद्भागवते द्रष्टव्यम्—अथ प्रधानेश्वरः प्रद्युम्नः, अनिरुद्धस्तु समष्टिदेहान्तरात्मा ब्रह्माण्डान्तर्यामी पुरुषाह्वयः। व्यष्ट्यान्तरात्मा तु वासुदेवः, यथोक्तं—प्रथमं महतः सृष्टिं द्वितीयं त्वण्डसंस्थितं तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यत इति।

सर्वोत्तमोऽनन्यापेक्षमहिमैश्वर्यः श्रीकृष्ण एव स्वयंरूपः तस्य वासुदेव-प्रद्युम्नानिरुद्धसङ्कर्षणरूपो व्यूहश्चतुःकरणम्; अतः सर्वेषां चित्तबुद्धि-मनोऽहङ्काराणामधिष्ठातृत्वम्। व्यूहस्य श्रूयते यानि अस्मदादिचित्ताद्यधिदैवतानि तानि श्रीभगवतः चित्तादीनि यथा दर्शे बिम्बिनोऽङ्गानि प्रतिबिम्बे यथा-स्थानमेव प्रतीयेरन् तथैव श्रीभगवतोऽपि चित्तादिस्थानीया। वासुदेवादयोऽङ्गानि विश्वस्मिन् यथास्थानमेव चित्ताद्यधिष्ठातृत्वेन श्रूयते। चन्द्ररुद्रादीनां रूपान्तरत्वेन तदंशत्वान्न विरोध इति। अत्रायं विवेकः—भूतेभ्यः प्राणिनः श्रेष्ठाः, तेभ्यो वै मनुजाः खलु, मनुजेभ्योऽमराः, सर्वेभ्यो देवेभ्यः चतुराननः ब्रह्मणः शङ्करः श्रेष्ठः, तत्परो विष्णुरेव हि, तस्माच्छ्रेष्ठः शेषशायी, तस्माच्छ्रेष्ठो विराट् विभुः। तस्माच्छ्रेष्ठो हि विज्ञेयो विष्णुर्महाविराट्।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—भगवान् श्रीविष्णु के पराक्रमों को कौन कह सकता है? उनके पराक्रमों का कोई परिमाण नहीं है। अपनी प्रतिभा के बल से पृथ्वी के एक-एक धूलिकण को गिन चुकने पर भी जगत् में ऐसा कौन व्यक्ति है, जो भगवान् श्रीहरि की शक्तियों की गणना कर सके। हे भगवन्! जो तुम्हारी महिमा का अन्त पाया, वह न पैदा हुआ और न पैदा होगा। हे परमात्मन् आप की महिमा सहस्त्रधा=अनन्त है। भगवान् श्रीविष्णु के सम्बन्ध में मन्त्रद्रष्टा महर्षि वसिष्ठ ने वेदों में कहा है कि ऐसा पुरुष न कभी हुआ, न है और न होगा; जो श्रीभगवान् की महिमा का पार पा सके।

ब्रह्माजी कहते हैं—

यस्यावतारकर्माणि गायन्तिह्यस्मदादयः।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः।।

(भा०२/६/३०)

हम ब्रह्मादिगण जिसके अवतार की लीला-कथा-माहात्म्य-गुण-महिमा का गान ही करते रहते हैं, उसे तत्त्व से नहीं जानते; उस भगवान् को हम प्रणाम करते हैं। राजा परीक्षित् श्रीशुकदेवजी से पूछते हैं—

विष्णोर्वीर्याणि शंस नः।
वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।
प्रयच्छतोमृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्।।
(भा०१०/१/२-७)

यहाँ 'माया' शब्द कृपा के अर्थ में है—**माया दम्भे कृपायां चेति विश्वः।** हे भगवन्! उस विष्णु भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य जन्म-कर्म की कथा हमें सुनाइये। उस भूमा परमात्मा श्रीकृष्ण के चरित्र ऐसे हैं, जो अवश्य ही सुनने योग्य हैं। वह परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण सम्पूर्ण प्राणियों के बाहर और भीतर बैठा है=बाहर काल के रूप में और भीतर पुरूष के रूप में विराजमान है। बाहर से मृत्यु दे रहा है और भीतर से अमृतत्व प्रदान कर रहा है। श्रीभगवान् ने कृपा करके मनुष्य का आकार धारण किया है। **'कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्'** (भा०१/३/२८) कृष्ण तो स्वयं=साक्षात् भगवान् हैं। हे विद्वन्! आप उसके वीर्य की=महिमा का वर्णन कीजिये। राजा परीक्षित् ने श्रीशुकदेवजी महाराज से पूछा—

ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत्।
योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम्।।

हे ब्रह्मन्! दूसरे के पुत्र श्रीकृष्ण में व्रजवासियों का ऐसा सर्वाधिक प्रेम कैसे हो गया, जैसे कि ऐसा अभूतपूर्व प्रेम अपने लड़के-बच्चों में भी नहीं था। यह बात कृपाकर मुझे बतलाइये। परीक्षित के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीशुकदेवजी ने बतलाया है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया।।
(श्रीमद्भा०१०/१४/४९,५५)

हे राजन्! तुम इस श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण चराचर प्राणियों की आत्मा समझो। यहाँ=व्रजधाम में जगत् के हित के लिए (अपने भक्तजनों के उद्धार के लिये) वह अपनी कृपा से देहधारी के समान प्रतीत हो रहा है। देवयजन-भूमि कुरुक्षेत्र में स्वर्गच्युत देवता के समान शरशय्या पर पड़े महान् योद्धा परमज्ञानी भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्य परम भक्त गङ्गापुत्र पितामह भीष्म शरीर

का परित्याग करते समय भावपूर्ण ग्यारह पुष्पिताग्रा छन्दों से परमात्मा श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहते हैं—

जितने भी शरीरधारी जीव हैं, उन सभी के हृदयों में एक ही यह अजन्मा श्रीकृष्ण बैठा हुआ है, जैसे सभी की आँखों में एक ही सूर्य होता है वैसे। (श्रीमद्भागवत १/९/४२)

उन्होंने वामनावतार में अपने वीर्य का प्रभाव धर्मविद् राजा बलि को त्रिविक्रम विश्वरूप में दर्शन कराया है। इसलिये वेद भगवान् ने कहा—

विष्णोर्नु कं वीर्य्याणि प्रवोचमित्यादि। इत्यादि वेद व वेदानुकूल श्रीमद्भागवत शास्त्र से जाना जाता है कि परब्रह्म अनन्त कल्याणगुणों की राशि है, यह सिद्ध हुआ। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धरूप—ये चार व्यूह जिसके अङ्ग हैं उस अङ्गी, श्रीकृष्ण का हम ध्यान करते हैं। जैसे श्रीमद्भागवत में कहा गया है—सूतजी, शौनकजी से कहते हैं—हे ब्रह्मन्! सबके पुरि में शयन करने वाला स्वयं भगवान् ही वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार मूर्तियों के रूप में संराजमान है; इसलिये चतुर्व्यूह कहा जाता है। वे ही जाग्रत्—अवस्था के अभिमानी 'विश्व' बनकर शब्द-स्पर्श आदि बाह्य विषयों को ग्रहण करते हैं और वे ही स्वप्नावस्था के अभिमानी 'तेजस' बनकर बाह्य विषयों के बिना ही मन ही मन अनेक विषयों को देखते हैं और ग्रहण करते हैं। वे ही सुषुप्ति अवस्था के अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा तुरीय—इन वृत्तियों से अर्थ, इन्द्रिय, आशय और ज्ञान से भगवान् ही भावना किये जाते हैं। इस प्रकार अङ्ग=हस्त-पादादि, उपाङ्ग=वनमाला, कौस्तुभ=मकराकार कुण्डलादि आयुध=सुदर्शन-चक्रादि आभूषणों से युक्त तथा वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धरूप समुदायव्यूह रूप में प्रकट सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीहरि ही क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीय रूप धारण करते हैं।

ग्रन्थकार कहते हैं—यहाँ ऐसा जानना चाहिये कि भगवान् वासुदेव जागर्ति अभिमानी सत्त्व के अधिष्ठाता हैं। भगवान् प्रद्युम्न तैजस स्वप्न अभिमानी रज के अधिष्ठाता हैं। भगवान् सङ्कर्षण प्राज्ञ सुषुप्ति के अभिमानी तम के अधिष्ठाता हैं और भगवान् अनिरुद्ध तुरीय जागर्तादि अवस्था में निर्विकार रूप में अनुगत हैं और सब जागरणादि अवस्था में जिसको एकरूप

आत्मतत्त्व है एवं तत्तद् अधिष्ठातासहित सत्त्वादि से जागर्ति, स्वप्न और सुषुप्ति होती है। प्रमाण श्रीमद्भागवत में देखना चाहिये। इसके आगे कहते हैं—प्रधान के ईश्वर भगवान् प्रद्युम्न हैं। भगवान् अनिरुद्ध समष्टि देह के अन्तरात्मा ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी पुरुष उसका नाम है। व्यष्टि के अन्तरात्मा भगवान् वासुदेव हैं, जैसे कहा गया है—पहले महत् की सृष्टि, दूसरी अण्ड की संस्थिति और तीसरी सब भूतों में स्थित उनको जानकर संसार से मुक्त हो जाता है।

वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सङ्कर्षणरूप समुदायव्यूह का कीर्तन अनन्य परम भक्तों ने किया है, उसे दिखलाते हैं—

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च।।

(श्रीमद्भा० १/५/३७)

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च।
प्रद्युम्नानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः।।

(श्रीमद्भा० ११/५/२९)

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च।
प्रद्युम्नानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः।।

(श्रीमद्भा० १०/४०/२१)

वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे।
सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च।।
नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने।
नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने।।

(श्रीमद्भा० ४/२४/३४-३६)

हे विभो! आप भगवान् वासुदेव को नमस्कार है, हम आप- का ध्यान करते हैं और प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सङ्कर्षण को नमस्कार हैं। हे प्रभो! आप भगवान् वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को हम पुनः- पुनः नमस्कार करते हैं। समस्त वैष्णवजनों तथा यदुवंशियों का पालन-पोषण-संरक्षरण करने के लिये जो परम पुरुष स्वयं श्रीकृष्ण आपने ही अपने को वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इस समुदाय चतुर्व्यूह के रूप में प्रकट किया है। मैं

आपको बार-बार नमन करता हूँ। शान्त, एकरस-स्वयं प्रकाश-चित्त के अधिष्ठाता भगवान् वासुदेव को नमस्कार है। आप ही सूक्ष्म, अनन्त और मुखाग्नि के द्वारा सम्पूर्ण लोकों का संहार करने वाले अहङ्कार के अधिष्ठाता सङ्कर्षण तथा जगत् के प्रकृष्ट ज्ञान के उद्गमस्थान बुद्धि के अधिष्ठाता प्रद्युम्न हैं, आपको नमस्कार है। आप ही इन्द्रियों के स्वामी, मन तत्त्व के अधिष्ठाता भगवान् अनिरुद्ध हैं; आपको। बार-बार नमन है। नमनं नमः, नमो नमः।

अहिर्बुध्न्य-संहिता में 'नमः' शब्द की नैरुक्त व्युत्पत्ति इस प्रकार दी हुई है—

'न मे इति' अर्थात् मेरा कुछ नहीं, मैं कुछ नहीं, मैं और मेरा छोड़ दीजिये। परमात्मा की अभिव्यक्ति नमः है। कर्मकाण्डी लोग भी कहते हैं— इदं इन्द्राय न मम। 'न मम' का ही सक्षिप्त रूप नमः है। नमनं नमः=नमन ही नमस्कार है। नमो नमः=बार-बार नमस्कार है। अपने अहङ्कार को छोड़ देने का नाम नमस्कार है। हृदय में बैठे हुये परमात्मा श्रीकृष्ण को नमन-प्रणाम-नमस्कार-दण्डवत् किया जाता है—**'प्राज्ञः परस्मै पुरुषाय चेतसा गुहाशयायैव न देहमानिने'** (भा०४/३/२२)। देहाभिमानी जीव को नमन नहीं किया जाता है। ध्यान का अर्थ है—हमेशा तत्त्व का चिन्तन। **ध्यै चिन्तायां धातुः। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य भावस्त्वतलौ** (पा०सू०५/१/११९)। समस्त जड़-चेतन-क्षर-अक्षर से उत्तम, जिसकी महिमा-ऐश्वर्य दूसरों की अपेक्षा नहीं करती वह अर्थात् त्रिलोकी के पदार्थों में जिसकी स्पृहा नहीं है अर्थात् आप्त समस्त सर्वतः परिपूर्ण काम भगवान् श्रीकृष्ण।

भगवान् श्रीकृष्ण ही स्वयंरूप हैं। उसके वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धरूप व्यूह चार करण हैं। समूह का ही दूसरा पर्यायवाची शब्द व्यूह है। व्यूहः=व्यूह्यते इति घञ्।

समूहो निवह-व्यूह-सन्दोह-विसर-व्रजाः इत्यमरः। इसलिये सबों के चित्त, बुद्धि, मन और अहङ्कार के अधिष्ठातापन व्यूह को श्रीमद्भागवतादि शास्त्र में सुना जाता है। जो हमारे चित्त आदि के अधिदेवता हैं, वही श्रीभगवान् के चित्त आदि हैं। जैसे दर्पण में बिम्ब के अङ्ग प्रतिबिम्ब में जैसा स्थान है, वैसा ही प्रतीत होता है, ठीक उसी तरह ही श्रीभगवान् के चित्तादि में स्थित वासुदेवादि अङ्ग जो विश्व में यथास्थान पर ही चित्त आदि के

अधिष्ठाता रूप से सात्वत—नारद पाञ्चरात्र आदि के अधिष्ठातारूप से सात्वत-नारद पाञ्चरात्र आदि शास्त्र में सुना जाता है। श्रीभगवान् के अङ्ग में चन्द्र-रुद्रादि रूपान्तर श्री भगवान् के अंश हैं। उसमें कुछ विरोध नहीं है। अब ऐसा विचार करें—सब भूतों में से जिन-जिनमें प्राण है, वे श्रेष्ठ हैं। उनसे मनुष्य श्रेष्ठ है, मनुष्यों से देवता हैं। सभी देवताओं में ब्रह्माजी श्रेष्ठ हैं। ब्रह्माजी से महादेवजी श्रेष्ठ हैं। महादेवजी से भगवान् श्रीविष्णु श्रेष्ठ हैं, उससे श्रेष्ठ शेषशायी भगवान्, उससे श्रेष्ठ विराट् विभु, उससे श्रेष्ठ महाविष्णु महाविराट् को जानना चाहिये। भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण स्वयं जगत्सृष्ट्यादि करने के लिये एवं साधकगण की उपासना के लिये व्यूहरूप में विराजित हुए हैं। जो पीछे हम लिख चुके हैं।

१. जगदातीत सर्वाश्रय सर्वाधार षड्गुणाश्रय भगवान् श्रीपुरुषोत्तम ही **वासुदेव** हैं।

२. विश्वव्यापी सूक्ष्मतम प्रकृति और उसके अङ्गीभूत स्थूल-सूक्ष्म समस्त जगत् के नियन्ता, महत्तत्त्व के स्रष्टा एवं प्रकृति के नियन्ता पुरुष को **सङ्कर्षण** कहते हैं, ये ही अनन्त ब्रह्माण्ड समष्टि के अन्तर्यामी पुरुष हैं। ये ही करुणार्णवशायी पुरुष हैं।

३. विश्वव्यापी स्थूल-सूक्ष्म देहविशिष्ट महत्तत्त्वाधिष्ठित पुरुष को **प्रद्युम्न** कहते हैं। ये ही ब्रह्माण्ड के स्थूल-सूक्ष्म चराचर सकल पदार्थ के समष्टि अन्तर्यामी पुरुष हैं। ये ही हिरण्यगर्भ के (ब्रह्मा के) अन्तर्यामी हैं और ये ही गर्भोदकशायी नारायण हैं।

४. क्षितितत्त्व से अहंतत्त्व-पर्यन्त जिनका शरीर है, वे ही सर्वभूतस्थ विश्वव्यापी अहंतत्त्वाधिष्ठित पुरुष **'अनिरुद्ध'** कहलाते हैं। ये ही समस्त व्यष्टि जीव के हृदय में स्थित अन्तर्यामी हैं। ये क्षीरोदशायी नारायण हैं।

जिस प्रकार राजा नाना प्रकार के दुर्लघ्य रूप में सैन्यस्थापनरूप व्यूह-रचनापूर्वक सभी के अलक्ष्मीभूत रहकर हमेशा अपनी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान् यही चार प्रकार से व्यूह की रचना करके निर्गुण स्वरूप में सबके अलक्ष्यीभूत भाव में स्थित हैं। निर्गुण का अर्थ है—माया के गुण और दोषों से सर्वथा रहित परमात्मा, वहीं ब्रह्म है।

यस्यैकनिःश्वसितकालमथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।
(ब्रह्मसंहिता)

जिस महाविराट् महाविष्णु के एकनिःश्वासकाल का अवलम्बन कर असंख्य ब्रह्माण्डों के स्वामिवृन्द जीवित रहते हैं, वह महाविष्णु भी भगवान् श्रीकृष्ण के कलाविशेष हैं; मैं ऐसे उस आदिपुरुष भगवान् श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ।

उपर्युक्त वचनों से यह सुस्पष्ट प्रमाणित हो गया कि भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वाधार, सर्वाश्रय, सर्वनियन्ता, सर्वरूप, सर्वसाक्षी हैं और सबकी परम गति है।

तस्माच्छ्रेष्ठः प्रधानेशः पुरुषाख्यो गुणात्मकः तत्परो ब्रह्म विज्ञेयो वासुदेवः परात्परः परमात्मा परं ज्योतिर्निरीहो निर्गुणो विभुः तदधिष्ठाता कृतिमान् स्वेच्छाचारी समस्तवित् भावनीयश्च। सर्वेषां गुणागुणविवर्जितः कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नित्यं नित्यगुणाश्रयः सर्वैश्वर्ययुतः साक्षात् सर्वमाधुर्यवान् स्वयमिति। तत्त्वसागरोक्तेश्च सिद्धान्तरीत्याऽपि सर्वस्वरूपश्रेष्ठत्वेन स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्यान्तरङ्गत्वाच्चतुर्णामपि नियम्यत्वं सुव्यक्तम्। अतः श्रीकृष्णस्तेषामधिष्ठाता तैः सेव्यः ब्रह्मादयस्तु वासुदेवादिद्वारा नियम्याः तदंशत्वात् भूतादीनां च ब्रह्मादिद्वारा नियम्यत्वमिति। अतश्च व्यूहाङ्गित्वेन सर्वप्रधानोऽशेषकल्याणगुणैकराशिश्रीकृष्ण एव स्वयं भगवान् अवतारीति सिद्धम्। अवतारो नाम निजसङ्कल्पपूर्वक भक्तजनाधीनव्यक्तिकृतविग्रहः। अवताराः त्रिधाः—लीलावताराः पुरुषावतारागुणावताराश्च। तत्र लीलावताराः चतुःसननारदवाराहमत्स्ययज्ञनरनारायणकपिलदत्तहयग्रीवहंसपृष्णिगर्भऋषभदेवपृथुनृसिंहकूर्मधन्वन्तरिमोहिनीवामनपरशुरामरघुनाथव्यासबलभद्रकृष्णबुद्धकल्कीत्यादयः। लीलावतारा अपि चतुर्विधा—आवेशावताराः प्रभावावताराः विभावावताराः स्वरूपावताराश्चेति। तत्रावेशावतारा द्विविधाः स्वांशावेशावतारा शक्त्यावेशावताराश्चेति। तत्रांशावताराः कपिलपरशुरामादयः। शक्त्यावेशावतारास्तु यत्र एकैकशक्तिसंञ्चारमात्रं ते च चतुः सन नारदपृथुप्रभृतयः। अधिकशक्तिसञ्चारे च प्रभावावतारत्वमेव चतुः सनादीनां प्रभावावतारश्च। यत्राधिकशक्तिसञ्चारः ते च हंसऋषभ-

धन्वन्तरिमोहिनीव्यासादयः। ततोऽप्यधिकसञ्चारः ते च हंसऋषभधन्वन्तरि-मोहिनीव्यासादयः। ततोऽप्यधिकसञ्चारो येषु ते विभावावतारा: यथा मत्स्यकूर्मनरनारायणवराहहयग्रीवपृश्निगर्भबलभद्रयज्ञादयः। सर्वतोऽप्या-धिकयाः स्वरूपावताराः ते तु नृसिंहो रामः कृष्णश्चेति। यद्वा स्वरूपावतारो नाम सर्वस्वरूपश्रेष्ठः सर्वमाधुर्यवान् स्वयमेव श्रीभगवान् अखिलेश्वरः इतरसजातीयतया स्वरूपं प्रकटयन् विराजमान इति। 'गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्' (भा०७/१५/७५) इत्यादिप्रमाणात् श्रीकृष्ण एव तु स्वयं भगवांस्तस्मादधिकः समश्च कोऽपि नास्तीत्युक्तमधस्तात्। वैकुण्ठनाथस्तु श्रीकृष्णस्य विलासः तुल्यशक्तिधारित्वात्। अथ पुरुषावताराः ते त्रयः प्रथमपुरुषो महत्स्रष्टा कारणार्णवशायी प्रकृत्यन्तर्यामी प्रद्युम्नांशोऽपि महाविराडन्तर्यामित्वेन सङ्कर्षणांशस्तस्यानन्तत्वात् द्वितीयः पुरुषो गर्भोदशायी अनिरुद्धांशोऽपि समष्टिविराडन्तर्यामित्वेन प्रद्युम्नांशः कामः तस्यैव तद्गर्भधारणमसामर्थ्यात् अतएव प्रधानेश इत्युच्यते। तृतीयः पुरुषः क्षीरोदशायी व्यष्टिविराडन्तर्यामी अनिरुद्धांशः समष्टिदेहान्तरात्मा। अथ व्यष्ट्यन्तर्यामी तु वासुदेवांशः पुरुषाह्वयश्च तुर्यः। अथ गुणावताराः गुणेषु सत्त्वादिषु अवताराः गुणावताराः। सत्त्वगुणे विष्णुः पालनकर्ता स वासुदेव एव स च लक्ष्मीद्वारा पालयति। तथोक्तं श्रीशुकेन—श्रीः स्वाः प्रजाः सकरुणेन निरीक्षणेन यत्र स्थितैधयत साधिपतींस्त्रिलोकान् (श्रीमद्भा०८/८/२५)।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—महाविष्णु से श्रेष्ठ प्रधान के ईश पुरुष नाम जिसके गुणात्मक, उससे परे ब्रह्म को जानना चाहिये। वासुदेव परात्पर, परमात्मा, परंज्योति, चेष्टारहित, निर्गुण विभु=व्यापक हैं। उसके अधिष्ठाता कृतिमान अपनी ही इच्छा से आचरण करने वाला और सबको जानने वाला सत्सेवनीय है। आगे कहते हैं—सब गुण-अगुण से विवर्जित कृष्ण नाम है जिसके, परब्रह्म नित्य-नित्य गुणों के आश्रय, समस्त ऐश्वर्यों से युक्त, साक्षात् सर्वमाधुर्यवान् स्वयं भगवान् कृष्ण हैं।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।।

'कृष्' शब्द का अर्थ सत्ता, कर्षण-आकर्षण है और णकार का निर्वृति-निरतिशय आनन्द अर्थ है—मोक्षानन्द है; इन दोनों के मिलन से परब्रह्म 'कृष्ण' कहलाता है।

कृष् शब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः।
सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमयस्ततः।।

कृष् शब्द का अर्थ सत्ता और णकार का अर्थ आनन्दस्वरूप है। आत्मा सुखस्वरूप है, इसलिये कृष्ण शब्द का अर्थ आनन्दमय परमात्मा है। जैसे भगवान् भाष्यकार श्रीनिम्बार्काचार्य ने कहा है—

आनन्दमयः परमात्मा एव न तु जीवः।

वस्तुतः भजन करने वाले अनन्य परम भक्तों के पापों को हरने वाले कृष्ण वर्णतः अर्थतः स्वरूपतः मन्त्रमय विग्रह हैं। आनन्द से विभोर होकर एक गोपी अपनी सखी से कहती है कि ऐ सखि! सुन, मैंने श्रीनन्द के आँगन में एक विचित्र कौतुक देखा है। सखी पूछती है कि वह क्या? श्रीभगवान् के दर्शन का परमानन्द से आह्लादित हुई गोपी उत्तर देती है कि—सकलवेदान्तप्रतिपाद्य परब्रह्म वहाँ गोधूलि से सना हुआ, नृत्य कर रहा है—

श्रृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गने मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः।।१।।

इसी प्रकार एक अन्य प्रेममग्न भक्त के हृदयोद्गार हैं। वह कहता है—

वृन्दारण्यनिविष्टं विलुठितमाभीरधीरनारीभिः।
सत्यसच्चिदानन्दघनं ब्रह्म नराकारमालम्बे।।२।।

मैं श्रीधाम वृन्दावन में प्रविष्ट परम बुद्धिमती आभीर व्रजसुन्दरियों के सङ्ग में लुण्ठित नराकार सत्यस्वरूप सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म का अवलम्बन लेता हूँ अर्थात् उसका आश्रय ग्रहण करता हूँ। यशोदा मैय्या कहती है—

धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र! मज्जनभावह।

तत्त्वसागर के सिद्धान्त की रीति से भी सर्वस्वरूपश्रेष्ठता द्वारा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के ये चार व्यूह अन्तरङ्ग हैं और नियम्य हैं, ऐसी सुष्ठु उक्ति है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण उनके सेव्य और अधिष्ठाता हैं। ब्रह्मादि देवगण तो वासुदेवादि द्वारा नियम्य हैं; चूँकि उनके अंश हैं। भूतादि ब्रह्मादि द्वारा

नियम्य हैं। अत: व्यूह जिसके अङ्ग हैं, वह सर्वप्रधान अशेष कल्याणगुणों की राशि श्रीकृष्ण हैं और भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अवतारी परम पुरुष हैं, यह सिद्ध हुआ। अवतार नाम निज सङ्कल्पपूर्वक भक्तजनों के अधीन श्रीविग्रह प्रकट करना । सत्त्वमूर्ति श्रीभगवान् का मूलत: चौबीस संख्या अवतार माना गया है। अवतार शब्द का अर्थ है—अवतरणम् अवतार:, अव तृ घञ्। अर्थात् परब्रह्म का उतरना। व्यापी गोलोक से अथवा वैकुण्ठ से भगवान् श्रीहरि का जगत्प्रपञ्च में प्रकट हो जाना, यह अवतार शब्द का अर्थ है। अथवा यों समझना चाहिये—जो अपनी इच्छा से अथवा भक्तों की इच्छा से धर्म की स्थापना और अधर्म की निवृत्ति एवं निज भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए वराहादि अनेक प्रकार के स्वरूपों में समय-समय पर श्रीभगवान् प्रकट होते हैं, वे अवतार कहलाते हैं। श्रीभगवद् अवतारों की विशेष जानकारी के लिए जिज्ञासु 'श्रीमद्भागवते निम्बार्कवेदान्तसमन्वय: हिन्दीभाषानुवादसहित:'[१] का अध्ययन करें।

उसमें अवतार तीन प्रकार के होते हैं—१.लीला अवतार, २.पुरुषावतार एवं ३.गुणावतार। उसमें लीलावतार ये हैं—भगवान् सनकादि चतुस्सन=सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार, देवर्षि नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, दत्त, हयग्रीव, हंस, पृश्निगर्भ, ऋषभदेव, पृथु, नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, रघुनाथ, व्यास, बलभद्र, कृष्ण, बौद्ध, कल्कि इत्यादि। लीला अवतार भी चार प्रकार के होते हैं—१.आवेशावतार, २.प्रभावावतार, ३.विभावावतार, ४.स्वरूपावतार।

उसमें आवेश अवतार दो प्रकार के होते हैं—अपने अंश के अवतार एवं शक्ति के आवेश अवतार। उसमें अंशावतार कपिलदेव, परशुराम आदि हैं। शक्ति आवेश अवतारों में, जिनमें एक-एक शक्ति का सञ्चार मात्र हैं; वे हैं—सनकादि, नारद, पृथु-प्रभृति। अधिक शक्तिसञ्चार में प्रभाव अवतार में ही गिन लेना चाहिये। अर्थात् जिस अवतार में अधिक शक्ति का सञ्चार है, उसे प्रभावावतार जानना चाहिये। जैसे सनकादि चतुस्सन प्रभावावतार में हैं और जिनमें विशेष अधिक शक्तिसञ्चार है, वे प्रभावातार हैं; जैसे—श्रीहंस भगवान्, भगवान् ऋषभदेव, धन्वन्तरि, मोहिनी और व्यासादि। उससे भी

१. प्रकाशक—कोलकाता सुखचर काठियाबाबा आश्रम, कोलकाता।

अधिक सञ्चार जिनमें है, वे विभवावतार हैं। जैसे—मत्स्य, कूर्म, नर-नारायण, वराह, हयग्रीव, पृश्निगर्भ, बलभद्र यज्ञादि।

सबसे अधिक स्वरूप-अवतार हैं। श्रीनृसिंह, श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र अथवा स्वरूपावतार नाम समस्त स्वरूप से श्रेष्ठ समस्त माधुर्यवान स्वयं ही भगवान् सबके ईश्वर इतर सजातीय रूप से स्वरूप का प्रकट करता हुआ विराजमान है। गूढ परब्रह्म मनुष्य लिङ्ग इत्यादि श्रीमद्भागवत के वचन ही प्रमाण हैं। श्रीकृष्ण ही तो स्वयं भगवान्, उससे अधिक और समान कोई भी नहीं है—हम इस बात को पीछे कह चुके हैं। वैकुण्ठनाथ तो भगवान् श्रीकृष्ण के विलास हैं। उनके तुल्य शक्ति धारण करते हैं। अब इस समय पुरुषावतार का वर्णन करते हैं। वे तीन हैं। प्रथम पुरुष महत्स्रष्टा कारणार्णव में शयन करते हैं। प्रकृति के अन्तर्यामी प्रद्युम्न के अंश भी महाविराड् के अन्तर्यामीपन से सङ्कर्षण के अंश हैं, उसके अनन्त हैं। द्वितीय पुरुष गर्भोदशायी अनिरुद्ध के अंश भी हैं। पर समष्टि विराट् के अन्तर्यामी रूप से प्रद्युम्न के अंश हैं, काम। उस समष्टि विराट् के ही वह गर्भधारण के सामर्थ्य नहीं हैं; इसलिये प्रधान का ईश=स्वामी है—ऐसा कहते हैं। तृतीय पुरुष क्षीरसागर में शयन करने वाले व्यष्टि विराट् के अन्तर्यामी अनिरुद्ध के अंश हैं। समष्टि देह के अन्तरात्मा और व्यष्टि के अन्तर्यामी तो वासुदेव के अंश पुरुष नाम के चतुर्थ हैं। अब गुणों के अवतारों को बताते हैं—सत्त्व, रजः और तमः गुणों में सत्त्वादि गुणों के विषय अवतार गुणावतार कहे जाते हैं। उसमें सत्त्व गुण के विषय पालनहार=सबका पालन करने वाले भगवान् श्रीविष्णु हैं, वही श्रीवासुदेव हैं और वह श्रीरूपिणी लक्ष्मी राधा के द्वारा सकल प्राणियों का पालन करते हैं।

वैसे ही श्रीमद्भागवत में श्रीशुकदेवजी ने कहा है—भगवान् कृष्ण के वक्षःस्थल पर अथवा वामाङ्ग में विराजमान होकर श्रीदेवी अपनी करुणाभरी चितवन से तीनों लोकों को, अधिपतियों को और अपनी प्यारी प्रजाओं को लालन-पालन द्वारा बढ़ा रही हैं।

राधा देवी जगत्कर्त्री जगत्पालनतत्परा।
जगल्लयविधात्री च सर्वेशी सर्वसूतिका।।

(श्रीबृहन्नारदीयपुराणे पूर्वभागे, बृहदुपाख्याने, तृतीयपादे)

देव की शक्ति देवी राधा जगत् का पालन करने में हमेशा तत्पर रहती

हैं; जो सबकी स्वामिनी (मालकिन) हैं और सबको जन्म देने वाली जननी (माँ) हैं। राधयति=साधयति सर्वं कार्यं भक्तानामिति राधा। जो अपने भक्तों के सम्पूर्ण कार्यों में सफलता प्राप्त करवा देती हैं, सुधीजन उन्हें राधा कहते हैं। यदा अपगता राधा यस्मात् तदा भवति अपराधः। राधा का उल्टा शब्दरूप—धारा। जैसे—नर्मदा की धारा, गङ्गा की धारा। अर्थात् नर्मदा आदि स्वर्नदी के रूप में राधा ही धारा बनकर प्रवाहित हो रही है। धारा का उल्टा राधा है।

रजोगुणे ब्रह्मा सृष्टिकर्ता गर्भोदशायी नाभिपद्मोद्भवः प्रद्युम्नांश एव। स्वयमेवेन्द्रो यज्ञ इतिवत्स्वयमेव ब्रह्मापि कस्मिंश्चित्कल्पे भवतीति तत्त्वम्। यदि तु क्वचित् कल्पे तादृशपुण्यकारी जीव एव ब्रह्मा तर्हि भगवत्प्रद्युम्नस्य सृष्टिशक्तिप्रवेशेनावेशावतार एव ब्रह्मा, तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः 'सृज्यं स्रजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदित' इत्यादिप्रमाणात्। किञ्च सत्यलोकान्तःसमष्टिविराट्स्थानो ब्रह्मण एव विग्रहः, प्राकृतः स ब्रह्मा इत्युच्यते, अयं जीवः सूक्ष्मो हिरण्यगर्भोऽयमपि ब्रह्मा अस्यान्तर्यामी त्वीश्वर एव तमोगुणे रुद्रः संहारकर्त्ता स सङ्कर्षणांश एव भ्रूजन्मा सर्वसंहर्त्ता रुद्रः सङ्कर्षणांशक इति प्रमाणात्। किञ्चायं सदाशिवो निर्गुणश्चेत् तदा सगुणशिवस्यांशी; अतएवास्य विष्णुना साम्यमाधिक्यं च विरचितः। अथ श्रीब्रह्मरुद्रमूर्त्तीनां भक्तिप्रवर्त्तकत्वादाचार्यत्वमपि बोद्धव्यम्। किञ्च 'सनकश्रीब्रह्मरुद्राः वैष्णवाः क्षितिपावनाः' इत्यादि पाद्मे। 'याः प्रोक्ता वेदतन्त्राभ्यामाचार्यैः पद्मजादिभिः' श्रीमद्भागवते (१२/११/४)। चत्वारः सम्प्रदायप्रवर्तकाचार्या उक्ताः। अथ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्योपनिषद ३/१४/१) इत्यादिवाक्यैः सर्वव्यापकं ब्रह्मेति स्थितम्। तच्च द्विविधम् अन्तर्यामी बहिर्यामीभेदात्। अन्तर्यामित्वं नाम अन्तःस्थित्वा प्रेरकत्वं 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादि श्रुतेः।

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इत्यादिस्मृतेश्च (श्रीमद्भगवद्गीता १८/६१)। **अयं चान्तर्यामीश्वर उपासकानामपरोक्षोऽपि भवति; यथोक्तं श्रीमद्भागवते** (३/१४/४९)—

अन्तर्बहिश्चामलमब्जनेत्रं स्वपुरुषेच्छानुगृहीतरूपम्।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम्।।

ज्ञानिनां तु तावन्मात्ररूपेण प्रतिभासते अतिभावनया विधुरस्य मृतभार्याया अपरोक्षवत् परोक्षस्वभावस्यापि ब्रह्मण अपरोक्षं भवति। स चान्तर्यामी द्विविधः—चेतनान्तर्यामी अचेतनान्तर्यामी चेति। तत्र चेतनान्तर्यामी उक्तः, चेतनान्तर्यामी उक्तः, अचेतनान्तर्यामी च 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (बृ०उ०३/७/३) इत्यादिश्रुत्यानुसन्धेयः। बहिर्यामीत्वं तु बहिः स्थित्वा नियामकत्वं, तच्च श्रीगुरुचरणारविन्दे प्रसिद्धमेव। यथोक्तमुद्धवेन—योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभंविधुन्वन् नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति। (श्रीमद्भा०११/२९/६)

अथ मन्वन्तरावताराः। ऋषभधर्मसेतुविष्वसेनाजितवामनवैकुण्ठहरिसत्यसेनयज्ञविभुबृहद्भासमुदाययोगेश्वराः। अथ युगावताराः शुक्लरक्तपीतकृष्णाः। अर्चावतारो द्विविधः, आराधितस्वयं व्यक्तिभेदात् भक्तजनैः पूज्यत्वेन आराध्य मन्दिरादौ स्थापितो यः स आराधितार्चावतार इत्युच्यते।

गोपालप्रतिमां कुर्याद् वेणुवादनतत्पराम्।
बर्हापीड़ा घनश्यामां द्विभुजामूर्द्धसंस्थिताम्।।

इत्यादिप्रमाणात्।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—रजोगुण के ब्रह्मा सृष्टिकर्ता गर्भोदशायी की नाभिकमल से उत्पन्न प्रद्युम्न के अंश हैं। जैसे कभी स्वयं यज्ञभगवान् ही इन्द्र होते हैं, वैसे कोई कल्प में स्वयं ही ब्रह्मा भी होते हैं। यह तत्त्व है। यदि और कोई कल्प में ऐसे पुण्यकारी कोई जीव ही ब्रह्मा हो तब भगवान् प्रद्युम्न की सृष्टि करने की शक्तिप्रवेश से आवेशावतार ही ब्रह्मा है। जो द्रष्टा है, ईश है, कूटस्थ है और सबकी आत्मा है, मैं रचे हुए को रचता हूँ, जिसकी चितवन से व प्रेरणा से सृष्टि करता हूँ, इत्यादि प्रमाणों से सत्यलोक के भीतर समष्टि विराट् स्थान ब्रह्मा का ही विग्रह है, वह प्राकृत ब्रह्मा ऐसा बोला जाता है। जिसके यह जीव सूक्ष्म है, हिरण्यगर्भ है, यह भी ब्रह्मा है; उसके अन्तर्यामी ईश्वर हैं। तमोगुण में रुद्र संहार करने वाले हैं, रुद्र भगवान् सङ्कर्षण के ही अंश हैं। भृकुटी से जन्म सबके संहारकर्ता संकर्षण के अंश—यह प्रमाण है। यह सदाशिव निर्गुण हैं तब सगुण शिव के अंशी हैं। अतएव इनकी विष्णु के साथ समानता है। केवल जगत् का पालन, सर्जन व संहार के लिये—**स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति सञ्ज्ञाः**। एक-दूसरे से परस्पर अधिकता है। इसके आगे ग्रन्थकार कहते हैं—श्री, ब्रह्म रुद्र ये मूर्तियाँ भक्ति के प्रवर्तक हैं। इन मूर्तियों को आचार्य भी

जानना चाहिये। भगवान् सनक, भगवती श्री, भगवान् ब्रह्मा, भगवान रुद्र ये वैष्णव पृथिवी को पवित्र कर रहे हैं—ऐसा पद्मपुराण में कहा गया है। श्रीमद्भागवत में (१२/११/४) ब्रह्मादि आचार्यों का नामोल्लेख है—ब्रह्मादि आचार्यों ने वेद और तन्त्रों द्वारा जो वर्णन किया है। इन चारों को सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्य बताया गया है। इस समय ग्रन्थकार 'सर्वं खल्विदंब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्यों का अर्थ बताते हैं—सर्वव्यापक ब्रह्म सर्वत्र विराजमान हैं। सभी जगह में स्थित हैं। वह दो प्रकार के हैं—अन्तर्यामी और बहिर्यामीभेद से। अन्तर्यामीत्व नाम जो भीतर में स्थित होकर अन्दर से प्रेरणा करता है, इस बात को माध्यन्दिन शाखा स्पष्टतः प्रतिपादित करती है—य आत्मनि तिष्ठन्=जो आत्मा में स्थित है अर्थात् जीवात्मा में परमात्मा का वास है। श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्र इसी तत्त्व को कहता है— हे अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदयदेश में स्थित है। यह अन्तर्यामी ईश्वर उपास्यदेव=आराध्यदेव अपने उपासकों को साक्षात् मूर्तिमान होकर दर्शन देते हैं। श्रीभगवान् के अनन्य परम भक्त प्रह्लाद बाहर-भीतर सर्वत्र भगवान् श्रीहरि का ही दर्शन करते थे। कश्यप जी दिति से कहते हैं—तुम्हारा पौत्र श्रीहरि का बहुत बड़ा भक्त होगा, जिसकी कृपा से=जिसके सामर्थ्य से तुम्हारे वंश का उद्धार हो जायेगा। जो इस संसार के बाहर-भीतर सब ओर विराजमान है, अपने भक्तों की इच्छानुसार समय-समय पर सच्चिदानन्द दिव्य मङ्गलविग्रह धारण करते हैं और लक्ष्मीरूप लावण्यमूर्ति ललना की शोभा बढ़ाने वाले हैं तथा जिनका मुखमण्डल झिलमिलाते हुए कुण्डलों से सुशोभित है, उस परब्रह्म परमधाम परम पवित्र कमलनयन श्रीहरि का तुम्हारे पौत्र प्रह्लाद को प्रत्यक्ष दर्शन होगा। ज्ञानियों को तावन्मात्र रूप से भासते हैं, जैसे किसी की अतिप्यारी स्त्री मर गई। उसके वियोग-विरह में अति उत्कट भावना जो बँध जाय, उसको जैसे सर्वत्र स्त्री की स्फुरणा होती है, वैसे ही परोक्ष स्वभाव ब्रह्म, अपरोक्ष होता है। वे अन्तर्यामी दो प्रकार के हैं—चेतन अन्तर्यामी और अचेतन अन्तर्यामी। उसमें चेतन अन्तर्यामी हम कह चुके हैं। अब अचेतन अन्तर्यामी को बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय में सातवें ब्रह्मण का तीसरा मन्त्र कहता है—**'यः पृथिव्यां तिष्ठन्'**।

जो पृथिवी में स्थित है, वह अन्तर्यामी है। बाहर का अन्तर्यामीत्व तो बाहर स्थित होकर नियामकत्व शिक्षा देने वाले श्रीसद्गुरुदेव के चरणकमल ही प्रसिद्ध हैं। जैसे श्रीमद्भागवत में उद्धवजी ने बताया है—हे भगवन्! आप

समस्त शरीरधारी प्राणियों के तत्तद् हृदयों में अन्तर्यामी रूप से और बाहर सद्गुरु के रूप से स्थित होकर उनके सारे पाप-तापों को समूल मिटा देते हैं और अपने वास्तविक स्वरूप को उनके प्रति प्रकट कर देते हैं। द्वारकाधाम-निवासीजन कहते हैं—**त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम** (भा० १/११/७)। हे भगवन्! आप ही हमारे सद्गुरु और परम आराध्यदेव हैं। आपके श्रीचरणकमलों की सेवा से हम कृतार्थ हो रहे हैं।

अब मन्वन्तर अवतारों का वर्णन करते हैं—ऋषभ, धर्म, सेतु, विष्वक्सेन, अजित, वामन, वैकुण्ठ, सत्यसेन, यज्ञ, विभु, बृहद्भानु—ये सब योगेश्वर हैं। तदनन्तर युगावतारों का वर्णन करते हैं—शुक्ल, रक्त, पीत कृष्ण और अर्चावतार दो प्रकार के हैं—एक आराधित, दूसरे स्वयं प्रकट। भक्तजनों की सेवा-पूजा के लिये आराधना करके मन्दिरादि में स्थापित जो श्रीविग्रह उनको आराधित अर्चावतार कहते हैं। बाँसुरी बजाने में तत्पर ऐसी गोपालजी की प्रतिमा, मोर-पंख का मुकुट, घनश्याम दो भुजा एवं ऊँचे सिंहासन पर विराजमान।

वंशीधरं सकललोकभवादिहेतुं श्रीशं नमामि शरणं भजतां शरण्यम्।
ब्रह्मादिवन्द्यचरणं द्विभुजं महान्तं पीताम्बरं प्रियममोघवरं व्रजेशम्।।[1]

अर्थः—जिसके श्रीचरणकमलयुगल ब्रह्मादि देवगणों द्वारा वन्दनीय हैं, जो समस्त लोकों के जन्मादि के कारण हैं, उन भजन करने वालों को शरण देने वाले, महान् अमोघवर देने वाले व्रजवासियों के प्रिय, भक्तप्रिय, द्विभुज, मुरलीधारी, पीताम्बरधारी श्रीपति भगवान् कृष्ण को मैं नमन करता हूँ।

आराधकभक्तजनाधीनाखिलात्मसंस्थितिरेवार्चावतारस्वरूपः शैलादिभेदेन यागाधिष्ठानमष्टधाः तथा श्रीमद्भागवते (११/२७/१२-१३)—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता।।
चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम्।
किञ्चाचलायां न कृष्णस्य ह्यावाहनविसर्जने।
प्रत्ययतारतम्येन चलायां स्यान्न वा भवेत्।।
लेप्यासैकतयोर्द्वयं शालिग्रामे न सर्वथा।
शैली–काष्ठमयी–लौही–हार्दी–मणिमयीषु हि।।

१. **द्रष्टव्य**—श्रीमद्भागवते निम्बार्कवेदान्तसमन्वयः हिन्दीभाषानुवादसहितः।

स्नानभूषादिकं देयं सर्वथा हरिवल्लभम्।
लेप्यालेख्यासिकतासु तत्तु देयं यथार्हतः।।
सुलेप्यलेख्ययोः कार्यं परिमार्जनमेव हि।
सैकतायां तु सर्वं तद्विना स्नानसमर्हणम्।।

अथ स्वयं व्यक्तः शालिग्रामः स्वयं व्यक्तिरनादिसिद्ध एव तु शालग्रामेऽपि भगवान् आविर्भूतो यथा हरिः। न तथा सूर्यादौ वैकुण्ठेषु च सर्वशः शिलात्वामलकीतुल्या सूक्ष्मा चातीव या भवेत् तस्यामेव सदा ब्रह्मन्! श्रिया सह वसाम्यहं शालिग्रामोद्भवो देवो द्वारावती भव उभयोः सङ्गमो यत्र तत्र सन्निहितो हरिः।

न तथा रमते लक्ष्म्या न तथा स्वपुरे हरिः।
शालिग्रामे शिलाचक्रे यथा रमते हरिः।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—अर्चावतार का ही स्वभाव है कि आराधन करने वाले भक्तजनों के अधीन निखिल आत्माओं की संस्थिति रखे हैं। पत्थर आदि भेद से यज्ञाधिष्ठान भगवान् श्रीहरि की मूर्ति आठ प्रकार की होती है। वे मूर्तियाँ कैसे बनायी जाय, श्रीभगवान् ने उसके लक्षण बताये हैं। हे उद्धव! मेरी प्रतिमाएँ आठ प्रकार की होती हैं, उनकी पूजा-अर्चना-सेवा से श्रीभगवान् में भक्ति और आवश्यक सकल वस्तुओं की प्राप्ति होती है। १.गण्डकी नदी से प्राप्त शालग्राम शिला शैली प्रतिमा, २.देवदार, मन्दार अथवा ब्रह्मकाष्ठ (पीपल) आदि लकड़ी की प्रतिमा ३.लौही=सुवर्ण आदि धातुओं की मूर्तियाँ, ४.उसी प्रकार मिट्टी, कपड़ा आदि की जो लेप्य मूर्ति तैयार करते हैं, उन्हें लेप्या प्रतिमा कहते हैं। ५.लेख्या=कुछ भक्तजन अत्यन्त भक्ति से स्थण्डिल पर प्रतिमा का चित्र बनाते हैं, उन्हें लेख्या प्रतिमा कहते हैं, ६.सैकती=बालू की मूर्ति वनाते हैं, उसे सैकती प्रतिमा कहते हैं। वह भी सुवर्ण की मूर्ति की तरह वन्दनीय व पूज्यनीय है। ७.रत्नों की अतिसुन्दर प्रतिमा, श्रीहरि की मूर्ति, मरकत की मूर्ति, नीलमणि की, पद्मराग की अथवा मोती की मूर्ति भी पूज्य है। जैसे चमकती हुई सुवर्णमणियाँ महामरकत अत्यन्त पवित्र हैं। इन्हें मणिमयी प्रतिमा कहते हैं और ८.मनोमयी=जो प्रतिमा सारी मूर्तियों में श्रेष्ठ है, वह है—मनोमयी मूर्ति।

अब उन प्रतिमाओं की सेवा-पूजा विधान तथा चल और अचल लक्षण

आदि का निरूपण भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट करके बताते हैं— अचेतन को चेतनता देने वाला, जड को जीवत्व देने वाला; जीवत्व का अर्थ है— चिन्मात्रत्व; उसे ही भगवान् जानना चाहिये। विशुद्ध भक्तिभाव से निर्मित जीवमन्दिर अर्थात् **जीवयतीति जीवः**=जो सबको जीवित करता है, ये चल-अचलभेद से दो प्रकार की प्रतिमा ही श्रीभगवान् का निज मन्दिर है।

चल प्रतिमा जो सर्वत्र गमन करे, जैसे शालिग्राम-शिला व वस्त्राङ्कित प्रतिमा। जो भगवान् श्रीहरि के अनन्य परम भक्त होते हैं, वे सदा अपने साथ में लेकर ही विचरण करते हैं। अचल प्रतिमा जो मन्दिर=देवालय में ही हमेशा स्थिर रहती है, जिनकी शास्त्र-विधि-विधान से प्राणप्रतिष्ठा की जाती है; उन्हें कभी स्थानान्तर नहीं किया जाता, प्रतिष्ठित स्थापित मूर्ति कहलाती है। अचला प्रतिमा में भगवान् श्रीकृष्ण का आवाहन=बुलाना और विसर्जन=विदा नहीं करना पड़ता है, प्रत्यय=विश्वास के तारतम्य से चला में आवाहन तथा विसर्जन हो अथवा न हो। मिट्टी और बालू की प्रतिमा में आवाहन और विसर्जन दोनों होते हैं, शालिग्राम शिला में सर्वथा नहीं होते। पाषाण वाली मूर्ति, काष्ठ वाली मूर्ति, सुवर्ण वाली मूर्ति, मनोमयी मूर्ति और मणिमयी मूर्तियों में श्रीहरि के प्यारे स्नान व आभूषणादि सर्वथा देना चाहिये और लेप्या प्रतिमा, लेख्या प्रतिमा और सिकता प्रतिमाओं में तो यथायोग्य पूजन करना चाहिये। लेप्य और लेख्य में परिमार्जन ही करना चाहिये; स्नान नहीं। शुद्ध आर्द्र वस्त्र से परिमार्जन करना चाहिये। सैकता=बालू की प्रतिमा में तो बगैर स्नान के वह सब पूजन हो सकता है।

अब इस समय ग्रन्थकार शालिग्राम शिला के अर्चन-पूजन-सेवन का माहात्म्य बताते हैं—शालिग्राम भगवान् स्वयं साक्षात् प्रकट अनादिसिद्ध ही हैं। जैसे शालिग्राम में श्रीभगवान् का प्राकट्य है, वैसे अन्यत्र सूर्यादि में, वैकुण्ठादि में नहीं है। आमलकी के समान शिला जो अतीव सूक्ष्म हो, हे ब्रह्मन्! उसी में ही मैं सदा लक्ष्मी के साथ निवास करता हूँ। शालिग्राम में देव द्वारावती (द्वारका) में प्रकट हुए; दोनो सङ्गम जहाँ है, वहाँ भगवान् श्रीहरि सन्निहित रहते हैं। वैसे लक्ष्मी के साथ भगवान् क्रीडा नहीं करते और न अपने पुर में रमण करते हैं, जैसे भगवान् श्रीहरि शालिग्राम शिलाचक्र में रमते हैं—

शालिग्रामशिलायां तु साक्षाच्छ्रीकृष्णसेवनम्।
नित्यं सन्निहितस्तत्र वासुदेवो जगद्गुरुः।।

शालिग्राम-शिला में तो साक्षात् श्रीकृष्ण की सेवा होती है; इसमें जगद्गुरु भगवान् वासुदेव का नित्य निवास है; इसलिये श्रीशालिग्राम शिला को साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ही जानना चाहिये। इसमें प्राण-प्रतिष्ठा आदि संस्कारों की आवश्यकता नहीं होती है। इनकी सेवा-पूजा में आवाहन और विसर्जन भी नहीं होता है। इनके साथ देवी भगवती तुलसी का नित्य संयोग माना गया है। शयन के समय तुलसीपत्र को श्रीशालिग्राम-शिला से हटाकर उनके पार्श्व में अथवा नीचे रख दिया जाता है।

श्रीमद्भागवत (१०/३०/७) में बताया गया है—**क्वचित् तुलसि! कल्याणि! गोविन्दचरणप्रिये। अन्यत्र–नमस्तुलसि! सर्वज्ञे पुरुषोत्तमवल्लभे।** जहाँ शालिग्राम-शिला रहती है, वहाँ सभी तीर्थ और भुक्ति-मुक्ति का वास होता है। इसलिये शयन के समय में भी तुलसीदल श्रीशालिग्राम-शिला से न हटायें।

शालिग्राम के साथ द्वारावती-शिला (गोमतीचक्र) भी रखी जाती है, उनके बगैर चरणामृत नहीं बनता है।

यह ध्रुव सत्य है कि श्रीशालिग्राम के सान्निध्य में व्रतोपवास-दान और श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्र पाठ करने से मनुष्यों को सौभाग्य तथा विशेष फल प्राप्त होता है।

स्त्री एवं अनुपवीत व्यक्तियों को शालिग्राम का स्पर्श नहीं करना चाहिये।

शास्त्र का वचन है कि जो कोई प्रतिदिन तीन वार पुरुषसूक्त का पाठ कर लेता है, उसे श्रीविष्णु आदि समस्त देवताओं के पूजन का फल प्राप्त हो जाता है—

सहस्रशीर्षेति सूक्तं त्रिर्वाचयेच्च दिने दिने।
विष्ण्वादिसर्वदेवानां देवार्चनफलं लभेत्।।

इसलिये महर्षि शौनक ने ऋग्विधान में, योगी याज्ञवल्क्य ने याज्ञवलक्य-स्मृति में तथा योगी पराशर ने बृहत्पराशरस्मृति में कहा—

दद्यात्पुरुषसूक्तेन यः पुष्पाण्यप एव वा।
स अर्चितं जगदिदं तेन सर्वं चराचरम्।।

अर्थः—जो उपासक पुरुषसूक्त पढ़ते हुए शालिग्राम-शिला पर पुष्प-जल समर्पित करता है, वह पूरे इस स्थावर-जङ्गम जगत् की पूजा कर लेता है। बृहन्नारदीय में लिखा है—

शालिग्रामशिलारूपी यत्र तिष्ठति केशवः।
न बाधन्ते ग्रहास्तत्र भूतवैतालकादयः।।
शालग्रामशिला यत्र तत्र तीर्थं तपोवनम्।
यतः सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः।।

अर्थः—जिस स्थान पर शालग्रामरूपी भगवान् केशव निवास करते हैं, उस स्थान पर बुरे ग्रह, भूत और बेतालादि ग्रहों की बाधा नहीं रहती। जहाँ शालग्राम-शिला रहती है, वहाँ भगवान् मधुसूदन के साथ सारे तीर्थ और तपोवन रहते हैं। पद्मपुराण में लिखा है—

अग्निहोत्रं कृतं तेन दत्ता पृथ्वी ससागरा।
येनार्चितो हरिश्चक्रे शालग्रामसमुद्भवे।।
विना तीर्थैर्विना दानैर्विना होमैर्विना मखैः।
मुक्तिं यान्ति नरा वैश्या शालग्रामशिलार्चनात्।।

अर्थः—जिसने भगवान् श्रीकृष्ण का पूजन शालग्राम में किया, उसने सागर-सहित पृथिवी का दान किया और अग्निहोत्र भी कर लिया है। बिना तीर्थयात्रा, बिना दान, बिना होम और बिना यज्ञ किए केवल शालग्रामशिला पूजार्चन=सेवा से ही व्यक्ति मुक्ति=मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये जो व्यक्ति इस दुःखालय मृत्युरूप संसारसागर से पार पाना चाहता है, उसे तो नित्य-प्रतिदिन श्रद्धा-भक्ति पूर्वक शालग्रामशिलारूपी भगवान् श्रीकृष्ण का पूजन करना चाहिये।

पिबन्ति ये नरा नित्यं शालग्रामशिलाजलम्।
पञ्चगव्यसहस्रैस्तु प्राशितैः किं प्रयोजनम्।।
विष्णोः पादोदकं यस्तु करेण पिबते यदि।
स मूढो नरकं याति यावदिन्द्राश्चतुर्दश।।
अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।।

जो व्यक्ति नित्य शालग्राम शिला का जलपान करते हैं, उनको हजारों बार पञ्चगव्य पीने का क्या प्रयोजन है? अर्थात् उनको पञ्चगव्य पीने की आवश्यकता नहीं है। जो एक हाथ से भगवान् श्रीविष्णु का चरणोदक=चरणामृत

पान करता है, वह मूर्ख नरक में जाता है, जब तक चौदह इन्द्र रहते हैं। अकालमृत्यु को दूर करने वाला और सब व्याधियों का नाश करने वाला भगवान् श्रीविष्णु का चरणामृत नित्य पीने से पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। चरणामृत-ग्रहण करने का यह विधान हैं कि—बाँईं हथेली पर छोटा-सा दुहरा वस्त्र धारण करें; फिर उसके ऊपर दाहिनी हथेली रखकर चरणामृत लें। फिर दाहिनी हथेली के निचले भाग को मुँह पर रखकर चरणामृत का पान करें। यही मुमुक्षु की श्रीभगवद्भक्ति है। **'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'** अर्थात् जब तक जीवित है, तब तक प्रज्वलित अग्नि में हवन करता है। जो निष्काम फलानुसन्धानरहित होकर हवन-पूजन करता है उस पर भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते हैं।

इसलिये श्रीभगवान् के उपासक श्रद्धा तथा भक्ति से समन्वित होकर नित्य हवन करें, पुरुषसूक्त से भगवान् श्रीशालिग्राम की शुद्ध जल से एवं सुगन्धित पुष्पों से सेवा-पूजा करें।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्र.सू० १/१/१) **तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति** (तै०उ०भृगुवल्ली)

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।

(श्रीमद्भा० १/२/११)

इत्यादौ प्रसिद्धेन ब्रह्मशब्देन श्रीकृष्णं विशिनष्टि। ब्रह्मेति यत्र स्वरूपेण गुणैश्च बृहत्वं स ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थः। अयमर्थः। बृहि वृद्धाविति धातोरौणादिकेन मन् प्रत्ययेन ब्रह्मपदस्य व्युत्पन्नत्वाद् योगवृत्त्या बृहद्वाचकत्वे तस्य बृहत्सङ्कोचा-भावात्, देशकालवस्तुगुणपरिच्छेदशून्यत्वं पर्य्यवस्यतीत्यतो ब्रह्मशब्दः भगवत्येव मुख्यवृत्त इति। 'बृहन्तो ह्यसिन् गुणा' इति श्रुतेश्च। श्रीकृष्ण एव मुख्यवृत्तिः, अन्यत्र त्वौपचारिकः। यस्य पादनखज्योत्स्ना परंब्रह्म इति शब्दतः कथ्यते। ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् (गी०१४/२७) **पूर्वेऽतरन् यन्नखमण्डालत्विषा** (श्रीमद्भा० १०/३८/७) **इत्यादौ श्रीभगवद्विग्रहप्रभाया एव ब्रह्मशब्दार्थत्वोक्तेश्च। ब्रह्म-परमात्मा-भगवच्छदानां सामानाधिकरण्योक्तेश्च। शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते। मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे सम्भर्त्तेति तथा भर्त्ता भकारार्थो द्वयान्वितं**

नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थः। तथा मुने! ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः, ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणावसति तत्र भूतानि भूतात्मनोऽ-खिलात्मनि स च भूतेष्वशेषु वकारार्थ अतोऽव्ययः।

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजास्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः।।

एवमेष महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नामगः तत्र पूज्यपादार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः। समस्ताशक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठितः। तद्विश्वरूपवैरूप्य रूपमन्यद्धरेर्महत्। समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वरः। देवतिर्यङ्मनुष्याख्या चेष्टावन्ति स्वलीलया जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा चेष्टा तस्याप्रमेयस्य व्यापिका व्याहृतात्मिकेति वैष्णवे पराशरः। एतत् सर्वमभिप्रेत्य श्रीमद्भागवते (१/१८/२१)

अथापि यत्पादनखावसृष्टं जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात् को नाम लोके भगवत्पदार्थः।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र के निम्बार्कभाष्यार्थ की हिन्दी—जिनके द्वारा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन छः अङ्गों के सहित वेदों का विधिवत् अध्ययन हो चुका है, अतएव कर्मफलनिष्ठ क्षयत्व, अक्षयत्व विषयक विवेकयुक्त वेदवाक्यार्थजन्य संशय का आवेश से युक्त चित्त है, इसलिये धर्ममीमांसाशास्त्र का विधिवत् विचार किया है, जिससे कर्म, उसकी इतिकर्तव्यता तथा कर्मफल—इन सब विषयों का तात्त्विक ज्ञान होने से कर्म तथा ब्रह्मज्ञान के फलों के बीच कर्मफल में सान्तत्व (क्षयिष्णुत्व), सातिशयत्व (न्यूनाधिकत्व) एवं ब्रह्मज्ञानफल में अनन्तत्व (नित्यत्व), निरतिशयत्व (निरवधित्व)-विषयक निर्णयात्मक ज्ञान हो जाने से जो कर्मफल ऐहिक-आमुष्मिक भोगों से विरक्त हो गये हैं, अतएव परब्रह्मस्वरूप श्रीभगवान् की प्रसन्नता-प्राप्ति की इच्छा से युक्त हैं तथा श्रीभगवद्दर्शन के लिये आतुर हैं, आचार्य को ही एकमात्र देवता मान लिया है और गुरुभक्ति को ही हृदय में स्थान दे रखा है—ऐसे मुमुक्षुओं को अनन्त अचिन्त्य स्वाभाविक गुण शक्ति आदि से बृहत्तम ब्रह्म पदवाच्य रमाकान्त

पुरुषोत्तम, जो ब्रह्म-शब्दाभिधेय हैं, तद्विषयक विचार सदा करना चाहिये। यह उपक्रम सूत्र का वाक्यार्थ है।

वरुण का सुप्रसिद्ध पुत्र वारुणि भृगु, अपने पिता वरुण के समीप गया और उसने क्या पूछा, हे भगवन्! मुझे परब्रह्म का ज्ञान कराइये। उससे वरुण ने कहा—उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है। अखण्ड-अद्वितीय-चिद्घन-सच्चिदानन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप-सत्यस्वरूप के ही तत्त्व को जानने वालों ने तत्त्व कहा है।

उस तत्त्व को ब्रह्म शब्द से, परमात्मा शब्द से और भगवान्—इस शब्द से पुकारते हैं। इत्यादि प्रसिद्ध ब्रह्म शब्द से श्रीकृष्ण के स्वरूप का निरूपण करते हैं। जो स्वरूप से और गुणों से बड़ा हो, वही ब्रह्म शब्द का मुख्यार्थ है। बृहि धातु वृद्धि में है, औणादि गण से मन् प्रत्यय करके ब्रह्म पद की व्युत्पत्ति हुई है। योगवृत्ति से बृहद् कहने से उसका बृहत्सङ्कोच नहीं। उपनिषदों के ऋषियों ने परम सत्य श्रीकृष्ण को ही 'ब्रह्म' कहा है। 'ब्रह्म' शब्द का शाब्दिक अर्थ है—**बृहत्तम=बहुत बड़ा।** उससे दूसरा कोई बड़ा नहीं; वह अद्वितीय सद्वस्तु । उससे बृहत्तर कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। देशगत, कालगत, गुणगत, शक्तिगत, सत्तागत और अवस्थागत किसी भी प्रकार की सीमा या परिधि की जिसके सम्बन्ध में कोई कल्पना नहीं की जा सकती है, तत्त्वविद् लोग उसे **'ब्रह्म'** कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण तो सबके साक्षी और स्वयं शाश्वत परब्रह्म ही हैं—**अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्। श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः** (श्रीमद्भा० १०/३१/४। ७/१५/७९)।

सकल देहधारियों के अन्तरात्मा भगवान् हैं। श्रीकृष्ण में ही 'ब्रह्म' शब्द मुख्य वृत्ति से सम्यक् अन्वित है यानी भली-भाँति सम्बद्ध है। 'कृष्ण परब्रह्म हैं' यह कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर देवर्षि नारदजी के श्रीमुख से सुनकर परम विस्मित हुये। परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में अनन्त=असंख्य गुण हैं। **'बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणाः'** ऐसी श्रुति कहती है। अतः श्रीकृष्ण में ही मुख्य रूप से ब्रह्म व भगवान् शब्दद्वय का पर्य्यवसान होता है, औरों में उपचारमात्र है। जिसकी नख की ज्योति परब्रह्म शब्द से कही जाती है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने गीताशास्त्र में कहा है—**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**=हे अर्जुन! मुझमें ही ब्रह्म=हिरण्यगर्भ प्रतिष्ठित है। दूसरा अर्थ उपनिषद् शास्त्र में वर्णित अपहतपाप्मत्व व सार्वज्ञ्य आदि गुणों का मैं ही आश्रय हूँ। श्रीभगवद्भक्त अक्रूरजी कहते हैं—

जिनके नखमण्डल की कान्ति का ध्यान करके पहले युगों के ऋषि-महर्षि, मुनि-महामुनि इस अज्ञानरूप अपार अन्धकारराशि को पार कर चुके हैं। इत्यादि वाक्यों में से यह सिद्ध हुआ कि श्रीभगवद्विग्रह की प्रभा को ही ब्रह्म शब्द से बोलते हैं। ब्रह्म-परमात्मा-भगवान् शब्दों का सामानाधिकरण्य भी बताया गया है।

हे मैत्रेय! भगवत् शब्द शुद्ध महाविभूति नाम जिसका, उस परब्रह्म में प्रयोग होता है अर्थात् उसे परब्रह्म शब्द से कहते हैं। सभी कारणों के कारण, भरण व पोषण करने वाला एवं सृष्टि करने वाला—ये दो अकार के अर्थ हैं। आगे ले जाने वाला और प्राप्त करने वाला एवं सृष्टि करने वाला—यह गकार का अर्थ है। वैसे हे मुने! समग्र वीर्य, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य—इन छः को भग कहते हैं। ये छः जिसमें अप्रतिहत रूप में हैं, उसे भगवान् कहते हैं। यहाँ भूतात्मा सर्वात्मा सब भूतों=प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से बसे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जीवों में बैठे हैं—यह वकार का अर्थ है। अतः अव्यय है। **न व्येति तदव्ययः**=जो व्यय नहीं होता, वह अव्यय है। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—यह सब भगवत् शब्दवाच्य है, त्यागने योग्य कोई गुण नहीं है। इस प्रकार हे मैत्रेय! यह भगवान् महा शब्द परब्रह्मस्वरूप वासुदेव श्रीकृष्ण के नाम से प्राप्त होता है। उसमें पूज्यपाद अर्थ की उक्ति से परिभाषा-सहित यह शब्द उपचार-सहित श्रीकृष्ण में नहीं है, औरों में उपचार से है। हे नृप! सारी शक्तियाँ जिसमें प्रतिष्ठित हैं, वह विश्वरूप वैरूप्यरूप अन्य हरि का महद्रूप है। वही समस्त जनों का परिचालक, नियामक (मालिक) सकल नाम-रूप-शक्ति-देवता-पशु-पक्षी-मनुष्य-रूप में अपनी लीला से सारे जगत् का ठपकार कर रहे हैं। उस अप्रमेय परमात्मा की चेष्टा उपकार के लिये कर्म के निमित्त से नहीं है। चूँकि श्रीभगवान् की चेष्टा व्यापिका है और व्याहतात्मिका है, ऐसा बृहद्वैष्णव में पराशर ऋषि ने कहा है। यह सब अभिप्राय से श्रीमद्भागवत में बताया गया है—ब्रह्माजी ने श्रीभगवान् के चरणों का प्रक्षालन करने के लिये जो जल समर्पित किया था, वही उनके चरणनखों से निकलकर गङ्गाजी के रूप में प्रवाहित हुआ। यह जल शिवजी सहित सारे जगत् को पवित्र करता है। ऐसी अवस्था में त्रिभुवन में श्रीकृष्ण के अतिरिक्त 'भगवान्' शब्द का दूसरा और क्या अर्थ हो सकता है? यहाँ मुकुन्द शब्द का अर्थ देखिये—मुक्तिं ददतीति मुकुन्दः=जो मुक्ति का दान

करे, उसका नाम मुकुन्द है। मुकुन्द=कृष्ण को छोड़कर भगवान् शब्द का दूसरा क्या अर्थ हो सकता है? अतएव देवों ने कहा—

वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः।।

(श्रीमद्भा०१०/५१/२०)

हे राजन्! आपका कल्याण हो। आपकी जो इच्छा हो हमसे वर माँग लीजिये। हम कैवल्य=मोक्ष के अतिरिक्त आपको सब कुछ दे सकते हैं। क्योंकि कैवल्य=मोक्ष देने की सामर्थ्य केवल अव्यय भगवान् श्रीविष्णु में ही है।

लोकपाल वरुण श्रीकृष्ण को नमस्कार करते हैं—

नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने।

(श्रीमद्भा०१०/२९/६)

आपको नमन है (नमनं नमः) आप षड्विध ऐश्वर्य-सम्पन्न स्वयं भगवान् हैं। बृहत्तम=परब्रह्म हैं और समस्त आत्माओं में बसे हैं; अतः आप परमात्मा हैं। अतएव श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान्, साक्षात् पूर्ण ब्रह्मस्वरूप हैं। नारायण शब्द के परम प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण हैं—

सा तु साक्षान्महालक्ष्मीः कृष्णो नारायणः स्वयम्।

अत एव श्रीकृष्ण साक्षात् नारायण ही हैं। उन्होंने ऐसी-ऐसी लीलायें की हैं, जो बड़े-बड़े देवता भी नहीं कर सकते। जैसे—१.कालीयदमन, २.गोवर्द्धनधारण, ३.यशोदा मैय्या को, अर्जुन को और द्यूतकार्य में जाकर दुर्योधन के सभासद्गणों को विराट् रूप-प्रदर्शन, गुरुपुत्रप्रदान, अस्खलित वीर्य में रहकर सहस्र स्त्रियों के साथ एक काल में विहार; इससे भिन्न असंख्य त्रिभुवनजयी असुरों को खेल-खेल में खत्म करना इत्यादि। श्रीकृष्ण में सर्वशक्तिमत्ता के पूर्ण प्रकाश हेतु ब्रह्माजी ने श्रीकृष्ण को 'नारायण' कहा—**नारायणस्त्वम्** (श्रीमद्भा०१०/१४/१४)

श्रीकृष्णरूप में नारायण का ही प्रादुर्भाव हुआ था। वह श्रीमद्भागवत (४/१/५८) में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है; यथा—

ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ।।

(श्रीमद्भा०४/१/५६)

वे ही नर-नारायण, ये दोनों यदुकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्ण और उन्हीं

के सरीखे कृष्णवर्ण कुरुकुलतिलक अर्जुन भगवान् हरि के अंश इस समय पृथ्वी का भार उतारने के लिये इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए हैं। यहाँ श्रीमद्भागवतकार ने दोनों को भगवान् हरि का अंश बताया है। **'छत्रिणः यान्ति'** इस न्याय से श्रीभगवान् को भी अंश कहा है। जैसे बहुत छाता वाले जा रहे थे, उनमें से जो बगैर छाता वाले जा रहे हैं, वैसे ही जानना चाहिये। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के योगीश्वर महापुरुष पूज्यपाद श्री१००८ स्वामी रामदास काठियाबाबाजी महाराज श्रीधाम वृन्दावन रहते समय प्रसङ्गवश बताये थे— 'कृष्ण की सोलह कला थी। यह बात सच है; बाकी एक सहस्र कला, वह कभी नहीं आती है और कभी नहीं जाती है'। उनका यह महत्त्वपूर्ण सारगर्भ सदुपदेश सुनकर सबका संशय निवृत्त हो गया व सन्देह बिल्कुल दूर हो गया था।

एवमोङ्कारोऽपि भगवद्वाचक एव रक्षणार्थस्यावतेः खलु रूपमेतत् अवतेष्टिलोपश्चेति सूत्रात् ओमिति ब्रह्मेत्यादि श्रुतेः। एवं च तिसृणां व्याहृतीनां वर्णत्रयात्मकोङ्कारव्याख्यानरूपत्वात् तासामपि भगवद्वाचकत्वमेव। तथाहि—

भूरिति बहुत्वार्थस्य भवतेः क्वपि रूपमेतत्। इममेवार्थं भगवानाचार्योऽप्याह—परमिति। परं=पूर्णमित्यर्थः। पूर्णत्वादिनिमित्तमुपादाय भूरादयः शब्दा भगवति प्रवर्तन्ते इत्याशयः।

एवमविभागाज्जगत उत्पादनात् भुव अन्तर्भाविण्यर्थस्य भवतेरेव कप्रत्ययरूपं सुखरूपत्वात् स्वशब्दो हि सुखवाची।

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम्।।

इत्यादौ प्रसिद्धः। एवं गायत्रीप्रतिपाद्योऽपि भगवानेव। तथाहि— जगत्प्रसवहेतुत्वात् सविता भगवानेव। भरणगमनयोगेन भर्गशब्दार्थो भगवान् एतेन गायत्र्यां यो भर्गो नो अस्माकं धियः प्रचोदयात्=प्रेरयेत् तस्य=सवितुर्देवस्य तद् वरेण्यं रूपं धीमहि=चिन्तयाम इति भर्गनामकः सविता प्रतिपाद्यो दृश्यते। तत्कथं भगवत्परत्वमित्यपास्तम्। ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्तीत्यागमविरोधाच्च। एवं पुरुषसूक्तेऽपि भगवानेव प्रतिपाद्यः। तथा च श्रुतिः—स एवायं पुरुषः सर्वासु पुर्षु परिशयो नैन न किञ्चन संवृतमिति।

आवृतमज्ञानमित्यर्थः। सर्ववेदार्थत्वं भगवतः सिद्धं सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीत्यादिश्रुतेः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—इस प्रकार ओङ्कार भी श्रीभगवान् का ही वाचक है। अव रक्षणे धातुः। रक्षा में अव धातु है। यथा श्रीभगवान् कृत्स्नं विश्वम् अवति=श्रीभगवान् सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करते हैं। अव धातु से मन् प्रत्यय करके ऊठ् का आदेश टि का लोप करके ओम् यह शब्द निष्पन्न हुआ है। ओम् का अर्थ है—यह सम्पूर्ण जगत् जिसमें ओत है अर्थात् प्रविष्ट है। ओम् यह उस परब्रह्म परमात्मा भगवान् का नाम है। इसी रीति से तीन व्याहृतियाँ वर्णत्रयात्मक ओङ्काररूप व्याख्या है। उनमें भगवान् वाच्य है। 'भू' यह बहुत अर्थ में है। भवति का क्वप् प्रत्यय से यह रूप है। यही अर्थ भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने भी कहा है—परं नाम पूर्ण, पूर्णत्व आदि निमित्त को लेकर भू आदि शब्द भगवान् में ही समन्वित होते हैं, प्रवर्तित होते हैं। इस प्रकार अविभाग से जगत् का उत्पादन करने से भू का अन्तर्भाविणि अर्थ के भवति का ही क प्रत्यय रूप है। सुखस्वरूप स्व शब्द अर्थात् 'स्वः' शब्द सुखवाची है, जो दुःख के द्वारा मिश्रित नहीं यानी आगे आने वाले समय में जो दुःख के द्वारा ग्रस्त नहीं होता। जो अभिलाषामात्र ही प्राप्त करवा दे, वैसा सुख ही 'स्वः' पद का वाच्य है। श्रीभगवान् सुखस्वरूप स्वः पद का वाच्य है, सुखवाची है। जो दुःख से सम्भिन्न नहीं और जो पीछे ग्रस्त नहीं; जो अभिलाषा को प्राप्त करवा दे, उस पद का नाम स्वपद, निजस्थान, सुख का स्थान है—इत्यादि प्रसिद्ध है। इस प्रकार गायत्री मन्त्र में प्रतिपाद्य भी भगवान् ही हैं। उसे दिखलाते हैं—जगत् की उत्पत्ति के कारण से सविता=सूर्य भगवान् ही हैं। भरण तथा गमन के योग से भर्ग शब्द का अर्थ भगवान् है। इस कथन से गायत्री मन्त्र में जो भर्ग है, वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे। हम उस सविता देवता का सर्वश्रेष्ठ उपास्यरूप में सदा ध्यान करते हैं, निरन्तर चिन्तन करते हैं। भर्ग नामक सविता-प्रतिपाद्य देखा जाता है, वह कैसे भगवत्पर है—ऐसी शङ्का करने वाले स्वतः निरस्त हो गये; चूँकि सविता मण्डल के मध्य में विराजमान भगवान् का सदा ध्यान करना चाहिये। अतएव गायत्रीमन्त्र के द्वारा वही परम पुरुष परमेश्वर परब्रह्म श्रीकृष्ण ही प्रतिपादित हुए। गायत्री छन्दसामहम् (गीता १०/३५)—हे अर्जुन! छन्दों अर्थात् मन्त्रों में मैं गायत्री हूँ। ऐसा आगमशास्त्र में लिखा है। इस प्रकार पुरुषसूक्त में भी भगवान् ही प्रतिपाद्य हैं।

वैसे ही श्रुति में उल्लिखित है—वही यह पुरुष सभी पुरियों में सोता है, उसमें कुछ छिपा नहीं। सारे वेदों का अर्थ श्रीभगवत्परक है। अर्थात् समस्त वेद श्रीभगवान् को ही प्रकट करते हैं। सारी श्रुतियाँ श्रीभगवान् का ही प्रतिपादन करती हैं; अत: श्रीभगवान् ही प्रतिपाद्य हैं।

नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः।
कृष्णं च तत्रच्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः।।

(श्रीमद्भा०१०/२८/१७)

नन्दादि गोप उस दिव्य भगवल्लोक को देखकर परमानन्द के सुख में डूब गये। वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण सिंहासन पर बैठे हुए हैं और चारों वेद मूर्तिमान होकर उनकी स्तुति कर रहे हैं। यह देखकर वे सब ग्वाल-बाल परम विस्मित हो गये।

अथ विग्रहस्य नित्यत्वे श्रुतयः—आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। (श्वेता० उ०३/८), **यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्** (श्वेता०उ०३/१/३) **ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्। विश्वतश्चक्षुः। सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।** (श्वेता०उ०३/३/१४), **पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि तस्माद्विराडजायत। वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्** (श्वेता०उ०३/८), **य एषोऽन्तरादित्ये हिरणमयः पुरुषो दृश्यते,** (छा०उ० १/६/८) **एको नारायणासीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः, पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतिं शेते।**

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते (मु०उ०१/१/८) **चेत्याद्या एवं चावतार-विग्रहाः सर्वेऽपि नित्या एव। तथाहि अन्तरतः कूर्मपर्यन्त इत्यारभ्य पूर्वमिवाहमिहासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वमिति च श्रुतेः। किञ्च आनन्दरूपममृतं यद्विभाति आप्रणखात्सर्व एवानन्दः। किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मक इत्यादि श्रुतेः। भेदाभावेऽपि अहिकुण्डलन्यायेन विग्रहवत्त्वोपपत्तिः। एवं ह्यसंख्यानां श्रीगोपीनां रासमण्डले एकस्मिन्नेव क्षणे श्रीकृष्णस्यानेक-दर्शनादेकस्यापि तस्यावतारिण अनेकरूपवत्त्वोपपत्तिः। यत्तु चन्द्रमण्डल-गतामृतसङ्घातन्यायेन चेतनेतरानधिष्ठितभौतिकदेहः समवेतत्वमित्यवतार-**

विग्रहेष्वयं विशेष इति स्वीकृत्य दध्यौ ब्रह्म परं विप्र प्रविश्य यमुनाजलमित्यारभ्य स तु दानपतिः तदत्यन्तविष्णुपुराणं चोदाहृत्य इति मनुष्यदेहवञ्चिता प्राकृतदेह-परमेश्वरज्ञानमक्रूरस्य जातम्।

इदं च दिव्यरूपं कदाचिदक्रूरोद्धवादिपरमभागवतैर्दृश्यते। भौतिकं तु सर्वैरिति कस्यचित् प्रलापः सदसत् श्रीमद्भागवतादिविरोधात्। तथाहि—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽन्तरेण साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः।।

(श्रीमद्भा० १०/१४/२)

बृहद्वैष्णवे च—

यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः।
स सर्वस्माद्वहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलं स्नानमाचरेत्।।

श्रीमन्महाभारतेऽपि—

न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः।
प्राकृतत्वस्योपाधित्वाच्च तमेतं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्।
अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम्।
दुदर्शमतिगम्भीरमजं श्यामं विशारदम् इत्यादिश्रुतिभ्यश्च।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—श्रीभगवान् के युगल विग्रह की नित्यता में श्रुतियाँ ही प्रमाण हैं। श्रुति को ही वेद जानना चाहिये। वेद अपौरुषेय हैं, परमात्मा के निःश्वास से प्रकट हुए हैं। वेदोपनिषदों में निम्न प्रकार से श्रीपरमात्मा के युगल विग्रह, विशुद्ध ज्ञानमूर्ति, छन्दोमय, निरतिशय उज्ज्वल आदि गुणाश्रय दिव्य मङ्गलविग्रहयुक्त वर्णित हैं। प्रकृतिमण्डल के ऊपर में विराजमान हैं। जब जीवात्मा परमात्मा के कमनीय प्रकाशमान सौन्दर्य, लावण्य, कैशोर, माधुर्य, मार्दव, सौगन्ध्य, सौशील्य आदि अनन्त कल्याणगुणों के आश्रय और बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी योगीश्वर महापुरुषों के सदा ध्येय और उनके कर्मों को समूल विनष्ट करने वाले और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सुरतरु दिव्य मङ्गलविग्रह को देखता है। ऋतसत्य परब्रह्म पिङ्गल श्रीकृष्ण को अपनी आँखों के सामने देखता है।

जिनके चारों ओर चक्षु हैं, वे अनन्त नेत्र वाले श्रीपरमात्मा, उन परम पुरुष श्रीभगवान् के हजारों सिर, हजारों आँखें और हजारों पैर हैं। यहाँ सहस्र=हजार शब्द से आनन्त्य लक्षित है अर्थात् श्रीपरमात्मा के अनन्त मस्तक हैं, अनन्त नेत्र हैं और अनन्त चरण हैं। समस्त भूतप्राणी श्रीपरमात्मा के एक पाद हैं; शेष तीन पाद अमृत परमधाम में है। उस आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण से विराट्=ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ। जो यह आदित्य=सूर्यमण्डल में हिरण्मय सुवर्णवर्ण उज्ज्वल पुरुष देखता है। सृष्टि के पहले एक नारायण ही रहे, न ब्रह्मा न शङ्कर। कल्प के अन्त में सारे विकार को उदर में रखकर सोते हैं। जैसे मकड़ी अपने पेट में स्थित जाले को बाहर निकालकर फैलाती है और फिर उसे निगल जाती है, वैसे ही श्रीपरमात्मा अपने उदर में सूक्ष्म रूप से लीन हुए जड़-चेतनरूप जगत् को सृष्टि के आरम्भ में अनेक प्रकार से उत्पन्न करके फैलाते हैं और प्रलयकाल में पुन: उसे अपने पेट में लीन कर महाप्रलय के जल में शयन करते हैं। इस प्रकार सभी अवतारविग्रह नित्य ही हैं। अन्तर से कर्म-पर्यन्त आरम्भ करके पहले से ही यहाँ हो, वही पुरुष का पुरुषपन है। यह श्रुति आनन्दरूप अमृत जो प्रकाशित हो रहा है, नाखून से लेकर सब आनन्दरूप ही हैं। कौन स्वरूपात्मक भगवान् है—यह प्रश्न है। ज्ञानात्मक और ऐश्वर्यात्मक भगवान् है—यह उत्तर है। इत्यादि श्रुति में सुना जाता है कि भेद के अभाव में भी अहिकुण्डल न्याय से विग्रह की उपपत्ति है।

जब कुण्डल के आकार में सर्प रहता है तब कुछ अन्य वस्तु मिलाई नहीं गयी, जिससे कुण्डल की प्रतीति होती। सर्प का शरीरमात्र है, जब सर्प लम्बा हुआ तब कुण्डल न रहा, बायें से निकल न गया। ऐसे ही असंख्य गोपीजनों के रासमण्डल में एक ही क्षण में एक ही वल्लभ श्रीकृष्ण के अनेक रूप के दर्शन होते हुए साक्षात् अवतारी श्रीकृष्ण से अनेक रूप हो जाना असम्भव नहीं है। जितनी गोपियाँ हैं, उतने ही श्रीकृष्ण हैं। श्रीभगवान् ने उनके साथ विहार किया।

जैसे चन्द्रमण्डल में अमृत का सङ्घात है, इस न्याय से भगवान् के सिवाय चेतन तो और है नहीं, भौतिक देह अवतारविग्रह में मिलाप है—यह विशेष है, ऐसा स्वीकार करके हे विप्र! अक्रूर ने यमुनाजल में प्रविष्ट होकर परब्रह्म का ध्यान किया, आरम्भ करके वह तो दानपति अन्त-पर्यन्त विष्णु

पुराण का उदाहरण करके मनुष्य देह से वञ्चित हैं, अप्राकृत देह परमेश्वर का ज्ञान, अक्रूर को उत्पन्न हुआ। परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण के इस दिव्य रूप को कभी कदा अक्रूर और उद्धव आदि परम भागवत देखते हैं। सब भौतिक देह देखे हैं—यह उनका कहना अतितुच्छ है। श्रीमद्भागवतादि शास्त्रों से विरोध है—भगवान् श्रीकृष्ण ने अक्रूरजी से पूछा—आपने क्या अलौकिक देखा है? अक्रूरजी बोले—पृथिवी, आकाश या जल में और सारे जगत् में जितने अद्भुत पदार्थ हैं, वे सब आपमें ही हैं आप विश्वात्मा हैं। जितनी अद्भुत वस्तुएँ पृथ्वी, आकाश या जल में हैं, वे सबके सब जिनमें हैं, उन्हीं आपको मैं देख रहा हूँ।

सर्वलोकपितामह ब्रह्माजी एकाग्र चित्त से काँपते हुए गद्गद वाणी से भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहते हैं—हे देव! आपका यह देह भूतमय नहीं है अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँचों भूतों से बना हुआ नहीं है; अत: श्रीभगवान् का शरीर पाञ्चभौतिक नहीं है। अपने भक्त-जनों की इच्छा से तथा अपनी इच्छा के अनुसार आपने चिद्घन-ज्ञानघन दिव्य श्रीविग्रह प्रकट किया है। मेरी प्रार्थना से विश्व की रक्षा के लिये आप यदुवंश में प्रकट हुए हैं और मेरे ऊपर कृपा करने के लिये यह अवतार आपने प्रकाश किया है। हे भगवन्! आपका यह श्रीविग्रह नित्य शुद्ध अप्राकृत सत्त्वमय है। मैं तो आपकी महिमा को नहीं जानता; फिर आपकी आत्मसुखानुभूति की महिमा मैं क्या जानूँगा। ऐसे आप अवतारी महापुरुष की महिमा मन से जानने में सामर्थ्य नहीं है।

बृहद्वैष्णव नामक एक बड़ा भारी ग्रन्थ है। उसमें लिखा है कि जो कोई परमात्मा श्रीकृष्ण के देह को भौतिक जानता है, उसे सब श्रौत और स्मार्त विधान से बाहर कर देना चाहिये। जो वैष्णव उसका मुख देख लिया तो उसे सचैल स्नान करना चाहिये। श्रीमन्महाभारत में भी लिखा है—परमात्मा श्रीकृष्ण की देह पञ्च भूतों की नहीं है। श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध के तीसरे अध्याय ४६ श्लोक में श्रीशुकदेवजी ने कहा है कि देवकी और वसुदेव के देखते-देखते भगवान् श्रीकृष्ण तुरन्त प्राकृत शिशु के समान बन गये। श्रीशुकदेवजी, परीक्षित् से कह रहे हैं—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः।।

तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा।।

(श्रीमद्भा०१०/९/१३-१४)

भगवान् श्रीकृष्ण इस जगत् की सृष्टि के पहले थे, इस जगत् के अन्त में रहेंगे और जगत् के भीतर-बाहर हैं अर्थात् यह जड़ चेतनात्मक जगत् श्रीकृष्ण से अभिन्न है। उन अजन्मा श्रीकृष्ण को अपना बेटा मानकर यशोदा मैय्या ने रस्सी के द्वारा ऊखल में बाँध लिया, जैसे कोई साधारण-सा बालक हो। कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने=श्रीभगवान् को अपने अनन्य परम भक्तों के हाथ से बँधना बहुत प्यारा लगता है। अतः वे भक्तों के हाथ से बँध जाते हैं। इस प्रकार श्रीभगवद्विग्रह की अप्राकृतता तथा नित्यता की सिद्धि हुई।

प्राकृतता उपाधिकत्व है। आदि पुरुष भगवान् गोविन्द सच्चिदानन्द विग्रह अतसीपुष्पप्रख्य नाभिस्थान में प्रतिष्ठित दुर्दर्श अतिगम्भीर अजन्मा श्यामसुन्दर तथा सर्वविद्या-प्रवर्तक सर्वशास्त्र विशारद हैं।

श्रीशुकदेवजी भगवान् श्रीकृष्ण का वर्णन करते हैं—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः।।
यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्।।

(श्रीमद्भा०१०/१२/११-१२)

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपीनां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः।।

(श्रीमद्भा०१०/४३/१७)

इस प्रकार बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी सन्तों के लिये स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त ब्रह्मसुख के मूर्तिमान अनुभव हैं। दास्यभाव से युक्त वैष्णवजनों के लिये वे उनके उपास्य देवता हैं और मायाश्रितों के लिये नर-बालक हैं। उन भगवान् श्रीकृष्ण के साथ वे महान् पुण्यात्मा ग्वालबाल वन में विहार करने लगे।

जिन भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों की धूलि बहुत जन्मों के कष्ट-श्रम से धृतात्मा बने योगियों के लिये भी अगम्य=अप्राप्य है।

वे सर्वसमर्थ सर्वशक्तिमान सर्वनियन्ता सर्वव्यापक सर्वभिन्नाभिन्न सर्वात्मा परमात्मा श्रीकृष्ण ब्रजवासी ग्वाल-बालों की आँखों के सामने खड़े हैं और उनके साथ खेल रहे हैं। इससे बढ़कर उन व्रजवासी ग्वाल-बालों का सौभाग्यवर्णन और क्या? कौन कर सकता है?

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण व्रजवासी ग्वाल-बालों के साथ रङ्गशाला में प्रविष्ट हुए, उस समय नव रस एक ही साथ उनकी सेवा करने के लिये उपस्थित हो गये। यह दिव्यातिदिव्य झाँकी उस समय की है, जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण, बलरामजी के साथ रङ्गशाला में पधारे। उस समय मल्लों को ऐसा लगा कि श्रीभगवान् का शरीर वज्र का बना हुआ है। १. श्रीभगवान् मनुष्यों को २.श्रेष्ठ मनुष्य और स्त्रियों को ३. मूर्तिमान कामदेव के रूप में प्रतीत हुए। गोपों को ऐसा लगा कि भगवान् श्रीकृष्ण ४.स्वजन=अपने ही हैं। दुष्ट राजाओं को प्रतीत हुआ कि हमारा ५.कोई शासक आ गया। जो माँ-बाप सरीखे थे, उनको लगा कि ये तो ६.अपने शिशु हैं। कंस को ऐसा भान हुआ कि यह तो ७. मेरी मौत खड़ी है। ८.अविद्वानों को विराट् और ९ योगियों को परम तत्त्व और भक्तों को परमदेवता के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण प्रतीत हुए हैं। इस प्रकार एक ही समय श्रीभगवान् जिसके मन में जैसी भावना थी, ठीक वैसे ही दिखायी पड़े।

यही भगवान् की भगवत्ता है, यही तत्त्व है; अतएव कहा गया है— **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्** (श्रीमद्भा०१/३/२८); **तत्त्वे चित्तमधारयत्** (श्रीमद्भा०७/३/६१)। कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं। दिति ने अपने मन को तत्त्व में लगाया। श्रीमद्भागवत में तत्त्व शब्द कई बार आया है—**वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वम्** यह श्रीमद्भागवतशास्त्र पाणिनीय व्याकरण के अनुसार है—**तस्य भावस्त्व-तलौ तस्य भावस्तत्त्वं, तत्ता।**

देवदर्शन-भगवत्प्रिय देवर्षि नारद एकान्त में भगवान् श्रीकृष्ण से कहने लगे—

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् योगेश जगदीश्वर।
वासुदेवाखिलावास सात्त्वतां प्रवर प्रभो।।

त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम्।
गूढोगुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः।।
आत्मनाऽऽत्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान्।
तैरिदं सत्यसङ्कल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः।।
स त्वं भूधरभूतानां दैत्यप्रमथरक्षसाम्।
अवतीर्णो विनाशय सेतूनां रक्षणाय च।।

हे वासुदेव! हे अखिलावास! हे यदुवंश-शिरोमणे! हे अप्रमेयात्मन्! योगेश्वर! हे जगदीश्वर! हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे प्रभो!।।

(श्रीमद्भा० १०/३७/११-१४)

आप सब भूत-प्राणियों के आत्मा हैं। एक-अद्वितीय हैं। जैसे लकड़ी में आग रहती है, वैसे ही आप चराचर में छिपे हुए हैं। आप अपने को छिपाये रखते हैं। चित्स्वरूप कर्मकृत् जीवों की हृदयरूप गुफाओं के भीतर रहते हैं। आप सबके साक्षी हैं और सबके नियन्ता हैं। आप महापुरुष=पुरुषोत्तम हैं। आप अपने-आप में ही रहकर, अपने सत्यसङ्कल्प से ही जगत् की सृष्टि-स्थिति-विनष्टि करते हैं। आपने पहले माया से सत्त्व रजः-तम गुणों की सृष्टि की। वही आप दैत्य, प्रमथ और राक्षसों के विनाश के लिये तथा धर्म-सेतु की रक्षा के लिये अवतीर्ण हुए हैं।

राजा युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में यह प्रश्न उठा कि सभासदों में से अग्रपूजा किसकी हो? वहाँ बड़े-बड़े सुयोग्य महानुभाव उपस्थित थे। सदस्यों के आधिक्य होने से जब सर्वसम्मति से कोई निर्णय न हो सका, तब भगवान् श्रीकृष्ण के प्रभाव से पूर्णतया सुपरिचित सहदेवजी उठकर खड़े हो गये और उन्होंने कहा—

अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान् सात्वतां पतिः।
एष वै देवता सर्वा देशकालधनादयः।।
यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः।
अग्निराहुतयो मन्त्राः सांख्यं योगश्च यत्परः।।
एक एवाद्वितीयासावैतदात्म्यमिदं जगत्।
आत्मनाऽऽत्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः।।

विविधानीह कर्माणि जनयन् यदवेक्षया।
ईहते यदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम्।।
तस्मात्कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम्।
एवं चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत्।।
सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने।
देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता।।
इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत् तूष्णीं कृष्णानुभाववित्।
तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः।।

(श्रीमद्भा० १०/७४/१९-२५)

हे सभ्याः का अर्थ है **सभायां साधवः इति सभ्याः** अर्थात् सभा में उपस्थित अच्छे लोग। इस श्रीमद्भागवतशास्त्र में असभ्य शब्द भी आये हैं— अयं त्वसभ्यः=यह कंस तो असभ्य है। कौरवा असभ्याः=कौरव असभ्य हैं। अस्तु। सभासदों, सुनिये हमारे बीच में विराजमान श्रीकृष्ण ही अग्रपूजा के योग्य हैं। साक्षात् परब्रह्मस्वरूप अच्युत भगवान् भक्तवत्सल हमारी आँखों के सामने प्रकट हुए हैं। ये ही समस्त देवता हैं, समस्त देश हैं, समस्त काल हैं और समस्त धन आदि हैं। श्रीकृष्ण ही जगदभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। श्रीकृष्ण ही क्रतु हैं, श्रीकृष्ण ही यज्ञ हैं। अग्नि, आहुति, मन्त्र, सांख्य=ज्ञान, योग=उपासना—सब इन्हीं के लिये हैं। **'एति इति एकः'** 'इण् गतौ' धातु से 'एक' शब्द बनता है। जो अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा सब में परिपूर्ण है, जिसके बिना चराचर पदार्थ कुछ नहीं; लेकिन सबके बगैर जो रहता है, वह एक ही अद्वितीय सद् वस्तु है, वही श्रीकृष्ण हैं। यह श्रीकृष्ण आत्मा जिसकी वह एतदात्मा, उसका भाव ऐतदात्म्य; अतः यह सम्पूर्ण जगत् श्रीकृष्णात्मक है, श्रीकृष्ण आत्मा=स्वरूप जिसके, श्रीकृष्ण अज=अजन्मा हैं। आत्माश्रय=अन्यनिरपेक्ष हैं स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं अर्थात् इस परिदृश्यमान नामरूपात्मक विश्व की जन्म=उत्पत्ति, स्थिति=पालन और अन्त में संहार=प्रलय विश्वात्मा श्रीकृष्ण से ही साधित होता है। इनके ही नित्य सच्चिदानन्द श्रीविग्रह में समस्त धर्म, यहाँ तक कि सम्पूर्ण चराचर जगत् निवास करते हैं। ये ही जीवों के द्वारा किये गये यज्ञादि कर्मों का फल प्रदान करते हैं। इसलिये यज्ञपुरुष परमपुरुष परमात्मा

श्रीकृष्ण के समुपस्थित रहते दूसरा कौन अग्रपूजन के योग्य हो सकता है? इसलिये सबसे महान् भगवान् श्रीकृष्ण की ही अग्रपूजा (सबसे पहली पूजा) होनी चाहिये। हमारी राय है कि सर्वप्रथम श्रीकृष्ण का पूजन होना चाहिये। इनकी अग्रपूजा होने पर अन्य सबकी पूजा अपने-आप हो जायेगी। अंशी की पूजा हो जाय तो अंश की पूजा हो जाती है, अङ्गी की पूजा हो जाय तो अङ्ग की पूजा हो जाती है। यह सर्ववादी-सम्मत है। जो अपने दान-धर्म को अनन्त भाव से युक्त करना चाहता है, उसे चाहिये कि समस्त प्राणियों और पदार्थों के अन्तरात्मा, अनन्यदर्शी, परम शान्त तथा सर्वतः परिपूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण को ही दान करें। श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानने वाले सहदेवजी इतना कहकर चुप हो गये। उनका यह प्रस्ताव सुनकर सभी सत्पुरुष साधु-साधु कहने लगे। बहुत अच्छा, बहुत अच्छा कहकर बात का समर्थन किया। 'कृष्ण' शब्द का अर्थ विश्लेषण करने पर वे ही जो साक्षात् परब्रह्म हैं, वही निश्चित होता है। वही अब दर्शाते हैं—'कृष्ण' शब्द सखण्डार्थक और अखण्डार्थक भेद से दो प्रकार का है। प्रथमतः वैयाकरणमत में व्याख्या इस प्रकार है—कृ, कृष्, अ—ये चारों शब्द मिलकर 'कृष्ण' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'क' धातु करणार्थक और 'कृष' धातु विलेखनार्थक। कृ+कृष—इन दोनों धातुओं के उत्तर क्विप् प्रत्यय के योग में 'कृकृष' हुआ, उसमें से द्वितीय 'कृ' का लोप हो जाता है तब कृष् हुआ, यह 'कृष' शब्द कर्तृ और संहर्तृ-वाचक है। पीछे कह चुके हैं—'ण' का अर्थ निरतिशयानन्द मोक्षानन्द हैं। 'अव् रक्षणे' इस अव धातु के उत्तर 'क्विप्' प्रत्यय करने पर 'अ' मात्र अवशिष्ट रहता है। इसके द्वारा 'रक्षक' यह अर्थ निकलता है। इस प्रकार कृष्ण शब्द सिद्ध हुआ। जो इस जगत् के कर्ता, संहर्ता, मोक्षदाता और रक्षक हैं, वे ही कृष्ण हैं—यही पाणिनीय महाशास्त्र व्युत्पत्तिगत अर्थ है। अतएव जिससे इस विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय होते हैं। ये सब प्रत्यक्ष दीखने वाले प्राणी जिससे उत्पन्न होकर, जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा अन्त में प्रयाण करते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं। (तै०उ०३/१)। जो संसार, मोक्ष, स्थिति और बन्धन का हेतु है। (श्वे०उ०६/१६) **'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः, सर्वं प्रवर्तते** (गी०१०/८) अर्थात् हे अर्जुन! मैं सभी का उत्पत्तिस्थल हूँ, मुझसे सब प्रवृत्त होते हैं। इत्यादि ब्रह्मस्वरूप-प्रतिपादक श्रुति-स्मृति श्रीकृष्ण में ही समन्वित हैं। और **'कृषकर्षणे'**—इस धातु को लेकर 'कृष्ण' होने पर 'कृष्' अर्थात् जो अपने भक्तगणों के चित्त का

आकर्षण करके 'ण' मोक्ष प्रदान करते हैं, वे ही कृष्ण हैं। इस व्युत्पत्ति से यही अर्थ निकलता है—श्रीकृष्ण सर्वचित्ताकर्षक, आब्रह्म-स्तम्बपर्यन्त सबके चित्त का आकर्षण करने वाले। श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि श्रवण में एवं उनका कन्दर्पकोटिलावण्ययुक्त रासबिहारीस्वरूप दर्शन में जो देवताओं से आरम्भ कर समग्र जगत् वासियों के चित्त आकर्षित हो गये थे; वृक्ष, लता, पशु, पक्षी भी आनन्द में मग्न हो गये थे एवं पर्वतादि स्थावर-पर्यन्त भी आनन्द में विगलित हो गये थे; वह श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में सुस्पष्टरूप में वर्णित है। आर्ष व्युत्पत्ति के द्वारा भी श्रीकृष्ण को परब्रह्म कहा गया है—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

इत्यादि।

अथ श्रीभगवल्लोका अपि चिदानन्दमया नित्य एव 'स भगवः प्रतिष्ठित' इति स्वेमहिम्नीति श्रुतेः।

अतश्च श्रीमद्वृन्दावनादीनां चिदानन्दमयत्वेऽपि श्रीभगवत्क्रीडार्थं कुञ्जोपकुञ्जसभासरः सरितप्रासादवनोपवनवापीकूपतडागादिगुल्मलतौषध्यादि-रूपत्वं बोध्यम्। आहुश्च श्रीमत्पद्माचार्याः—

कुञ्जगुल्मादिरूपत्वं श्रीमद्वृन्दावनस्य च।
कृष्णक्रीडा कृते ज्ञेयं चिद्घनस्य विचित्रता
चकाराद् गोलोकादीनामपि ग्रहणम्।
वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं यद्देवकीसूत पदाम्बुजलब्धलक्ष्मीत्यादि
श्रीमद्भागवते च वैकुण्ठस्याप्राकृतत्वमुक्तम्॥
परमागमचूडामणौ श्रीनारदपञ्चरात्रे जितं ते स्तोत्रे च
लोकं वैकुण्ठनामानं दिव्यं षाडगुण्यसंयुतम्।
अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्जितम्॥
नित्यसिद्धैः समाकीर्णं तन्मयैः पञ्चकालिकैः।
सभाप्रासादसंयुक्तं वनैश्चोपवनैर्युतम्॥
वापीकूपतडागैश्च वृक्षखण्डैश्च मण्डितम्।
अप्राकृतसुरैर्वन्द्यमयुतार्कसमप्रभम्।
प्रकृष्टसत्त्वसम्पूर्णं कदा द्रक्ष्यामि चक्षुषा॥

इति, अत्यार्का नलदीप्त यत्स्थानं

विष्णोर्महात्मन इत्यादि महाभारते च। सहस्रस्थूणे वितते दृढे उग्रे यत्र देवानामधिदेवाः ते क्षयं तमस्य रजसः पराके योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् तद्विप्रा सो विपण्यवो जाग्रिवांस समिन्धते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' इति श्रुतौ च।

सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम्।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम्।
कर्णिकारं महद्यत्र षट्कोणं व्रजकीलकम्।
षडङ्गषट्पदीस्थानं प्रकृत्या पुरुषेण च।।
प्रेमानन्दमहानन्दरसेनावस्थितं हि यत्।
ज्योतिरूपेण मनुना कामबीजेन सङ्गतम्।।
तत्किञ्जल्कतदंशानां तत्पत्राणि श्रियामपि।
चतुरस्रं तत्परितः श्वेतद्वीपाख्यमद्भुतम्।।
चतुरस्रं चतुर्मूर्तिश्चतुर्धाम चतुःकृतम्।
चतुर्भिः पुरुषार्थश्च चतुर्भिर्हेतुभिर्वृतम्।।
शूलैर्दशभिरानद्धमूर्द्धाऽधोदिग्वदिक्ष्वपि।
अष्टाभिर्निधिभिर्जुष्टमष्टाभिः सिद्धिभिस्तथा।।
मनुरूपैश्च दशभिर्दिक्पालैः परितो वृतम्।
श्यामैगौरैश्च रक्तैश्च शुक्लैश्च पार्षदर्षभैः।।
शोभितं शक्तिभिस्ताभिरद्भुताभिः समन्ततः।

गोकुलाख्यमित्यनेन गोगोपीवासरूपत्वं गोकुलस्य विवक्षितं गोकुलमित्याख्यारुढिर्यस्येति निरुक्तेः। रूढियोगमपहरतीति न्यायेन। तत्स्वरूपं तु तदनन्तांशसम्भवमिति अनन्तस्य श्रीबलरामस्यांशेन ज्योतिर्विभागरूपविशेषेण सम्भवः सदाविर्भावो यस्य तदित्यर्थः।

निखिलमन्त्रगणसेवितस्य श्रीमदष्टादशाक्षरगोपालमहामन्त्रराजस्य मुख्यपीठमिदमेवेत्याह। कर्णिकारमित्यारभ्य कामबीजेन सङ्गतम् इत्यन्तेन अत्र प्रकृतिमन्त्रस्य स्वरूपं श्रीकृष्ण एव कारणरूपत्वात् पुरुषोऽपि तदधिष्ठातृ-

देवतारूपः स एव दृश्यते। चायं चतुररूपेण मन्त्रे मन्त्रकारणरूपत्वेन वरणसमुदायरूपत्वेन अधिष्ठातृदेवतारूपत्वेन देवतारूपत्वेन चेति। तथाहि— श्रीगोपालतापनीयं श्रुतिः—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो जन्ये जन्ये पञ्चरूपो बभूव।
कृष्णास्तथैको जगद्धितार्थं शब्देनासौ पञ्चपदो विभाति।।

तथा हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि—

वाच्यत्वं वाचकत्वं च देवतन्मन्त्रयोरिह।
अभेदेनोच्यते ब्रह्मंस्तत्त्वविद्भिर्विचारतः।।

इति दुर्गाया अधिष्ठातृत्वं च। शक्तिशक्तिमतोरभेदात् श्रीकृष्णस्यैव दुर्गा नाम शक्तिः। अतो नेयं माया, मायांशभूता दुर्गा तथा च परमागमचूडामणौ नारदपञ्चरात्रे श्रुतिविद्यासम्वादे जानत्येका परकान्तं सैव दुर्गा तदात्मिका।

या परा परमा शक्तिर्महाविष्णुस्वरूपिणी।
यस्य विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः।
मुहूर्ताद् देवदेवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा।
एकेयं प्रेम सर्वस्वभाव श्रीगोकुलेश्वरी।।
अनया सुलभो ज्ञेय आदिदेवोऽखिलेश्वरः।
भक्तिर्भजनसम्पत्तिर्भजते प्रकृतिः प्रियम्।।
ज्ञायतेऽत्यन्तदुःखेन सेयं प्रकृतिरात्मनः।
दुर्गेति गीयते सद्भिरखण्डरसवल्लभा।।
अस्यावरिका शक्तिर्महामायाऽखिलेश्वरी।
यया मुग्धं जगत्सर्वं सर्वे देहाभिमानिनः।।

इति तत्पत्राणि श्रियामपीत्यत्र बहुवचनं पूजार्थम्। श्रियस्तत्प्रेयस्या गोपीरूपायाः श्रीराधिकायाः उपवनरूपाणि धामानि इत्यर्थः। गोपीरूपत्वं चास्य मन्त्रस्य तन्नामलिङ्गगतत्वात्। अथ च चतुरस्रेयमन्तर्मण्डलं श्रीवृन्दावनाख्यं ज्ञेयम्। तथा च वृहद्वामने श्रुतिवाक्यम्—

आनन्दरूपमिति यद्वदन्ति हि पुराविदः।
तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हितः।।

श्रुत्वैव दर्शयामास सलोकं प्रकृतेः परम्।
केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्यगम् ।

पत्रवृन्दावनं नाम कामदुघैर्द्रुमैः मनोरमम् निकुञ्जादयं सर्वर्त्तुसुखसंयुतमित्यादि।।
उक्तश्चायं गोलोकः श्रीमद्भागवते–

नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम्।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत्।।
ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम्।
अपि नः स्वगतिं सूक्ष्ममुपाधास्यदधीश्वरः।।
इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक्स्वयम्।
सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत्।।
जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः।
उच्चावचासु गतिसु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्।।
इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्।।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः।।
ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा।।
नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः।
कृष्णं च तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः।।

स्वगतिं=स्वधाम इत्यर्थः

(१०/२८/१०-१७)

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—अथ श्रीभगवान् के लोक (धाम) भी चिदानन्दमय नित्य हैं। वे भगवान् कहाँ रहते हैं, वे अपनी महिमा में स्थित रहते हैं। यह छान्दोग्योपनिषद् में उल्लिखित है। श्रीवृन्दावन नामक धाम चिदानन्दमय होकर श्रीभगवान् की क्रीडा का स्थान कुञ्ज, उपकुञ्ज, सभा, सरोवर, नदी, महल, वन, उपवन, बावड़ी, कुआँ, तालाब आदि; गुल्म=झाड़ी, लता, औषधि आदि रूप से जानना चाहिये। जैसे कि भगवान् श्रीपद्माचार्य ने कहा

है—श्रीधाम वृन्दावन के कुञ्ज-गुल्मादिरूप कृष्णक्रीडा के लिये जानना चाहिये। चिद्धन की विचित्रता यही कारण से है। श्लोक में चकार से गोलोक आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। आज भी श्रीभगवान् जिस नवकानन............ श्रीधामवृन्दावन में वंशी-ध्वनि करते हैं, उस वन की शोभा अपूर्व है। पुष्पित वनराजियों पर बैठे मतवाले भ्रमर एवं पक्षीगण मधुर कलरव कर रहे हैं; जिससे नदी, पर्वत, सरोवर सभी जगह प्रतिध्वनियाँ गूँज रही हैं। मधुपति यदुपति श्रीपति कृष्ण ने अद्भुत गोप-वेष धारण कर वेणु-वादन करते हुये गौओं को चराते हुए बलरामजी और व्रजवासी ग्वाल-बालों के साथ वन में प्रवेश किया है। अरी सखी! यह वृन्दावन वैकुण्ठलोक तक पृथ्वी की कीर्ति का विस्तार कर रहा है; क्योंकि यशोदानन्दन श्रीकृष्ण के चरणकमलों के चिह्नों से यह चिह्नित हो रहा है। श्रीधाम वृन्दावन में गिरिराज गोवर्द्धन पर श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हैं; उसे सुनकर मतवाले मोर नाचते हैं, जिसे देखकर सब पशु-पक्षी अपनी क्रिया छोड़कर चित्र की भाँति हो जाते हैं, वैकुण्ठधाम को अप्राकृतत्व परमागम चूड़ामणि श्रीनारदपञ्चरात्र में बताया है—जितं स्तोत्रं में, निम्न प्रकार वर्णित है—जिसका वैकुण्ठ नाम है वह वैकुण्ठलोक दिव्य छः गुणों के ऐश्वर्य से युक्त है, अवैष्णवों के लिये अप्राप्य है। अनन्यचित्त से श्रीभगवद्भक्ति करने वाले वैष्णवजनों के लिये ये पाँच प्रकार के वैष्णव-संस्कार कहे गये हैं—

विहिताः पञ्चसंस्काराः युक्तस्यानन्यचेतसः।
तापपुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी हि पञ्चसंस्काराः परमैकान्त्यहेतवः।।
तापादिपञ्चसंस्कारी मन्त्ररत्नार्थतत्त्ववित्।
वैष्णवः स जगत्पूज्यो याति विष्णोः परं पदम्।।

१.ताप—भगवान् श्रीविष्णु के आयुधभूत शङ्ख-चक्रादि तप्तमुद्रा द्वारकाधाम में जाकर धारण करना।

२.ऊर्ध्व पुण्ड्र—ललाट-पटलादि अङ्गों में गोपीचन्दन से द्वादश तिलक धारण करना।

३.नाम—वैष्णवसम्प्रदायानुसार नाम रखना; जैसे—रामदास, कृष्णदास इत्यादि तथा हरिकीर्तन करना।

४.मन्त्र—अपनी सम्प्रदाय-परम्परा से प्राप्त अष्टादशाक्षरादि मन्त्र से दीक्षित होना; पुस्तक के आधार पर नहीं।

५.याग—भगवान् श्रीकृष्ण के अर्चावतार शालिग्रामादि की नियम पूर्वक सेवा-पूजा करें।

उपर्युक्त तापादि पञ्च संस्कारों से युक्त मन्त्ररत्न के तात्पर्य को यथार्थ रूप से जानने वाला संसार के पूजनीय वैष्णव भगवान् श्रीविष्णु के परम पद (धाम) को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार निम्बार्कशास्त्र में पञ्च संस्कारों का विधि-विधान कहा गया गया है। ये पञ्चसंस्कार प्रेमलक्षणा भक्ति तथा श्रीकृष्ण की प्राप्ति के कारण हैं। आगे ग्रन्थकार अतिविस्तार से कहेंगे।

श्रीभगवद्धाम सत्त्व, रज और तम से सर्वथा वर्जित हैं, जिसमें नित्य सिद्धेश्वर लोग विराजमान रहते हैं। वह श्रीभगवल्लोक सभा, महल, वन, उपवन, वापी, कूप, तडाग, वृक्षखण्डों से शोभायमान हैं। वह अप्राकृत नित्य लोक देवगणों द्वारा वन्दनीय है। दश सहस्र सूर्य के समान उसकी कान्ति=चमक है। प्रकृष्ट सत्त्व से सम्पूर्ण है। मैं उसे कब नेत्रों से देखूँगा? अग्नि और सूर्य से भी विशेष प्रकाशमान वह महात्मा भगवान् श्रीविष्णु का स्थान है, इत्यादि श्रीमहाभारत में लिखा है। सहस्र स्थून का जिसमें विस्तार है; क्षय, तम और रज से परे है। जो अध्यक्ष परम व्योम हैं। जिनमें पहले साध्यदेव हैं, वह विष्णु का परमपद है। उस परमपद को सूरि=भगवान् अनन्य परम भक्त पार्षदजन देखते हैं। गोकुल नामक महान् स्थान सहस्रपत्र कमल पर विराजमान है। उसकी कर्णिका में उनका धाम है। वे अनन्त हैं। जो शेषजी उनके अंश से प्रकट हुए हैं। जिसमें बड़ी कर्णिका षट्कोष=छः कोने की वज्र करके कीलित है। छः अङ्गषट् पदी स्थान है, प्रकृति से और पुरुष से युक्त है। जो प्रेमानन्द, महानन्द रस से ही अवस्थित है। ज्योतिरूप से, मन्त्र से और कामबीज से सङ्गत है। किञ्जल्क उसके अंश और उसके पत्ते श्री हैं। वह सब ओर से अद्भुत=अलौकिक श्वेतदीप नाम का है, चौकोर है। चार मूर्तियाँ १.वासुदेव, २. सङ्कर्षण, ३. प्रद्युम्न और ४.अनिरुद्ध—ये चार व्यूह हैं। ऊँचे, नीचे, दिशा, विदिशा में दस शूलों से आनद्ध हैं। १.महापद्म, २.पद्म, ३.शङ्ख, ४.प्रकथ, ५.कच्छप, ७.मुकुन्द, ८.लीला। आठ सिद्धियाँ—१.अणिमा, २.महिमा, ३.लघिमा, ४.प्राप्ति, ५.प्राकाम्य, ६. शित्वता, ७.कामवशायिता, ८.वशिता, जिनकी सेवा में तत्पर हैं। मन्त्ररूप जो दस दिक्पाल उनसे वे चारों

ओर से घिरे हुए हैं। श्याम-गौर रक्त-शुक्ल पार्षद श्रेष्ठों से सुशोभित हैं। विमलादि अद्भुत शक्तियों से जो शोभायमान हैं। गोकुल यह नाम कहने से गाय व गोपियों का निवासरूप गोलोकधाम का वर्णन किया गया है विवक्षित=प्रसिद्ध है। गोकुल अर्थात् जिसकी गोकुल यह आख्या (नाम) रूढि है। रूढि योग को हरता है। इस न्याय से उसका स्वरूप वर्णन कर रहे हैं। वह अनन्त के अंश से उत्पन्न हुआ अर्थात् अनन्त जो श्रीबलरामजी अनेक अंश ज्योतिविभाग रूप विशेष से सदा आविर्भाव जिसका है, वह।

समस्त मन्त्रसमूहों से सेवित श्रीमद् अष्टादशाक्षर गोपालमहामन्त्रराज का मुख्य पीठ है, यही कहा है। कर्णिकार से आरम्भ करके कामबीज तक सङ्गति है। अन्त-पर्यन्त यहाँ प्रकृति मन्त्र का स्वरूप श्रीकृष्ण ही कारणरूप से पुरुष भी हैं, उसके अधिष्ठातृ देवतारूप वही दिखता है और यह चार रूप से मन्त्र में मन्त्र के कारणरूप से अक्षरसमूहरूप से अधिष्ठाता है, देवतारूप से देवता है। वैसे ही श्रीगोपाल तापनीय श्रुति में उल्लिखित है—जिस प्रकार वायु संसार में प्रवेश कर देह-देह में पाँच रूप में होता है, उसी प्रकार एक अद्वितीय श्रीकृष्ण ही जगत् के हित=कल्याण के लिये शब्द से वह पञ्चपद प्रकाशित हो रहा है। वैसे ही हयशीर्षपञ्चरात्र में वर्णित है—वाच्य-वाचक देवता मन्त्र तत्त्व को जानने वाले सुधीजन विचार से इन चारों को भेद-रहित बतलाते हैं। इसी प्रकार माँ दुर्गा को गोपालमन्त्र की अधिष्ठातृ **देवतापन** है, शक्ति और शक्तिमान का अभेद है, श्रीकृष्ण का ही दुर्गा नाम शक्ति है, इसलिये यह दुर्गा माया नाम की अंशभूत नहीं है। माँ दुर्गा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण का ही रूप है—

'यः कृष्णः सैव दुर्गा या दुर्गा कृष्ण एव सः'

(गौतमीयकल्प)

जो कृष्ण, वही दुर्गा हैं और जो दुर्गा हैं, वही कृष्ण हैं। जो विद्वान् वैष्णवमहानुभाव शास्त्रीय विधि-विधान अनुसार भाव-भक्ति-श्रद्धा- निष्ठा से अष्टादशाक्षर गोपाल-मन्त्र जपते हैं, वे ऋष्यादि न्यास करते समय कृष्ण-मन्त्र की अधिष्ठात् देवता प्रत्यह (प्रकृति दुर्गा अधिष्ठातृ देवता) देवी का स्मरण करके श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थं-परितोषणाय जपे विनियोगः ऐसा मन-मन में करते हैं।

वैसे ही और परमागम चूड़ामणि में, नारदपञ्चरात्र में और श्रुति-विद्या संवाद में है, जो एक परम कान्त को जानता है, वही दुर्गा तदात्मिका है। जो सबसे महापरमा शक्ति महाविष्णुस्वरूप वाली है, जिसके विज्ञानमात्र से देवों के देव की प्राप्ति हो जाती है; अन्यथा नहीं, एक यही श्रीगोकुलेश्वरी द्वारा ही आदिदेव आदिपुरुष सर्वेश्वर भगवान् श्रीगोविन्द ज्ञेय हैं, सुलभ हैं। भजनं भक्तिः अर्थात् भजन ही भक्ति है। भक्ति, भजन, सम्पत्ति, प्रकृति प्यारे को भजता है। वह यह आत्मा की प्रकृति अत्यन्त दुःख से जानी जाती है। अखण्ड रसवल्लभा का शिष्टजन दुर्गा इस नाम से वर्णन करते हैं। इन्हीं की आवरिका शक्ति महामाया सर्वेश्वरी है, जिससे सारे संसार, सारे देहाभिमानी मोहित हो रहे हैं। श्रीमद्भागवत में श्रीशुकदेवजी ने भी यही बात बतायी है—

विष्णोर्माया भगवति यया सम्मोहितं जगत्। (१०/१/२५)।

वह भगवान् श्रीविष्णु की वह ऐश्वर्यशालिनी आवारका महामाया योगमाया है, जिसने सारे जगत् को मोहित कर रखा है। उस कमल के पत्ते श्रीरूप हैं। बहुवचन पूजा के लिये है। श्री का उसकी प्यारी गोपीरूप है। उनके उपवनरूप धाम हैं, गोपीरूप जो राधिका हैं, उनके नाम से यह मन्त्र चिह्नित है, चतुस्रेय अर्थात् चौकोर अन्तर्मण्डल श्रीवृन्दावन नाम जिसका, उसे जानना चाहिये। उसी प्रकार बृहद्वामनपुराण में श्रुति के वाक्य हैं—

प्राचीन इतिहास को जानने वाले महात्माओं ने जिसे आनन्दरूप ही कहा है, उस रूप का हमें दर्शन कराईये । हमारे हित के लिये बड़ा वरदान यही वर प्रदेय है। सुनकर के ही प्रकृति से परे नित्य श्रीभगवल्लोक का दर्शन कराया। केवल अनुभव आनन्दमात्र अक्षर=अविनाशी मध्य में विराजमान, यहाँ वृन्दावन नामक वन है, जहाँ के समस्त वृक्ष कामनाओं के दोहन करने वाले हैं अर्थात् यहाँ के वृक्ष बड़े उदार हैं, ये भक्तों को मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करने में समर्थ हैं। वृन्दावन मनोरम निकुञ्जों से युक्त है। वृन्दावन सभी ऋतुओं के सुखों से भरा हुआ है। यह गोलोक है, श्रीमद्भागवत में बताया गया है—

नन्दबाबा ने वरुणलोक में लोकपाल के अतीन्द्रिय=इन्द्रियातीत ऐश्वर्य और सुख-सम्पत्ति को देखकर और वहाँ के निवासी उनके पुत्र श्रीकृष्ण के चरणों में नतमस्तक होकर दण्डवत् प्रणाम कर रहे हैं। उन्हें बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने ब्रज में आकर अपने जाति भाइयों को सारी बातें कह सुनायीं।

श्रीमद्भगवान् के प्रेमी गोप श्रीकृष्ण को ईश्वर मानकर ऐसा समझने लगे कि अरे! ये तो स्वयं साक्षात् श्रीभगवान् हैं। तब उन्होंने मन ही मन बड़ी उत्सुकता से विचार किया कि क्या कभी जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हम लोगों को भी अपने धाम का दर्शन करायेंगे। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण एक ही साथ सबको देखने वाले हैं। श्रीभगवान् अपने व्रजवासी ग्वाल-बालों की यह अभिलाषा जान गये और उनका सङ्कल्प सिद्ध करने के लिये कृपा से भरकर इस प्रकार ध्यान करने लगे—इस संसार में जीव अज्ञानवश शरीर में आत्मबुद्धि करके भाँति-भाँति की कामना और उनकी पूर्ति के लिये नानाविध कर्म करता है। फिर उनके फलस्वरूप देवता मनुष्य, पशु-पक्षी आदि ऊँची-नीची योनियों में भटकता फिरता है। अपनी असली गति को अर्थात् अपने धाम को नहीं जानता। परम कृपालु-दयालु भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार सोचकर उन गोपों को प्रकृति से परे अपने लोक का दर्शन कराया।

श्रीभगवान् ने पहले अपने स्वरूप का उनको साक्षात्कार कराया, जो सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, अनन्त स्वरूप और ब्रह्मस्वरूप है। सनातन और ज्योतिस्वरूप है। निर्मलात्मा महापुरुष ही जिसे देखते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने अक्रूरजी को अपने स्वरूप को जिस जलाशय में दिखलाया था, उसी ब्रह्महृद में श्रीभगवान् उन गोपों को ले गये। वहाँ उन लोगों ने उसमें डुबकी लगायी। जब वे ब्रह्महृद में प्रवेश कर गये तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उसमें से उनको निकालकर अपने परम धाम का दर्शन कराया। उस दिव्य धाम को देखकर नन्द आदि गोप तो ब्रह्मानन्द के समुद्र में डूब गये।

वहाँ उन्होंने देखा कि सारे वेद मूर्तिमान होकर भगवान् श्रीकृष्ण का स्तवन कर रहे हैं। यह देखकर वे सबके सब परम विस्मित हो गये। **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (श्रीमद्भगवत् गीता १५/१५) हे अर्जुन! सारे वेद मुझको ही प्रकट करते हैं अर्थात् सारी श्रुतियाँ परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण का ही प्रतिपादन करती हैं। श्रीमद्भागवत-प्रवक्ता श्रीशुकदेवजी महाराज, राजा परीक्षित से कहते हैं—

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामान्यतात्मजम्॥

सारे वेद, सारे उपनिषद्, सांख्य, योग और भक्तजन जिनके माहात्म्य

का कीर्तन-वर्णन तथा गान करते हैं; उन्हीं भगवान् श्रीहरि को यशोदा मैय्या अपना पुत्र मानती हैं।

सूक्ष्मां दुर्ज्ञेयां अणुः पन्था वितत पुराण इत्यादौ श्रुतेः। उपाध्यास्यदुपाध्यास्यति अस्मान् प्रापयिष्यतीत्यर्थः। इत निश्चितवन्त इति शेषः। अयं व्रजवासिजनः अविद्यादिभिः उच्चावचासु मनुष्यतिर्यगादिरूपासु भ्रमन् स्वरूपम् अजानन् स्वलोकं गोकुलं ब्रह्मणः परमबृहत्तमस्यैव लोकगोलोकाख्यं ददर्श। ननु लोकं वैकुण्ठनामानमित्यादि श्रीनारदपञ्चरात्रे जितं ते स्तोत्रोक्त्या सर्वे पञ्चोपनिषद् च रूपा इति पाद्मोक्त्या पञ्चोपनिषत्प्रधानपञ्चाक्षरवाच्याप्राकृतद्रव्यानुविद्धवैकुण्ठान्तरस्यापि प्रतीतेः कोऽसौ ब्रह्महृद यस्तत्राह यत्रेति तथा च गोपानामिति षष्ठी निर्देशात् अयमेव गोलोकाख्य इति ज्ञायते। सर्वलोकोपरि विराजमानत्वं चास्य परमागमचूडामणौ श्रीनारदपञ्चरात्रे विजयाख्याने तत्सर्वोपरि गोलोकस्तत्र लोके परः स्वयं विहरेत् परमानन्दी गोविन्दोऽतुलनायक इति। देवः सर्वोपरि विराजमानत्वेऽपि सर्वगत एवायं श्रीगोलोकः श्रीमन्नारायणवत् प्राकृताप्राकृतवस्तू व्यापकः। न यत्र माया किमुतापरे हरे रनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिता इति द्वितीयस्कन्दवर्णितम्।

कमलासनदृष्टवैकुण्ठवत् अत्रापि व्रजवासिभिर्दृष्ट इति भावः। अत्र भूमौ चायं श्रीगोलोकाख्यः वेदे प्रसिद्धः। तथाहि—यमुनातीरे गोकुलरम्ये विवसन्तं बालानन्दन हे गावः क्षोभन्तं मां वर्जितनाथमाकृषितोकं मा केशव निमा शोभिध्यात्मा परमात्मा मित्रः तस्यैधातोऽग्निस्त्रष्टाऽखिलभोक्ता विष्णुर्वंद्ये हे पङ्कजनेत्रमात्वं हृषीकेशं मापद्मोद्धवं मावेद शरीरमाकृतीमूर्तिमाविगताविगतीहे। इति सामवेदे विष्णुस्तोत्रे। वातायुश्मसिगमध्यैत्रगावो भूरि शृङ्गा अपासः अत्राहतदुरगा यस्य ब्रह्म परमं पदमवभवाति भूति ऋग्वेदे। या ते धामान्युश्मसीति विष्णोः परमं पदमवभाति भूरिति यजुर्वेदे।

एवं श्रीमदष्टादशाक्षरीगोपालविद्यायाः मुख्यपीठस्य श्रीगोलोकाख्यस्य श्रीचिदानन्दरूपत्वं सिद्धम्। अचिन्त्यशक्तित्वेनोभयत्रापि नित्यत्वं सिद्धम्। भोक्तृत्वं च पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छतीत्यादौ प्रसिद्धमेव। तस्यैवाहुः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य इत्यादौ श्रुतौ च। न चानश्नन्नन्यो अभिचाकशीति श्रुतिविरोध इति वाच्यं तस्याः प्राणधारणभूताशननिषेधविषयत्वात्। प्रीतितस्तु-

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन इत्यादिवचनात्। सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो भगवान् शुभान् भोगान् भुनक्त्येवेति सर्वपरमास्तिकानां मतम्।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—स्व गति नाम से श्रीभगवान् का परम धाम सूक्ष्म एवं दुर्ज्ञेय है—**दुःखेन एव ज्ञातुमर्हतीति;** जो दुःख से ही जानने योग्य है। चूँकि यह मार्ग सूक्ष्म है, विस्तृत है, प्राचीन है इत्यादि श्रुति में वर्णित है। हम लोगों को भगवान् श्रीश्यामसुन्दर अपने लोक की प्राप्ति करायेंगे—ऐसा निश्चय करने वाले ये ब्रजवासी जन जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पाँचों दोषों से ऊँची-नीची मनुष्य, पशु-पक्षी आदि रूपों में भटकता हुआ अपने स्वरूप को न जानने वाले अर्थात् अपने नित्य परम धाम को दिखलाया है। ब्रह्म के परम बृहत्तम (बहुत बड़ा) ही लोक है, उसे गोलोक नाम से देखते हैं। यहाँ शङ्का यह है कि लोक वैकुण्ठ नाम है जिसके, इत्यादि श्रीनारदपञ्चरात्र में 'जितं ते स्तोत्रं' में सारी पाँच उपनिषद् रूप, पद्मपुराण की उक्ति से पाँच उपनिषद् उपनिषत्प्रधान पाँच अक्षर वाच्य अप्राकृत द्रव्य को बिंधा है, वैकुण्ठान्तर की प्रतीति होती है। वह कौन ब्रह्महृद है? उसपर कहते हैं कि यहाँ पर अक्रूरजी पहले गये थे। गोपानां इस षष्ठी के निर्देश से यही गोलोक नाम है, ऐसा जाना जाता है। सभी लोकों के ऊपर विराजमान होने के कारण, इस लोक के विषय में परम आगम चूड़ामणि श्रीनारदपञ्चरात्र में लिखा है— विजय आख्यान में वह गोलोक सबके ऊपर है, जहाँ स्वयं परमानन्दी गोविन्द अतुल नायक विहार करते हैं। देव सर्वोपरि विराजमान रहने पर भी सर्वव्यापक ही, यह श्रीगोलोक है। श्रीमन्नारायण की भाँति प्राकृत व अप्राकृत वस्तु व्यापक है। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में वर्णित है—जहाँ माया नहीं है और जहाँ श्रीहरि के सेवकजन सुर एवं असुरों से पूजित हो रहे हैं, उसके बारे में दूसरा कहना ही क्या है? जैसे ब्रह्माजी ने देखा है वैकुण्ठ के समान; वैसे यहाँ भी व्रजवासी ग्वाल-बालों ने देखा—यही भाव है। इस भूमि में और यह श्रीगोलोक नाम वेद में प्रसिद्ध है। यमुना के किनारे रमणीय गोकुल में बसे बालानन्दन यह गाँव, माया को जो क्षोभ करता है, जिसके कोई नाथ नहीं लक्ष्मी के अर्थ बनाया है, ओक नाम स्थान लक्ष्मी-सहित केशव नितरां शोभित अध्यात्मा परमात्मा मित्र उसके वर्द्धन से अग्नि की रचना करने वाला, सबको भोगने वाला, ऐसे व्यापक श्रीपरमात्मा की हम वन्दना करते हैं। हे पङ्कजनेत्र! लक्ष्मी-सहित तुम हृषीकेश लक्ष्मी-सहित कमल

हो जाते, ऐसे तुमको लक्ष्मी-सहित वेद शरीर को लक्ष्मीसहित आकृत मूर्ति को लक्ष्मी-सहित। विगति-अविगति यह सामवेद के विष्णुस्तोत्र में वातानि=वस्तूनि प्रकाशमान स्थान जहाँ बड़ी सींग वाली गाय की शोभायमानता को हम ध्यान करते हैं। वहाँ कई सौ बड़े पराक्रम वाले विष्णु के परमपद में बहुत प्रकाश हो रहा है। यह ऋग्वेद में है। जो तुम्हारे धाम प्रकाशमान हैं अर्थात् भगवान् श्रीवष्णु का परमधाम अथवा परमपद बड़ा प्रकाशित है। यह यजुर्वेद में है। ऐसे ही अष्टादशाक्षर वाली गोपालविद्या को, जो गोलोक का मुख्य पीठ है, वह चिदानन्द रूप सिद्ध हुआ। गोलोक की अचिन्त्य शक्ति है, उसके ऊपर नीचे नित्यपन सिद्ध हुआ। श्रीभगवान् के भोक्तापन को देखिये; गीताशास्त्र में स्वयं श्रीहरि ने कहा है—जो भक्त के साथ मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल प्रदान करता है, उस संयतचित्त भक्त के वह उपहार को मैं ग्रहण करता हूँ (गी०९/२६)। यह प्रसिद्धि ही है। शङ्का करने वाले कहते हैं—जीव मीठे फलों को खाता है, ईश्वर कुछ नहीं खाता है; केवल देखता है। ऐसा श्रुतिशास्त्र में उल्लिखित है, तो विरोध हो गया। उसका समाधान यह है कि श्रुतिशास्त्र प्राणधारण के भोजन का निषेध करते हैं; प्रीति से तो **तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन** इत्यादि वचन हैं। सत्यकाम सत्यसङ्कल्प श्रीभगवान् शुभ भोगों को भोगते ही हैं, यह सभी बड़े-बड़े आस्तिक सत्पुरुषों का मत है। जो भक्त एकादशी का व्रत करता है, वह परम स्थान को प्राप्त कर लेता है; जहाँ स्वयं भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं। जो वैष्णवशास्त्र को सुनते और पढ़ते हैं, लोक में वे मानव धन्य हैं। उन पर भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न रहते हैं। श्रीमद्भागवतशास्त्र में वर्णित है—

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयं ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्।।

(भा०३/२६/३)

एकः शुद्धः स्वयं ज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः।
सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्माऽऽत्माऽऽत्मनः परः।।

(भा०४/२०/७)

अनादि=स्वरूप से ही जन्म आदि छः विकारों से रहित हैं। अतत् व्याप्नोतीति आत्मा=जो निरन्तर चलता रहता है। पुरुष=श्रीभगवान् ही पञ्चमहाभूतों

से इन शरीरों का निर्माण करके इनमें जीवरूप से शयन करते हैं। और श्रीभगवान् ही देव, नर और तिर्यक् आदि योनियों के अनुरूप तत्तद् हृदयों में निवास करते हैं। निर्गुण-स्वरूप से ही माया के गुणसम्बन्ध से सर्वथा रहित है। परमात्मा प्रकृति से परे है। प्रत्यक् धामा है; स्वयं ज्योतिप्रकाश है; इन्हीं से ही सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है।

जैसे सभी की आँखों में एक ही सूर्य होता है; ठीक वैसे ही समस्त जड़ चेतनों में एक है, शुद्ध है, स्वयं प्रकाश है, मायिक गुणों से सर्वथा परे है। समस्त कल्याणगुणों का आश्रय है, सर्वगत है, किसी से अनावृत=ढका नहीं है। सबका साक्षी है। आत्मा की आत्मा नहीं है, वह परमात्मा निरात्मा सबसे परे है। धर्मराज युधिष्ठिरजी कहते हैं—

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र।।

(भा०१०/७२/६)

हे भगवन्! आप सबके आत्मा हैं, समदर्शी हैं, ब्रह्म हैं, आप अपनी महिमा में स्थित रहते हुए निज अनन्त सुख का अनुभव करते हैं; इसलिये आप स्वभाव से ही अविद्या आदि समस्त दोषों से रहित हैं। यह अपना है और यह पराया है—ऐसी भेदबुद्धि आपमें नहीं है। आपकी सेवा करने वालों को ही कल्पवृक्ष की भाँति आपका प्रसाद प्राप्त होता है, सेवा के अनुरूप ही फल मिलता है। इससे आपमें विषमता या निर्दयता आदि के दोष नहीं आते। चूँकि आप स्वभाव से ही निर्दोष हैं, सभी प्राणियों में सम तथा बृहत्तम हैं।

पूर्वोक्त समस्त शास्त्रवाक्यों का सार सङ्कलन करके भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने स्वयं अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहा है—

अनन्ताचिन्त्यस्वाभाविकस्वरूपगुणशक्त्यादिभिर्बृहत्तमो यो रमाकान्तः पुरुषोत्तमो ब्रह्मशब्दाभिधेयस्तद्विषयिका जिज्ञासा सततं सम्पादनीया।

जो अनन्त, अचिन्त्य और स्वाभाविक स्वरूप-गुण-शक्ति- प्रभृति द्वारा सब ओर से बृहत्तम (बड़ा—जिसकी अपेक्षा कोई विषय में सर्वश्रेष्ठ और महत्तम और कुछ है ही नहीं, उसे बृहत्तम कहते हैं), वही रमाकान्त (राधाकान्त) पुरुषोत्तम (कृष्ण) ही ब्रह्म शब्द के अभिधेय (वाच्य) हैं। यानी वे ब्रह्म शब्द से पुकारे जाते हैं एवं उस पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को जानने के लिये

सदा-सर्वदा इच्छा और चेष्टा करनी चाहिये। और भगवान् भाष्यकार श्रीनिम्बार्काचार्य ने सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् अनन्तगुण-युक्तरूप को ही ब्रह्म का लक्षण कहा है— **अस्याचिन्त्यविचित्रसंस्थानसम्पन्नस्यासंख्येयनामरूपादि-विशेषाश्रयस्याचिन्त्यरूपस्य विश्वस्य सृष्टिस्थितिलया यस्मात् सर्वज्ञाद्यगुणाश्रयाद् ब्रह्मेशकालादिनियन्तुर्भगवतो भवन्ति तदेव पूर्वोक्तनिर्वचनविषयं ब्रह्म।**

(ब्र०सू०निम्बार्कभाष्य १/१/२)

हे भगवन्! आप परम ब्रह्म हैं, परमधाम हैं, प्रकृति से परे हैं, परमपुरुष हैं। आप स्वेच्छा से (अपनी इच्छा से) अर्थात् स्वगणों की, भक्तगणों की इच्छा से समय पर नानाविध शरीर धारण करते हैं। इस समय आप भक्तवाञ्छा-पूरण के निमित्त ही इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए हैं।

अतएव पूर्ण ब्रह्म ही श्रीकृष्ण रूप में अवतीर्ण होने से वह साक्षात् पूर्ण ब्रह्म हैं। यही बात अर्जुन ने भी कही—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।

हे भगवन्! आप परबह्म हैं, परमधाम हैं, परम पवित्र हैं। शाश्वत पुरुष हैं, आदिदेव हैं, अजन्मा हैं, दिव्य=अलौकिक हैं, अद्भुत हैं, सर्वव्यापक हैं। (गीता१०/१२) श्रुति के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन हमारे परात्पर श्रीगुरुदेव दार्शनिकश्रेष्ठ तत्त्वविद् पूज्यपाद श्रीसन्तदास काठियाबाबाजी महाराज ने जिस प्रकार किया है, उसको यहाँ संक्षिप्त रूप से उद्धृत करते हैं—

श्रुति ने ब्रह्म को एक-अद्वैत, नित्य, पूर्णस्वभाव और चतुष्पादयुक्त कहा है, त्रिगुणात्मक जगत् उसका एक पाद है, भोक्ता (द्रष्टा चित् शक्तिरूप) जीव दूसरा पाद है, इन दोनों का नियन्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ईश्वर तीसरा पाद है और सर्वाश्रय सर्वातीत चौथा मूल अक्षरपाद है। विचार करने से भी प्रकट होता है कि यह विश्व अनन्त है, किन्तु इसके अंशसमूह एक-दूसरे से अलग और स्वतन्त्र नहीं हैं। वे आपस में एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर एक ही साथ इस विश्व की विशेष-विशेष अवस्थाओं को प्रकाशित करके क्रमशः अनन्त काल से किसी विशिष्ट लक्ष्य की ओर धावित हो रहे हैं। उदाहरण के लिये एक बड़े भारी यन्त्र के असंख्य अंशों को लीजिये। प्रत्येक अंश कोई न कोई विशिष्ट कर्म करता है, जिसे दूसरा कोई अंश नहीं करता; परन्तु सभी के

विशिष्ट कर्मों को एकत्र करने पर दीख पड़ता है कि सभी अंश सम्मिलित रूप से एक विशेष फल को सिद्ध कर रहे हैं। यन्त्र के सभी अंश आपस में अङ्गाङ्गीभाव से रहकर सम्मिलित रूप से उसी विशिष्ट फल के पाने के लिये सुभीता (सुयोग) दे रहे हैं। देखने में तो ये अंश अलग-अलग काम करते हुए जान पड़ते हैं; फिर भी ये वास्तव में विच्छिन्न नहीं हैं। इसी प्रकार जगत् के गठन और कार्यों की परीक्षा करके तत्त्वदर्शी पण्डितों ने यह निश्चय किया है कि यह अनन्त नामरूप वाला जगत् एक सूत्र में गुथा हुआ है। इसके सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, बृहत्, बृहत्तर और बृहत्तम सभी अंश देखने में तो विभिन्न जान पड़ते हैं, विशिष्ट—विशिष्ट कार्य के कर्तारूप में दीखते हैं, फिर भी सभी का आपस में सम्बन्ध है। वे एक सङ्ग इस जगत् को किसी विशिष्ट लक्ष्य की ओर लिए जा रहे हैं। इस प्रकार जगत् के कार्य-कौशल पर दृष्टि रखने से निश्चित रूप से यही अनुमान होता है कि कोई इसका नियन्ता (मालिक) है, जो इसे किसी विशिष्ट लक्ष्य की ओर परिचालित कर रहा है। एकाग्र चित्त से विचार करने पर दीख पड़ता है कि इस जगत् में त्रिविध भाव नित्य संयुक्त रहते हैं, पहले तो यह दीख पड़ता है कि इसमें एक ऐसी शक्ति है, जो इस महान् यन्त्ररूप अनन्त विश्व के समग्र पृथक्-पृथक् भागों को ऐसे सम्मिलित रूप में परिचालित कर रही है, जिससे सभी कार्य के फलस्वरूप एक विशिष्ट दशा प्रकट होती है। इस शक्ति को नियन्तृ-शक्ति कहते हैं। इसका दूसरा नाम शक्ति है। इस नियन्तृ-शक्ति के अधीन तथा उसके अङ्गीभूत रूप से जगत् में और भी दो भाव वर्तमान में दीख पड़ते हैं। उनसे एक है—भोक्ता और दूसरा है—उस भोक्ता का भोग्य (एवं भोगसाधन, स्थानीय) भोग्य स्थानीय के शरीर-क्षेत्र नाम रखे गये हैं और भोक्ता को शरीरी-जीव, क्षेत्रज्ञ आदि नाम से कहा जाता है। शरीर है, शरीर का निवास-स्थल पुरी। इस पुर में रहकर जो भोग करता है, आराम करता है, इसी से उसे (पुरि शेते इति पुरुषः) पुरुष कहा जाता है। अर्थात् जो पुर में=जड़ अचेतन शरीर में सोता है, उसे पुरुष कहते हैं। भोग भी एक प्रकार का अनुभूति ज्ञान है और वह पुरुष के स्वरूप का निश्चय करने हेतु तत्त्वदर्शी ऋषियों ने उसे ज्ञाता तथा ज्ञानस्वरूप कहा है; किन्तु ज्ञाता होने पर भी वह नित्य ही किसी विशेष वस्तु अथवा भाव का ज्ञाता मात्र है। सारे अनन्त विश्व की भूत, भविष्यत् और वर्तमान दशा एक साथ उसके ज्ञान का विषय नहीं होती है। इसका कोई न कोई अंशमात्र एक

ही समय में उसके ज्ञान का विषय होता है। वह अपनी कल्पना के द्वारा कितना ही क्यों न धारण करे; किन्तु उसके आगे भी विश्व वर्तमान रहता है। अतएव स्पष्ट है कि जीव की धारणा अन्तर्विशिष्ट होती है। यह किसी न किसी विशिष्ट वस्तु अथवा भाव की ही धारणा है, इसी से जीव को 'विशेषज्ञ' कहा जाता है। उसके इस ज्ञातृत्व का कभी लोप न होने से उसके नित्य ही ज्ञातास्वरूप बने रहने से उसके ज्ञान के विषयों का परिवर्त्तन हो जाने पर भी उसके द्वारा उसके स्वरूपगत ज्ञातृत्व में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है। अतएव शास्त्र उसे नित्य अक्षर स्वभाव कहते हैं।

इस पुरुष के ज्ञान (भोग के विषय) और साधनरूप में स्थित एक और भाव भी सर्वत्र वर्तमान देखा जाता है। वह उसी में अनुप्रविष्ट है। इसी को जीव का शरीर और वसतिस्थान कहा जाता है। जीव के वसतिस्थान शरीर के स्वरूप की आलोचना करके तत्त्वदर्शी ऋषियों ने निश्चय किया है कि वह त्रिगुणात्मक है। इन तीनों गुणों का नाम है—सत्त्व, रज और तम। इन त्रिगुणों के विभिन्न प्रकार विमिश्रण से यह अनन्त नाम-रूपविशिष्ट जगत् प्रकाशित हो रहा है। ये गुण आपस में एक-दूसरे को अभिभूत करके स्वयं आधिपत्य करने का यत्न कर रहे हैं। इस कारण हर घड़ी-पल पर जगत् के समग्र रूपों का परिवर्तन होता रहता है; किन्तु गुणों में से किसी के भी अस्तित्व का एकदम लोप नहीं हो जाता है। उनके विमिश्रण से जो प्रकाशित होते हैं, उन रूपों में ही परिवर्तन होता है।

सब गुणों का सर्वथा विनाश (अत्यन्ताभाव) कभी नहीं होता। सब गुण आपस में लड़ते-लड़ते शक्तिहीन होकर जब सबके सब निष्क्रिय रूप से विश्राम करते हैं, जब उनके बीच कोई वैषम्य नहीं रह जाता, किसी विशिष्ट गुण की क्रिया थोड़ी-सी भी अवशिष्ट नहीं रह जाती, सभी निष्क्रिय दशा में हो जाते हैं, तब उनकी उस दशा का नाम 'प्रकृति' है। इस प्रकृति दशा में गुणों की कोई क्रिया न होने से जगत् सर्वथा अप्रकाशित (अव्यक्त) रहता है, इसी से 'प्रकृति' को अव्यक्त भी कहते हैं। उक्त प्रकृति-दशा से ही जगत् के सारे दृश्य प्रकाशित होते हैं। इसी से सांख्यसूत्र में प्रकृति को प्रधान कहा है। परन्तु कोई जीव परिश्रम करते-करते बहुत ही थक जाने पर जिस प्रकार नींद में सो जाता है, लेकिन हमेशा नींद में नहीं रह सकता; दुबारा जग कर उठ बैठता है, उसी प्रकार गुण भी उक्त निष्क्रिय अव्यक्त प्रकृति दशा में कुछ समय

तक रहकर पुनः जागरित की भाँति उठकर कर्मोन्मुख हो जाते हैं और जगत् की रचनाकार्य करने लगते हैं। इसी से सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के अनन्तर सृष्टि का बारम्बार हेर-फेर होता रहता है। अतएव गुणों के ध्वंस हीन और नित्य होने पर भी विभिन्न रीति से मिश्रित होकर परिणाम प्राप्त होने की योग्यता उनमें रहने से उन्हें क्षर और परिणामी नित्य कहा है। किन्तु पुरुष के ज्ञातृत्वस्वरूप में कदापि परिवर्तन न होने से पुरुष को अक्षर और अपरिणामी नित्य कहा जाता है। जीव के पूर्ववर्णित भोग का तथा जगत् के अनन्त रूप में नित्य परिवर्तन का नियमन करने वाली जिस शक्ति के अस्तित्व का पहले उल्लेख किया गया है, उस शक्ति को ऐसी शक्ति कहते हैं और उसके धारक को उस शक्ति से सम्पन्न रूप में ईश्वर, उत्तम पुरुष इत्यादि नामों से कहा जाता है।

परमेश्वर सदा ही नियन्तृत्व शक्तियुक्त और परिवर्तन-विहीन है, इस कारण वह अक्षर है। वह सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक है, इस कारण नित्य सर्वज्ञ स्वभाव है। जीव की भाँति केवल विशेषज्ञ नहीं है। वह अपने में अनन्त जगत् रूप को प्रकाशित करके जीवरूप से उन सबका विशेष करके अनुभव करता है।

जीव (पुरुष) का दृश्य स्थानीय जगत् गुणात्मक है, वह ऐसा विचार करने से बोधगमय हो सकता है, जैसे दृश्यमान किसी भौतिक पदार्थ पर विचार करने से दीख पड़ता है कि उस पदार्थ के सम्बन्ध में हमें जो ज्ञान है, वह एक विशेष प्रकार के रूप, एक विशेष प्रकार के स्पर्श, एक विशेष प्रकार के रस, एक विशेष प्रकार के गन्ध और एक विशेष प्रकार के शब्द का ज्ञानमात्र है। रूप-स्पर्शादि की एक विशिष्ट समष्टि के अतिरिक्त और कुछ भी हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयीभूत नहीं होता; परन्तु प्रत्येक रूप-स्पर्श आदि की प्रत्येक समष्टि सदा परिवर्तित होती रहती है।

यदि एक गुलाब के फूल को मेज पर रख दिया जाय, तो कई दिनों के बाद दीख पड़ेगा कि उसका जो रूप-स्पर्श आदि पहले देखा गया था, उसमें सोलहों आने परिवर्तन हो गया है और अब उस फल के रूप-स्पर्श आदि दूसरे ही प्रकार के हो गये हैं। किन्तु ऐसा हो जाने पर भी हमारी इस धारणा में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता कि पहले जिस गुलाब को देखा था, वही यह वर्तमान गुलाब होने की हमारी धारणा बनी रहने का कारण है कि उक्त

रूप-स्पर्श आदि को हम गुलाब का गुण मानते हैं। गुणों के परिवर्तन हो जाने पर भी गुणी वस्तु (गुलाब) एक ही है, यह हमारी अलङ्घनीय धारणा है; परन्तु उक्त रूप-स्पर्श आदि गुणों के आश्रयीभूत जो पदार्थ हैं, उनके स्वरूप के सम्बन्ध में हमें कोई विशेष ज्ञान नहीं है। हम नहीं जानते कि उक्त गुणों के अतिरिक्त गुलाब का अपना स्वरूप कैसा, क्या है? यद्यपि यह सत्य है, तथापि उन रूप-स्पर्श आदि को उस वस्तु के ही गुण मानने की हमारी धारणा अलङ्घनीय बनी रहती है। ऐसे विचार के द्वारा हमें यह ज्ञान होना है कि रूप आदि प्रत्यक्षीभूत सभी गुण-विशेषमात्र हैं। इन्द्रिय आदि जो साधारण प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, उनको तो जीव के गुण अथवा शक्ति ही सब लोग समझते हैं। अतएव स्पष्ट है कि सारा जगत् ही गुणात्मक है। यह जीव शक्ति का भोग्य और भोगसाधन-स्थानीय है और ऐसी इसकी सृष्टि, पालन तथा नियमन करती है और अन्त में इसको त्यज कर देती है। इस ऐसी शक्ति, भोक्ता-शक्ति और भोग्य-शक्ति के आश्रयस्वरूप जो परम पुरुष वर्तमान है, जो सद्वस्तु उक्त त्रिविध शक्तिमय है, उसको परम अक्षर परब्रह्म परमात्मा भगवान् शब्द से कहते हैं। अतएव ब्रह्मस्वरूप का पूरा-पूरा वर्णन करने जाकर, श्रुति ने उसे चतुष्पादयुक्त कहा है। सर्वाश्रयीभूत परब्रह्म पाद (चरण) उसका अक्षरपाद है, ऐसी शक्तियुक्त सर्वज्ञ पाद उस अक्षर का ईश्वरपाद है, विशेषज्ञ जीव उसका जीवपाद है और भोग्यस्थानीय रूप-रस आदि जगत् पाद है। इन चतुर्विध=चार प्रकार के चरणों में ब्रह्म पूर्ण है। परन्तु पहले बताया गया अक्षर पाद ही अन्य तीनों चरणों का आश्रय है। अन्य तीनों चरण उस प्रथम पाद की ही त्रिविध शक्तिमती अवस्थायें हैं। उक्त त्रिविध शक्ति के आश्रयरूप से एक 'सत्' पदार्थ का ही वर्णन प्रथम पाद में किया गया है। अतएव ब्रह्म को चतुष्पादयुक्त कहने से वैसा खण्डविशिष्ट नहीं समझना चाहिये, जैसे कि जीव-शरीर हस्त-चरण आदि अवयवविशिष्ट होता है। इन सबकी समष्टिगत अवस्था को शरीर (देह) कहते हैं। कारण यह है कि प्रथमोक्त एक सद्वस्तु परम अक्षर की शक्ति के भेद को लक्ष्य करके ही द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरण (पाद) रूप से उसका वर्णन पृथक् भाव से किया गया है। मनुष्य की दर्शन-श्रवण आदि बहुत प्रकार की शक्तियाँ हैं; किन्तु प्रत्येक मनुष्य अखण्ड है, उसकी प्रत्येक शक्ति का आश्रय वही अखण्ड जीव है। जब उसे दर्शनकर्ता के रूप में देखा जाता है, तब वह एक ओर अविभक्त रहकर ही दर्शन करता है। उसका एक भाग दर्शन

करता है और अन्य भाग अन्य कार्य करते हैं। इस प्रकार जीव के पृथक्-पृथक् खण्ड होने का अनुभव तो नहीं होता। दर्शनकारी रूप में वह द्रष्टा कहा जाता है। इसी प्रकार श्रवणकर्ता रूप में उसी को श्रोता कहते हैं। ब्रह्म के चतुष्पाद विभाग को भी ऐसा ही समझना चाहिये, जानना चाहिये। अतएव स्पष्ट है कि उसके चतुर्विधत्व के द्वारा उसके शास्त्रसिद्ध अखण्डत्व में कुछ बाधा नहीं पड़ती।

पहले बताये गये परम अक्षरपाद के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन गीता में नहीं है, परन्तु उपनिषदों ने उसको चिदानन्दरूप, अद्वैत सद्वस्तु कहा है।

चित्त को एकाग्र करके इस अक्षर ब्रह्म की पूर्वोक्त त्रिविध शक्ति के स्वरूप का विचार करने पर दीख पड़ता है कि वह ऐसी शक्तियुक्त ईश्वररूप में ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय का कर्त्ता है। जगत् का अन्य उपादान अथवा निमित्त कारण नहीं है। जगत् ब्रह्म में ही स्थित है, किन्तु ब्रह्म की सत्ता जगत् मात्र में ही सीमाबद्ध नहीं है। वह इसका अतिक्रमण करके भी वर्तमान है। जगत् तो उसके स्वरूपगत आनन्द की ही अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार पृथ्वी से अनन्त उद्भिज=तरु-लता आदि और जीवशरीर प्रकाशित होते हैं, पृथ्वी के द्वारा ही उन सबकी पुष्टि होती है और अन्त में सबके सब पृथ्वी में ही लीन हो जाते हैं; परन्तु उन सबके पृथ्वी के अन्तर्गत होने से भी पृथ्वी के निजी मृत्तिकारूप और इन सब उद्भिज आदि का रूप एक नहीं है, पृथ्वी स्वयं अपने इन सबसे सर्वथा विभिन्न, मृत्तिकारूप में स्थित है। आकाश से जिस प्रकार अन्य सब पदार्थ हुए हैं, परन्तु उन सबसे अतीत रूप में सर्वव्यापी होकर आकाश अपने निजीरूप में प्रतिष्ठित है। ईश्वराख्य अक्षर ब्रह्म भी अपने जगत् रूप और भोक्ता अनन्त जीवरूप—इन दोनों भावों को नित्य प्रकाशित करके भी इनका अतिक्रम करके अपने निजी रूप में अवस्थित है। ये दोनों भाव उसके नित्य सहचर हैं। अतएव उसका निजी ईश्वरभाव इन दोनों भावों में अतीत है। ईश्वररूपी अक्षर ब्रह्म सर्वशक्तिमान है। उसके सम्बन्ध में श्रुति का कथन है—

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।

(श्वे०उ० ६/८)

जिस शक्ति के द्वारा ईश्वर जगत् का कार्यसाधन करता है, उसकी उस स्वरूपभूता शक्ति का नाम शास्त्र ने 'माया' रखा है। 'मीयते अनया' इस अर्थ में 'मा' धातु के उत्तर करण वाच्य में 'य' प्रत्यय लगाकर उसके स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय जोड़ने से 'माया' शब्द बनता है। 'परिमित करना' जानना इत्यादि 'मा' धातु का आभिधानिक अर्थ है। 'परिमित करना' अर्थ मानने से जो अपरिमेय अनन्त है, उसकी जो शक्ति परिमित परिच्छिन्न रूप में प्रतिभात कराता है, वही माया शब्द का वाच्य है और जानना अर्थ लेने से जो बुद्धि से भी अगम्य (अरूपी और अनन्त) है, वह जिस शक्ति के द्वारा रूपविशिष्ट ज्ञानगम्य रूप से (अर्थात् जगत् रूप से) प्रतिभात होता है, उस शक्ति का ही नाम 'माया' है। 'मा' धातु के दोनों ही अर्थों का फल एक ही है। जिस शक्ति के द्वारा भगवान् स्वयं अव्यक्त, अरूपी रहकर भी रूप विशिष्ट जगत् को अविकृत अपने में से प्रकट कर देते हैं, वही उनकी माया शक्ति है। यह शक्ति उनकी निज स्वरूपगत शक्ति है। जब जगत् के बीजरूप में वर्णित होता है तब इसी को 'प्रकृति' कहते हैं।

श्रुति ने कहा है—**मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।** (श्वेताश्वतर) माया तो प्रकृति को जानो और मायानियन्ता सर्वशक्तिमान भगवान् को जानो। उसी श्रुति के प्रथम अध्याय के द्वितीय श्लोक में शक्ति को 'देवात्मशक्ति' कहा है अर्थात् देव=भगवान् की अपनी शक्ति। कृष्ण ही परम देव हैं; कृष्ण का ही ध्यान करें और आत्म नाम से जीवरूप पराशक्ति सत्त्व आदि गुणों से युक्त है, यही श्रुति का अर्थ है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी **'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया'** अर्थात् हे अर्जुन! यह मेरी गुणमयी दैवी दुरत्यया माया है। इत्यादि वाक्यों में माया के गुणमयी होने का उल्लेख है। जीव यद्यपि ब्रह्म से अभिन्न अंशमात्र और ज्ञातास्वरूप है, किन्तु इस बात को वह उक्त माया शक्ति के प्रभाव से भूल कर भोग्य (दृश्य) स्थानीय जागतिक वस्तुओं की और अपने शरीर के प्रति आसक्तचित्त होकर शरीर आदि में आत्मबुद्धि रखने लगने से बन्धनदशा को प्राप्त हो जाता है और इस आसक्ति के ही कारण बार-बार शरीर धारण करके विविध क्लेश भोगता है। श्रीभगवद्भजन के द्वारा ही श्रीभगवान् के स्वरूप का परिचय पा जाने पर जीव अपने को श्रीभगवान् का अङ्गीभूत अंशमात्र, सुतरां अभिन्न निश्चितरूप से जान लेता है और अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

उपनिषद् ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर, अनेक रीतियों से, बहुविध श्रुतियों के द्वारा इन तथ्यों को प्रकाशित किया गया है; उनमें से कुछ वाक्य यहाँ पर उद्धृत किये जाते हैं—

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

अर्थात् यह विश्व परमात्मा का एक पादमात्र इसके अतिरिक्त उसके अमृतमय तीन पाद और भी हैं, जो उसके निज द्योतनात्मक स्वरूप में अवस्थित हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि उक्त तीन पाद हैं—ईश्वर, जीव और जगत् तत्त्वत्रय। यथा—

उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः।।

(श्वे०११९/९११)

यह परब्रह्म ही वेदान्तशास्त्र में वर्णित है, उद्गीत है। उसमें तीन जगत्, जीव और ईश्वर—यह त्रितय सुप्रतिष्ठित हैं। वह अक्षर रूप में भी वर्तमान है। ब्रह्म को जानने वाले लोग ब्रह्म के इन सब भेदों को अर्थात् तत्त्वत्रय को जानकर उस ब्रह्म में लीन हो जाते हैं और वे बारम्बार जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पा जाते हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।

(श्वे०३०४/७)

सख्यभावयुक्त दो पक्षी एक वृक्ष (शरीर) पर एकत्र बैठे हुए हैं, उनमें से एक (जीव) तो मीठे फलों को खाता है, किन्तु दूसरा (ईश्वर) कुछ भी नहीं खाता, केवल दीखता है। एक ही वृक्ष (शरीर) पर पुरुष (जीव) आबद्ध होकर (देह में आत्मबुद्धि रखकर) वृक्ष के बन्धन से अपने को छुड़ाने में असमर्थ होने से दीन-हीन भाव से दुःख भोगता रहता है। जब वह अपनी उपासना से तुष्ट हुए दूसरे (ईश्वर) को और उसकी महिमा को देखता है तब बन्धन से छुटकारा

पाता है और विगतशोक होता है। देह को यहाँ पर वृक्ष एवं उसके ऊपर भोक्ता रूप से बैठे हुए जीव को तथा नियन्ता रूप से स्थित ईश्वर को दो पक्षी बतलाया गया है। इससे केवलाद्वैत मायावाद खण्डित हो गया।

सत्यसङ्कल्प भगवान् शुभ भोगों को भोगते ही हैं, जैसे स्वयं भगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा है—

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात्।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।।
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।

(श्रीमद्भागवत १०/८१/३-४)

मित्र आदि को भेंट अथवा नजर देने के ये ६ नाम हैं—१.प्राभृत, २.प्रदेशन, ३.उपायन, ४.उपग्राह्य, ५.उपहार, ६.उपदा (अमर-कोश)।

श्रीभगवान् अपने सखा से कहते हैं—हे ब्रह्मन्! आप अपने घर से मेरे लिये क्या उपहार लाये हैं? मेरे प्रेमी भक्त जब प्रेम से थोड़ी-सी वस्तु (शुभ भोग) भी मुझे अर्पण करते हैं तो वह मेरे लिये बहुत हो जाती है; परन्तु अभक्त यदि बहुत-सी सामग्री भी मुझे भेंट करते हैं तो उससे मैं सन्तुष्ट नहीं होता। भक्ति के साथ जो मुझे पत्र, पुष्प, फल-जल प्रदान करते हैं, उन संयमशील भक्तों के वे शुभ भोगों को अहं अश्नामि (अश भोजने धातुः) (अश धातु भोजन में है)—मैं भोगता हूँ, मैं खाता हूँ, वे सब उपहार ग्रहण करता हूँ। भगवान् अनश्नन् भी हैं अर्थात् नहीं भी खाते हैं। यहाँ जीव और ईश्वर में परस्पर भेद होने से केवलाद्वैतवाद खण्डित हो गया जानना चाहिये।

अनादि वैदिक श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध योगीश्वर महापुरुष श्री१००८ स्वामी रामदासजी काठियाबाबा की जीवनी में उनकी अनेकानेक अलौकिक घटनाएँ लिखी हैं। उनमें से एक अद्भुत घटना यहाँ पर उद्धृत करते हैं—

भारत के उत्तराखण्ड के बहुत वियावन वनों में योगिराज श्रीरामदासजी काठियाबाबा ने विचरण किया था। उन्होंने बताया है कि—

'एक बार भगवान् ने छल से साधु का वेश धरकर उत्तराखण्ड में मेरे

साथ लगभग एक मास निवास किया था। वे खाते-पीते कुछ भी नहीं थे। अन्त में एक दिन वे मुझसे बोले—चलो, मेरे साथ सैर करने को चलो। मैं उनके साथ चल दिया। दोनों एक नदी के ऊपर बने हुए पुल के ऊपर से चलने लगे, उस साधुरूपी भगवान् ने आकाश की ओर अङ्गुलि उठाकर कहा—देखो उधर क्या है'। मैंने कहा—उधर निर्मल आकाश है। फिर नीचे की ओर नदी के जल को अङ्गुलि से दिखाकर उन्होंने कहा—देखो उधर क्या है। मैंने कहा—उधर जल है। उन्होंने फिर आकाश की ओर अङ्गुलि से दिखाकर कहा—अब देखो ऊपर क्या है। मैंने ऊपर की ओर ताककर देखा कि बड़ी ही काली घटा आकाशमण्डल में उमड़ी हुई है। यह देखकर मैंने कहा—यह तो भोजविद्या का-सा कर्म दिखाई देता है। यह एक प्रकार के जादू के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे साधुरूपी भगवान् और कुछ न बताकर आगे बढ़ने लगे तो मैं भी उनके साथ चलने लगा। वे मुझे पीछे-पीछे चलने का सङ्केत करके पुल के नीचे नदी में उतरे तो मैं भी उनके साथ नदी में उतरा; किन्तु यह एक बड़े भारी आश्चर्य की बात देखने में आई कि वहाँ उस नदी के बहुत गहरी होने पर भी हम दोनों पदव्रज से नदी पार हुए और घुटनों के ऊपर जल नहीं पहुँचा। हम दोनों चुप-चाप नदी पार होकर एक जङ्गल से होकर जा रहे थे। वहाँ मैंने देखा कि पगडण्डी के दोनों ओर की श्मशानों में चिताएँ जल रही हैं, कहीं शवसमूह पड़े हैं, कहीं कटे हुए मुण्ड ही मुण्ड पड़े हैं। ऐसे नाना प्रकार के भीषण दृश्य देखते हुए कुछ दूरी पर चलकर मैंने देखा कि वे साधुरूपी भगवान् वहाँ नहीं हैं। बहुत ढूँढ़ने पर भी मुझको उनका फिर पता नहीं मिला। मैं वहाँ से लौटने लगा, किन्तु पहले की दीखी हुई चिताएँ, शवादि कुछ भी मुझको दिखलाई नहीं दिये।

उन स्थानों पर केवल वनजात नाना प्रकार के वृक्ष-लता आदि दिखलाई दिये। तब मैं निश्चितरूप से जान गया कि स्वयं भगवान् ने साधु का वेश धारण कर मुझको प्रताड़ित किया है।

तत्रोपास्यविशिष्टेष्टदेवतायुगलस्वरूपमनुस्मरतिअङ्गेत्यादि।

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।।५।।

अनन्तानवद्यकल्याणगुणगणस्य श्रीकृष्णस्य वामाङ्गे श्रीवृषभानुनन्दनीं वयं स्मरेम इत्यन्वयः। कीदृशीं सकलेष्टकामदाम्=अभीष्टफलदाम्। देवीं=

द्योतमानां सखीसहस्रैः=सखगणैः सेवनस्थानस्थिताभिः परमयूथेश्वरीभिः श्रीललितारङ्गदेव्यादिभिः सेवितां=सर्वतः सेवमानाम् अतश्चाधिकतरविराजमानाम् अनुरूपसौभगामिति अनुरूपसौभगं यस्याः तां तथोक्तां (श्रीमद्भागवते १०/६०/९)।

तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं निरीक्ष्य या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा।
प्रीतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठवक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरिराबभाषे।।

अत्रायमाशयः, अनपायिनी भगवतः श्रीः साक्षादात्मनो हरेरिति श्रीभागवतोक्तेः श्रियो द्वे रूपे श्रीश्च लक्ष्मीश्चेति। तथाहि श्रुतिः—

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे इति।
गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियमिति।।इति।

तत्र या श्रीः सा वृषभानोस्तनयाः याश्च लक्ष्मीः सा रुक्मिण्यादिरूपा देवत्वे देवदेहे यं मानुषत्वे च मानुषी। विष्णोर्देहानुरूपां च करोत्येवात्मनः तनुमिति वैष्णवोक्तेः।

यां यां तनुमुपादत्ते भगवान् हरिरीश्वरः।
तां तां श्रीरथावशेन भगवतोऽनपायिनी।।

इति श्रीनारदोक्तेश्च। तत्र श्रीराधिकायाः सर्वस्वरूपश्रेष्ठ्यं श्रुतिः। प्रामाण्यात् तथाहि श्रुतिः—

राधया सहितो देवो माधवो न च राधिका।
योऽनयोर्भेदं पश्यति स संसृतेर्मुक्तो न भवति।।

वामाङ्गे सहिता देवी राधा वृन्दावनेश्वरीति कृष्णोपनिषदि। परमागमचूडामणौ श्रीनारदपञ्चरात्रे च–

हरेरर्द्धतनू राधा राधामन्मथसागरा।
राधा पद्माख्या पद्मा नामागाधा तत्र योगिनाम्।।

पुनः तत्रैव—

राधया सहितं कृष्णं यः पूजयति नित्यशः।
भवेद् भक्तिर्भगवति मुक्तिस्तस्य करे स्थिता।।

श्रीमद्भागवते (६/१९/९)—

श्रियं विष्णुं च वरदावाशिषां प्रभवावुभौ।
भक्त्या सम्पूजयेन्नित्यं यदीच्छेत्सर्वसम्पदः।।

ब्रह्मवैवर्त्ते च—

लक्ष्मीर्वाणी च तत्रैव जनिष्येते महामते।
वृषभानोस्तु तनया राधा श्रीर्भविता किल।।इति।।

बृहद् गौतमीयतन्त्रे च—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी स्वर्णकान्तिसम्मोहनी परा।।

ब्रह्मसंहितायां च—

यः कृष्णः सापि राधा च या राधा कृष्ण एव सः।
अनयोरन्तरदर्शी स संसारान्न विमुच्यते।।

सम्मोहनीतन्त्रे च—

तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकमिति। अतश्च श्रीराधिकाया एव श्रीरूपत्वेन श्रेष्ठत्वमिति सिद्ध इति—

श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्तकश्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीश्वरपादपीठ-समलङ्कृतश्रीश्रीभट्टपादपद्मपरागभृङ्गेण श्रीहरिव्यासदेवाचार्येण विरचिते वेदान्त-सिद्धान्तरत्नाञ्जलौ पूर्वार्द्धः समाप्तः।।

●

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—भगवान् सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार द्वारा प्रवर्तित उपासना में देवदर्शन श्रीनारदानुग्रहभाजन आदि गुरुसम्प्रदाय-प्रवर्तक श्रीनिम्बार्क भगवान् उपास्य विशिष्ट इष्टदेवतायुगल स्वरूप का अनुस्मरण करते हैं—अनन्त अनवद्य कल्याणगुणगणों की राशि भगवान् कृष्ण के वामाङ्ग में श्रीवृषभानुनन्दनी राधिका का हम सदा-सर्वदा स्मरण करते हैं। ऐसा अन्वय है। वे कैसी हैं? सबके मनोरथ को पूर्ण करने वाली हैं, अर्थात् सबके अभीष्ट फलों को देने वाली हैं। अपने अनन्य भक्तों की भुक्ति-मुक्ति आदि समस्त मनोवाञ्छित कामनाओं को देने वाली हैं। देवी अर्थात् प्रकाश वाली हैं। सहस्रपद का अर्थ यहाँ अपरिमित है अर्थात् अनगिनत सखीसमूह अपने-

अपने सेवा के स्थान में स्थित परम यूथों की ईश्वरी श्रीललिता रङ्गदेवी आदि वे चारों ओर राधिका की सेवा कर रही हैं। अतः अधिकतर विराजमान हैं। कृष्ण के अनुरूप सौभगा हैं जिसके, अनुरूप=बराबर हैं। अर्थात् राधारानी कृष्ण के समान सौन्दर्य, माधुर्य, कारुण्य आदि गुणों से युक्त हैं और उनके बायें अङ्ग में प्रसन्नतापूर्वक निरतिशय प्रेमानन्द से सदा विराजती हैं। विशेष स्वरूप, विग्रह और प्रेम-कारुण्यादि गुणसमूह के द्वारा देवी देदीप्यमान शोभायमान हो रही हैं। देवी श्रीराधा देव श्रीकृष्ण का ही अभिन्न स्वरूप हैं। गुण-महिमादि विषय में दोनों के मध्य में कोई भेद नहीं है। केवल मात्र लीलारस का आस्वादन करने के लिये दो प्रकार से रूप धारणा है। ऐसे अनुरू-पसौभगा का वर्णन श्रीमद्भागवत में भी देखने को मिलता है—**'या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा'**=जो लीला से कृष्ण के समान रूप, शरीर धारण किया है। कृष्ण ने प्रमुदित होकर उन श्रीजी से कहा। कृष्ण ने देखा कि ये अनन्यगति हैं अर्थात् मेरे परायण हैं, मेरी दिव्य परमाह्लादिनी अनन्य प्रेयसी हैं। मेरे साथ लीला करने के लिये ये तो मेरे बराबर रूप में हैं। श्रीजी की घुँघराली अलकें, कानों में कुण्डल और गले के स्वर्णहार अत्यन्त विलक्षण थे। श्रीजी के मुखचन्द्र से मुस्कराहट की अमृतवर्षा हो रही थी। वेदादि शास्त्रों में राधा को 'श्री' शब्द से पुकारा जाता है, अर्थात् राधाजी को **'श्रीजी'** शब्द से कहते हैं। श्रीमज्जगद्गुरु भगवान् निम्बार्काचार्य ने राधाष्टकस्तोत्र में लिखा है—

'श्रियं चिन्तये सच्चिदानन्दरूपाम्' अर्थात् मैं सच्चिदानन्दरूपा श्रीजी का चिन्तन (ध्यान) करता हूँ।

राधा पद की व्याख्या

१. **राधयति वशीकरोति कृष्णमिति राधा।**

जो कृष्ण को वश में करती हैं, वह राधा हैं।

२. **यद्वा राध्यते आराध्यते भक्तजनैरिति राधा।**

जो भक्तजनों के द्वारा नित्य आराधिता हैं, उन्हें राधा कहते हैं।

३. **यद्वा राध्यते आराध्यते कृष्णेनेति राधा।**

कृष्ण के द्वारा आराधिता हैं, इसलिये राधा हैं।

४. **यद्वा राधयति आराधयति कृष्णमिति राधा।**

जो कृष्ण की आराधना करती हैं, उन्हें राधा कहते हैं।

५. **राधयति=साधयति सर्वं कार्यं भक्तानामिति राधा।**

जो अपने भक्तजनों को सम्पूर्ण कार्यों की सफलता प्राप्त करवा देती हैं उन्हें राधा कहते हैं।

दिवु क्रीडाविजीगीषाव्यहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु।

देव की (श्रीकृष्ण की) पत्नी—इस अर्थ में देवी (राधा) देवीं स्मरेम=हम देवी का स्मरण करते हैं। दिवु धातु से निष्पन्न होने के कारण और दिवु धातु अनेकार्थ बोलकर योगवृत्ति के द्वारा **'देवी'** शब्द का अनेक प्रकार का अर्थ है—

१. **दीव्यति क्रीडति अनेकावतारैरिति देवी। दीव्यति**

अर्थात् अनेक अवतारों के साथ क्रीडा करती हैं, इस अर्थ में देवी; इसका प्रमाण—**देवत्वे देवदेहायं** (विष्णुपुराण १/९/१४३) वचन।

२. **दीव्यति विजिगीषते देवादीन् शीलादिगुणापहारेणेति वा देवी। दीव्यति**

अर्थात् निज शील-गुणसमूह के द्वारा देवादि को पराजित करती है—इस अर्थ में देवी।

३. **दीव्यति व्यवहरति तत्तत् प्रकारेणेति वा देवी। दीव्यति**

अर्थात् जो भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहार करती है, इस अर्थ में देवी।

४. **दीव्यति द्योतते स्वरूपेण गुणैश्चेति वा देवी। दीव्यति**

अर्थात् जो स्वरूप और गुणसमूह के द्वारा दीप्ति (चमक) चमकती हैं, वह देवी।

५. **दीव्यति स्तूयते देवैरिति देवी। दीव्यति**

अर्थात् देवगणों के द्वारा जिनकी स्तुति की जाती है, वह देवी।

दिवु धातु का और भी मोद, मद, स्वप्न और कान्ति अर्थ है। वह सब धात्वर्थ यहाँ लिखना अनावश्यक है।

६. **दीव्यति सर्वत्र गच्छति इति देवी। दीव्यति**

अर्थात् जो सब जगह वायु की भाँति चलती रहती है, सर्वत्र व्याप्त है, वह देवी है। इसी प्रकार देव (श्रीकृष्ण) को जानना चाहिये।

श्रुत्युक्त राधा के अष्टाविंश (28) मङ्गलमय नाम

राधा रासेश्वरी रम्या कृष्णमन्त्राधिदेवता।
सर्वाद्या सर्ववन्द्या च वृन्दावनविहारिणी॥
वृन्दाराध्या रमाऽशेषगोपीमण्डलपूजिता।
सत्या सत्यपरा सत्यभामा श्रीकृष्णवल्लभा॥
वृषभानुसुता गोपी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
गान्धर्वा राधिका रम्या रुक्मिणी परमेश्वरी॥
परात्परतरा पूर्णा पूर्णचन्द्रनिभानना।
भुक्तिमुक्तिप्रदा नित्यं भवव्याधिविनाशिनी॥

जो इन अट्ठाईस नामों का पाठ करता है, वह जन्म-जरा-मरणरूप संसार से मुक्त हो जाता है। यहाँ यह आशय है, यों समझना चाहिये—साक्षात् परमात्मा भगवान् हरि की श्रीजी (राधाजी) अनपायिनी हैं अर्थात् कृष्ण के साथ हमेशा रहने वाली राधा हैं। जैसे नित्य शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है, वैसे ही राधा-कृष्ण की आकृति (आकार) आपस में एक-दूसरे से शब्द और अर्थ के समान सदा सम्बद्ध (सम्मिलित) है। दोनों अभिन्न हैं। श्रीजी का और हरि का नित्य भाव सम्बन्ध है—यह सर्ववादी-सम्मत है। श्री के दो रूप हैं, एक श्री एवं दूसरी लक्ष्मी। भगवान् हरि की ये दो पत्नी श्री और लक्ष्मी दिन-रात उनके निकट विराजमान रहती हैं।

सुगन्धित पुष्प के अर्पण करने से प्राप्त करने योग्य, किसी से भी दबाने योग्य नहीं, धन-धान्य आदि से सदा परिपूर्ण, गौ, अश्व आदि पशुओं की समृद्धि को देने वाली समस्त प्राणियों के हृदय में रहने वाली लोक और वेद में प्रसिद्ध श्रीजी नाम्नी राधिका देवी को मैं अपने घर में बुलाता हूँ।

ग्रन्थकार जगद्गुरु पूज्यपाद श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी महाराज स्वयं कहते हैं—**'तत्र या श्रीः सा वृषभानोः तनया याश्च लक्ष्मीः सा रुक्मिण्यादिरूपा'** शास्त्र में जो बताये गये हैं, जो श्री हैं, वह वृषभानु की तनया (राधा) हैं और जो लक्ष्मी हैं, वह रुक्मिणी आदि रूप हैं।

बृहद्वैष्णव में कहा गया है—जब भगवान् हरि देवता होते हैं (इन्द्रादि को देवता कहते हैं) पर श्रीभगवान् का स्वरूप दिव्यातिदिव्य है; तब वे देवीरूप धारण करते हैं और जब कृष्ण (अपने भक्तजनों के उद्धार के लिये)

मनुष्य के समान अवतार लेते हैं तब मानुषी मूर्ति धारण करते हैं। इस प्रकार विष्णु के देह के अनुरूप अपना श्रीविग्रह प्रकट किया है।

देवर्षि नारदजी ने कहा है—कर्त्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्त्तुं सर्वसमर्थ सर्वशक्तिमान भगवान् हरि जो-जो अवतारविग्रह ग्रहण करते हैं, भगवान् की अनपायिनी श्री भी उस-उस रूप को अवश्य ही धारण करती हैं।

उसमें श्रुति के प्रमाण से श्रीराधिका की सभी स्वरूपों से श्रेष्ठता को श्रुति दिखलाती है—श्रीराधा के सहित देव माधव और माधव के सहित श्रीराधा विराजमान हैं, जो कोई इन दोनों में (राधा और कृष्ण में) भेद देखता है, वह इस जन्म-मृत्युरूप संसारसागर से मुक्त नहीं होता है।

अहं च ललिता देवी पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
आवयोरन्तरं नास्ति सत्यं सत्यं हि नारद।।

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

भेदं हि चावयोर्मध्ये ये पश्यन्ति नराधमाः।
देहान्ते नरकान् राधे! ते प्रयान्ति स्वदोषतः।।

(गर्गसंहिता, अश्वमेध खण्ड)

श्रीवृषभानुनन्दनी श्रीजी, देवर्षि नारदजी से हरि के साथ अपनी अभिन्नता का उपदेश करती हुई कहती हैं कि हे नारद! मैं ललिता देवी हूँ और पुरुषरूपधारिणी कृष्णमूर्ति भी मैं ही हूँ। हम दोनों में कोई भेद नहीं है, यह आप निश्चित सत्य समझें।

स्वयं हरि श्रीजी से कहते हैं—हे राधे! जो हम दोनों में भेद देखते हैं, वे नराधम (मनुष्यों में नीच) अपने दोष से ही शरीरपात होने पर सीधे नरकों में चले जाते हैं।

राधायुक्त पुरुषोत्तम कृष्ण विश्वसृष्टि करते हैं, ऐसा ही ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है—

विना मृदा घटं कर्तुं विना स्वर्णेन कुण्डलम्।
कुलालः स्वर्णकारश्च न हि शक्तः कदाचन।।
तथा त्वया विना सृष्टिमहं कर्त्तुं न च क्षमः।
सृष्टेराधारभूता त्वं बीजरूपोऽहमच्युतः।।

त्वं मे शोभा स्वरूपाऽसि देहस्य भूषणं यथा।
कृष्णं वदन्ति मां लोकास्त्वयैव रहितं यदा।
श्रीकृष्णं च तदा तेऽपि त्वयैव सहितं परम्।।

भगवान् श्रीकृष्ण भगवती राधा से कहते हैं—जैसे कुम्हार मिट्टी के बगैर घड़ा, सुराही इत्यादि कभी तैयार नहीं कर सकता है, उसी प्रकार सुनार बिना सोने के आभूषण प्रस्तुत नहीं कर सकता है। हे राधे! उसी तरह मैं तुम्हारे बगैर विश्व की सृष्टि करने में समर्थ नहीं हो सकता। हे राधे! जैसे आभूषण शरीर की शोभा का हेतु है, उसी प्रकार तुम मेरी शोभा हो। जब मैं तुमसे अलग रहता हूँ तब लोग मुझे कृष्ण कहते हैं और जब तुम साथ हो जाती हो वे लोग मुझे श्रीकृष्ण कहते हैं। हे देवि! तुम सृष्टि के आधाररूप हो और मैं अच्युत देव बीजरूप हूँ। गीताशास्त्र में श्रीभगवान् ने बिल्कुल यही बात कही है—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।

हे अर्जुन! सब भूतों की उत्पत्ति का जो कुछ बीज है, वह मैं ही हूँ। ऐसा कोई चराचर पदार्थ नहीं है, जो मेरे बिना हो सकता है।

श्रीमहादेवजी (शिवजी) देवर्षि नारदजी से कहते हैं—

बहुना किं मुनिश्रेष्ठ! विना ताभ्यां न किञ्चन।
चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधाकृष्णमयं जगत्।।
(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

हे मुनिश्रेष्ठ! अधिक क्या कहा जाय, राधाकृष्ण के बिना कुछ भी नहीं है। जड़-चेतन समस्त संसार राधाकृष्णमय है।

भगवती श्रुति कहती है—**'नेह नानास्ति किञ्चन'** (कठोपनिषद् २/१/११) अर्थात् इस जगत् में राधाकृष्ण के बिना कुछ भी नहीं है। उपर्युक्त श्रुति में 'नाना' शब्द 'बिना' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः **'नेह नानास्ति किञ्चन'** श्रुति का अर्थ इस प्रकार जोड़ना होगा—इस जगत् में नाना स्वोपादान राधाकृष्ण के बिना कोई भी वस्तु ही नहीं है अर्थात् सचराचर जगत् राधाकृष्णमय है। समस्त कार्य ही स्वोपादान का अविनाभूत होने से उपादान बिना कार्य रह नहीं सकता।

विनञ्भ्यां नानाञौ न सह। (पाणिनिसूत्रग्रन्थः ५/२/२१)

अपि च प्रयोगः–नाना नारी निष्फला लोकयात्रा।

तथा च कोशः–नाना शब्दो विनाऽर्थेऽपि तथाऽनेकोभयार्थयोः। (इति मेदिनी)।

तथा चैवमर्थयोजना–इह जगति नाना–स्वोपादानं राधाकृष्णं विना किञ्चनापि वस्तुजातं नास्तीत्यर्थः।

जगत् मिथ्या है, यह बात शास्त्र नहीं कहते हैं; बल्कि जगत् ब्रह्ममय है, ब्रह्मात्मक है, इत्यादि शब्दों से जगत् की सत्यता की सिद्धि हो रही है। जगत् को मिथ्या कहने वालों का यह कुसंस्कार ही है। यह दृष्टि गोचर संसार को पीछे शिवजी ने राधाकृष्णमय है—ऐसा बताया है। यही वैदिक वैष्णवजनों का सिद्धान्त है। **सर्वं विष्णुमयं** (श्रीमद्भा० १०/१३/१९) अर्थात् समस्त जड़-चेतन विष्णुमय है। इससे जगन्मिथ्या कहने वाले निरस्त हो गये। कृष्णोपनिषद् में उल्लिखित है कि भगवान् कृष्ण के वामाङ्ग में वृन्दावनेश्वरी देवी राधा सदा विराजमान हैं।

परमागमचूड़ामणि श्रीनारदपञ्चरात्र नामक ग्रन्थ में वर्णित है—हरि की आधे अङ्ग में राधा सन्निहित हैं और राधा मन का मंथन करने वाली सागर हैं। फिर वहीं लिखा है कि पद्मा नाम की जो लक्ष्मी है, उसमें पद्मा नाम राधा हैं। राधा योगियों की अगाधा हैं। राधा अगाध हृदया हैं।

राधा राधा नाम जो सपने में हू लेत।
ताकूँ मोहन साँवरो झट अपनो कर लेत।।
राधा राधा कहत ही सब बाधा मिटि जाय।
कोटि जनम की आपदा नाम लिए ते जाय।।
मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे, श्याम हरित दुति होय।।

शक्ति और शक्तिमान का यह वैशिष्ट्य अद्भुत व विलक्षण है। माधुर्य रस को पुष्ट करने वाली झाँकी कितनी सुन्दर है—

कृष्ण शक्तिमय शक्ति राधिका,
चिन्मय एक तत्त्व भगवान्।
नित्य अनादि अनन्त अगोचर,
अमल अनामय सत्य महान्।

ब्रह्म ब्रह्म की शक्ति नित्य में,
नहीं कही रञ्चक भी भेद।
जो वह वही तुम्ही हो निश्चय,
है दोनों में नित्य अभेद।
कारणरूप जगत् की है वह,
परमोत्कृष्ट पूर्ण पर शक्ति।

ग्रन्थकार पूज्यपाद श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी महाराज ने स्वरचित महावाणी ग्रन्थ में नित्ययुगलकिशोर आनन्दकन्द अखिलरसामृतमूर्ति सुधीजनों के द्वारा उपास्य मुमुक्षुमृग्य भगवान् राधाकृष्ण को अभिन्न रूप में देखा है—

राधां कृष्णस्वरूपां वै कृष्णं राधास्वरूपिणम्।
कलात्मानं निकुञ्जस्थं गुरुरूपं सदा भजे।।

अस्यार्थः—आह्लादिनी शक्ति राधा कृष्णस्वरूपा हैं और कृष्ण राधा-स्वरूप हैं। नित्य निकुञ्ज में विराजमान युगलस्वरूप गुरुरूप भगवान् राधाकृष्ण का मैं सदा-सर्वदा भजन करता हूँ-अर्थात् मैं प्रेमपूर्वक मन, वाणी और शरीर द्वारा अहर्निश सेवा करता हूँ, ध्यान करता हूँ।

जो भगवान् श्रीकृष्ण के साथ उनकी प्रिया भगवती देवी राधा की प्रतिमा (अर्चाविग्रह) बनवाकर प्रतिदिन श्रद्धा-भक्ति से सेवा-पूजा करता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है। जो श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण की नित्य सेवा पूजा करता है, उसकी भगवान् में भक्ति होती है और मुक्ति उसके हाथ में रहती है।

श्रीजी (राधा) और हरि—ये दोनों वर देने वाले हैं और मनोरथ को पूर्ण करने वाले हैं। जो सारी सम्पदा की इच्छा हो तो श्रद्धा-भक्ति के साथ भली-भाँति इनकी सेवा करें।

लक्ष्मी और वाणी (सरस्वती)—ये दोनों वहाँ ही जन्म लेंगी और वृषभानु की पुत्री जो राधा नाम से हैं, वही निश्चय ही श्री होगी, ऐसा ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है।

बृहद्गौतमीयतन्त्र में लिखा है कि देवी राधिका, कृष्णमयी बतायी गयी हैं और श्रेष्ठ देवता कही गयी हैं। सभी लक्ष्मीमयी, स्वर्णकान्ति तथा परा सम्मोहिनी हैं।

ब्रह्मसंहिता में कहा है—जो कृष्ण हैं, वही निश्चय ही राधा हैं। जो राधा हैं, वही निश्चय कृष्ण हैं, इन दोनों में जो अन्तर (भेद) देखता है, वह संसार से मुक्त नहीं होता है।

सम्मोहनतन्त्र में कहा है—एक ज्योति ही राधा-माधव के रूप में दो प्रकार की हुई हैं। जिससे राधिका की ही श्रीरूप से श्रेष्ठता सिद्ध हुई है।

अथर्ववेदीय

श्रीराधिकातापनीयोपनिषद् की हिन्दी

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाःस्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्ति!!!

हे देवगण! हम अपने कानों से भद्र—कल्याणकारी शब्द श्रीश्री राधा-कृष्ण की मङ्गलमय कथा का ही सुनें, आखों से हम सभी जगहों पर उन्हीं का ही दर्शन करें, हम स्थिर अङ्गों से प्रेमपूर्वक नत-मस्तक होकर हाथ जोड़कर शरीर, मन और वाणी से श्रीश्रीराधाकृष्ण की स्तुति (स्तवन) प्रतिदिन करते हैं। हमारी आयु का सदुपयोग अपने आराध्यदेव भगवान् श्रीश्रीराधाकृष्ण के लिये ही हो; श्रीभगवदनुकूल कर्म का सङ्कल्प और उनके प्रतिकूल कर्म का वर्जन करें। वे परममङ्गलमय यशोमूर्ति, परमैश्वर्यवान्, सबके गुरु, बुद्धि के प्रवर्तक, सभी को जानने वाले, विश्व का भरण-पोषण करने वाले, अरिष्टों को मिटाने के लिये चक्र के समान शक्तिशाली गरुडासन श्रीपति भगवान् कृष्ण हमारी सदा रक्षा करें।

आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—ये तीन प्रकार के तापों की शान्ति हो।

श्रुतियों द्वारा श्रीराधिकाजी की उपासना और स्तवन

किसी समय उपासनाओं के स्वरूप एवं लक्ष्य के तथ्य का विचार-

विमर्श करते समय ब्रह्मज्ञ, वेदज्ञ, तत्त्वज्ञ महापुरुषों ने परस्पर यह निर्णय करना प्रारम्भ किया कि भगवती देवी श्रीराधिका की उपासना किसलिये होती है। इस निर्णय में प्रवृत्त होने पर उनपर भगवान् आदित्य (वेदों के अधिष्ठाता प्रकाशमय ज्ञानरूप में) अत्यन्त कृपालु हुए अर्थात् प्रकाशस्वरूप वैदिक ज्ञान उनमें प्रकट हुआ (उन्होंने देवी श्रीराधिकाजी की उपासना के सम्बन्ध में श्रुतियों को इस प्रकार संलग्न पाया)।।१।।

श्रुतियाँ कहती हैं— सम्पूर्ण देवताओं में जो देवत्व (शक्ति) है, वह श्रीराधिकाजी की ही है। समस्त प्राणी श्रीराधिकाजी के द्वारा ही अवस्थित हैं अर्थात् देवताओं से लेकर क्षुद्र प्राणियों तक सभी जीव श्रीराधिकाजी की शक्ति से स्थित एवं चेष्टायुक्त हैं और उन्हीं से अभिव्यक्त हुए हैं। इसलिये हम सब श्रुतियाँ (सारे वेद) उन श्रीराधिकाजी को नमस्कार करती हैं (करते हैं)।।२।।

देवताओं के निवास पञ्चभूत, इन्द्रियों आदि में श्रीराधिकाजी की प्रेरणा से ही कम्पन (चेष्टा) होती है तथा उन्हीं की प्रेरणा से वे हँसते (उल्लास प्राप्त करते) और नाचते (क्रियाशील होते) हैं। सबकी अधिदेवता श्रीराधिकाजी ही हैं (जीव उनके अधीन में हैं)। अतएव अपने सम्पूर्ण पापों के नाश के लिये व्याहृतियों (भूः-भुवः-स्वः या श्रीं-क्लीं-ह्रीं) द्वारा हवन करके फिर श्रीराधिका जी को हम (श्रुतियाँ) प्रणाम करती हैं (तात्पर्य यह है कि विशुद्ध हृदय से ही श्रीराधिकाजी की उपासना सम्भव है, अतः यजन से भक्ति गद्गद् हृदय से श्रीराधिकाजी को प्रणाम करती हैं)।।३।।

जिनके दिव्य शरीर की कान्ति के पड़ने से (जिन योग माया रूप के आश्रय से) इन्द्रनीलमणि के समान वर्णमाला देवाधिदेव श्रीकृष्णचन्द्र का शरीर भी और गौर जान पड़ने लगता है, घन सत्त्व होकर आविर्भूत होता है तथा जिनकी कान्ति पड़ने से भौंरे, कौए और कोयल (विषय-रसलोलुप, कटुभाषी, पापी एवं मधुरभाषी, परस्वरूप से कृष्ण अर्थात् योग-ज्ञानादि साधक, जिनका बाह्य रूप नीरस एवं अनाकर्षक है) भी (रासमण्डल में) गौर वर्ण के (सत्त्व गुणी एवं भक्तियुक्त) हो जाते हैं। उन विश्व की पालिका (पालन करने वाली) श्रीराधिकाजी को हम नमस्कार करती हैं।।४।।

हम सब श्रुतियाँ, सांख्ययोगशास्त्र तथा उपनिषद् जिन परब्रह्म की अभिन्न शक्ति की अगम्यता का प्रतिपादन करती हैं, जिनको स्वरूपतः भली-भाँति पुराण भी नहीं जानते, उन देवताओं की पालिका श्रीराधिकाजी की हम

सब श्रुतियाँ नमस्कार करती हैं॥५॥

सम्पूर्ण संसार के अधीश्वर त्रिभुवनमोहन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जिन्हें प्राण से भी अधिक प्रिय मानते हैं, वृन्दावन में स्थित अपनी (श्रुतियां की=अपने वेदों के) इष्टदेवता=उपास्य देवी उन श्रीवृन्दावन की पालिका अधिष्ठात्री देवी श्रीराधिकाजी को हम नित्य नमस्कार करती हैं॥६॥

विश्वभर्ता श्रीकृष्णचन्द्र एकान्त में अत्यन्त प्रेमार्द्र होकर चरणधूलि अपने मस्तक पर धारण करते हैं और जिनके प्रेम में निमग्न होने पर हाथ से गिरी वंशी एवं बिखरी अलकों का भी स्मरण उन्हें नहीं रहता तथा वे क्रीत की भाँति जिनके वंश में रहते हैं, उन श्रीराधिकाजी को हम नमस्कार करती हैं॥७॥

श्रीरासमण्डल में जिनकी रासक्रीडा देखकर चन्द्रमा एवं विवस्त्रा देवपत्नियों को अपने शरीर का भी भान नहीं रह जाता और श्रीवृन्दावन के समस्त जड एवं जङ्गम भी अपने स्वरूप को भूल जाते हैं अर्थात् जड=पाषाण, तरु-प्रभृति स्रवित होने लगते हैं और जङ्गम=चर प्राणी विमुग्ध होकर स्थिर हो जाते हैं, श्रीरासमण्डल में भावावेशयुक्त उन श्रीराधिकाजी को हम नमन करते हैं॥८॥

जिनके अङ्क में लेटे हुए श्रीकृष्णचन्द्र अपने शाश्वत विहारस्थान गोलोक का स्मरण तक नहीं करते, कमलोद्भवा लक्ष्मी और पर्वतोद्भवा पार्वती जिनकी अंशरूपा हैं, उन समस्त शक्तियों की अधिष्ठात्री श्रीराधिकाजी को हम प्रणाम करती हैं॥९॥

(श्रीललितादि) सखीगणों के साथ (ऋषभ-गान्धरादि) स्वरों से, (तार, मध्य और मन्द्र—इन) तीनों ग्रामों से तथा (अनेक) मूर्च्छनाओं (स्वर के चढ़ाव-उतारों) से गाते हुए प्रेमविवश होकर जिन्होंने (श्रीरासक्रीडा के समय) श्रीवृन्दावन में एकमात्र अपनी ही शक्ति से ब्राह्मी निशा (एक मास पर्यन्त दीर्घरात्रि) का विस्तार प्रादुर्भाव किया, उन श्रीराधिकाजी को हम नमस्कार करती हैं॥१०॥

किसी समय दो भुजाओं वाली श्रीकृष्ण की मूर्ति बनकर अर्थात् स्वयं द्विभुज श्रीकृष्णवेश धारण करके वंशी के छिद्रों को श्रीराधिकाजी ने स्वर से भर दिया (तात्पर्य यह है कि श्रीराधिकाजी ने श्रीकृष्णवेश धारण करके किसी दिन वेणुरव वेणु—वादन का प्रयत्न किया और वे केवल वंशी-छिद्रों से

(गायनरहित) ध्वनि निकाल पायीं। इससे अत्यन्त उल्लसित होकर देवदेव श्रीकृष्ण ने कुन्द एवं कल्पवृक्ष के पुष्पों की माला बनाकर उनका शृङ्गार करके उन्हें प्रसन्न किया॥११॥

जिनका इस उपनिषद् में वर्णन हुआ है, वे श्रीराधिकाजी और आनन्दसिन्धु श्रीकृष्णचन्द्र वस्तुतः एक ही शरीर एवं परस्पर नित्य अभिन्न हैं। केवल लीला के लिये वे दो स्वरूपों में व्यक्त=प्रकट हुए हैं। अतएव जिस लीला के लिये उन परम रससिन्धु का श्रीविग्रह दो रूपों में सुशोभित हुआ, उस लीला को जो सुनता या पढ़ता है, वह उन परम प्रभु के विशुद्धधाम=(गोलोक) में जाता है॥१२॥

इस उपनिषद् को पूर्वकाल में वसिष्ठजी ने मधुरभाषी बृहस्पति को पढ़ाया। बृहस्पतिजी ने अपने यजमान इन्द्र को उपदेश किया और तभी से उपनिषद् बार्हस्पत्य नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्रणवस्वरूप परमपुरुष को नमस्कार। प्रणव के स्मरण के साथ आद्या परमपालिका शक्ति को नमस्कार नमस्कार!!

अथर्ववेदीय श्रीराधिकातापनीयोपनिषद् समाप्त।

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेमहिदेवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्ति!!

इसका अर्थ प्रारम्भ में देखें।

पीछे हम कह चुके हैं कि परब्रह्मस्वरूप परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी स्वकीया परा शक्तिरूपा, परमाह्लादिनी, प्रियतमा शक्ति, देवी श्रीराधा =श्रीराधिका सर्वथा अभिन्न और एक ही हैं। श्रीकृष्ण श्रीराधास्वरूप हैं और श्रीराधा श्रीकृष्णस्वरूप हैं।

'कृ' राधा हैं और 'ष्ण' कृष्ण हैं। यहाँ तक कि 'कृ' में भी 'क' कृष्ण

हैं 'ऋ' राधा हैं।

श्रीमद्भागवत-प्रवक्ता श्रीशुकदेवजी महाराज के कानों में प्रवचन करते समय श्रीराधा नाम कीर्तनमात्र से छः महीनों तक वे समाधिस्थ ही हो जाते थे, परन्तु उस समय केवल सात ही दिन का हरिकीर्तन था, यही सोच-विचार कर श्रीशुकदेवजी ने श्रीराधा का नाम उच्चारण नहीं किया; लेकिन उन्होंने लक्ष्य लक्षणभाव सम्बन्ध अभिधायक अस्फुट प्रयोग किया है। हम आगे व्याख्यान करेंगे। इस सम्बन्ध में एक श्लोक प्रसिद्ध है—

श्रीराधानाममात्रेण मूर्च्छा षाण्मासिको भवेत्।
नोच्चारितमतः स्पष्टं परीक्षिद्धितकृन्मुनिः।।

अतः राजा परीक्षित के हित चाहने वाले मुनि ने श्रीराधा नाम का स्पष्ट उच्चारण नहीं किया।

श्रीराधा के बिना केवल श्रीकृष्ण के पूजन से सम्मोहनतन्त्र में श्रीमहादेवजी ने श्रीपार्वतीजी से पाँच प्रकार के दोष बतलाये हैं—

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद् वा ध्यायंते वाऽपि स भवेत् पातकी शिवे।।
स ब्रह्महा सुरापी च स्वर्णस्तेयी च पञ्चमः।
एतैर्दोषैर्विलिप्येत तेजोभेदान्महेश्वरि।
तस्माज्ज्योतिरभूद् द्विधा राधामाधवरूपकम्।।

हे शिवे! जो मनुष्य गौरतेज अर्थात् राधाजी के बिना केवल श्याम तेज अर्थात् कृष्ण का अर्चन-जप-ध्यान करता है, वह पातकी है। हे महेश्वरी! तेज के भेद से वह भेद करने वाला व्यक्ति इन दोषों से लिप्त होता है—

ब्रह्मघाती सुरापश्च गोघ्नश्च गुरुतल्पगः।
स्वर्णापहारी पञ्चैते महापातकिनः स्मृताः।।

इस स्मृति के अनुसार ब्राह्मणों को मारने वाला, शराब पीने वाला, गौओं की हत्या करने वाला, गुरुपत्नीगामी और सोने को चुराने वाला—ये पाँच महापातकी नर हैं। निचोड़ यह निकला कि इन महापातकियों को जो-जो दोष लगते हैं वे सब दोष भगवान् राधाकृष्ण में भेद को देखने वालों को भी लगते हैं।

चूँकि एक ही ज्योति राधा और माधव (कृष्ण) रूप में दो तरह प्रकट हुई हैं। राधा स्वयं कृष्ण का ही अभिन्न स्वरूप है तथा गुण-महिमादि विषय में दोनों के मध्य में कोई भेद नहीं है। केवल मात्र लीलारस आस्वादन करने के लिये दो प्रकार रूप धारण किया—गौरवर्ण-कृष्णवर्ण, गौरतेज-श्यामतेज।

यस्य पादयुगं साक्षात् श्रीरूपास्तेऽखिलेश्वरी।।

(श्रीमद्भागवत१०/६८/३६)

सर्वेश्वरी श्रीजी स्वयं जिसके चरणयुगल की सेवा करती हैं। राधाजी अर्थात् श्रीजी भगवान् की आह्लादिनी परा स्वकीया शक्ति हैं, इसलिये श्रीमद्भवद्गीता के अध्यायों में 'श्रीभगवानुवाच' उल्लिखित है। श्रीमद्भागवत के दशम-स्कन्ध में देखें—

श्रीनिकेतनम् (१०/३१/७) कृष्णः श्रीनिकेतनः (१०/८१/१६)।

पीछे ग्रन्थकार ने कहा है—**'या श्रीः सा वृषभानोस्तनया'** अर्थात् जो श्रीजी हैं, वही वृषभानु की तनया राधाजी हैं। व्रजधाम में राधाजी को श्रीजी कहते हैं। वेदादि शास्त्रीय ग्रन्थों में श्रीजी प्रसिद्ध हैं।

यह युगल राधामाधवरूप ज्योति वस्तुतः वेदान्तवेद्य ब्रह्मात्मा ही है। जैसे कि भगवान् भाष्यकार श्रीनिम्बार्काचार्य ने वेदान्तपारिजातसौरभ में कहा है—**ज्योतिर्ब्रह्मैव** (ब्र०सू०नि०भा० १/१/२)। श्रीमद्भागवत में इस ज्योति का वर्णन है—**एकं स्वयं ज्योतिः** (१०/७०/५) ध्यायञ्जजाप विरजं **ब्रह्मज्योतिः** सनातनम् (३/१४/३१)। यह ज्योति ब्रह्म ही है। यह ज्योति स्वयंप्रकाश है, ब्रह्मस्वरूप एक ही ज्योति राधामाधवरूप युगलस्वरूप का सुधीजन ध्यान करते हुए अर्चन-वन्दन-नमन-कीर्तन करते हैं।

इस विशुद्ध सनातन ब्रह्मज्योतिस्वरूप युग्मतत्त्व गौर-श्याम राधा-कृष्ण का यजन-पूजन-आराधन-चिन्तन-मनन-निदिध्यासन का वर्णन श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के पाँचवें अध्याय के श्लोक ३२ में है, जरा ध्यान से सुधीपाठक विचार करें—

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।।

सुष्ठु मेधा=धारणाशक्तिर्येषां ते सुमेधसः=सुधयः कृष्णवर्णं=श्यामतेजः, अकृष्णं=गौरतेजः यजन्ति=पूजयन्ति। यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु। इत्यन्वयः।

यज्—देवपूजा, यज्ञ करना आदि में है। सनातन ब्रह्मज्योति को ही यहाँ कृष्णवर्ण और अकृष्ण पद से कहा गया है और वही श्यामतेज तथा गौरतेज है—ऐसा जानना चाहिये। कृष्णवर्ण अर्थात् श्यामवर्ण भगवान् श्यामसुन्दर कृष्ण एवं अकृष्ण अर्थात् गौरवर्ण श्रीराधारानी का सुधीजन यजन-पूजन करते हैं।

अब पाठकवृन्द! श्लोक का यथार्थ व्याख्यान देखें—जो कृष्णवर्ण हैं तथा जो कान्ति से अकृष्ण=गौरवर्ण राधासंवलित हैं अथवा कान्ति से कृष्णवर्ण (तमालवर्ण) उसमें अकृष्ण (गौरवर्ण) चमक रहा है अर्थात् नील मेघ के समान सुन्दर जिनका श्यामवर्ण है तथा कान्ति बिजली के समान अकृष्ण (गौरतेज) शोभायमान हो रही है।

वे पाणि-पाद आदि अङ्ग, कौस्तुभमणि, मकराकार कुण्डल, वनमाला आदि उपाङ्ग, सुदर्शन चक्र आदि अस्त्र, सनकादि एवं नारदादि पार्षदों से संयुक्त हैं। विवेकी पुरुष यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, सत्सङ्ग इत्यादि द्वारा उन भूमा श्रीपुरुषोत्तम परमात्मा भगवान् श्रीश्रीराधाकृष्ण युगलविग्रह की उपासना करते हैं। कृष्णवर्ण अकृष्णवर्ण=तमालवर्ण गौरवर्ण ब्रह्म ज्योतिः।

जिनमें प्रायः लीलाकथा, गुण-धाम, स्वरूप-माहात्म्य एवं युगल नामों का सङ्कीर्तन हुआ करता है।

वैयाकरणों के मत में फलसिद्धि करने योग्य पदार्थ को हेतु कहते हैं। जो व्याकरण शास्त्र को जानता है अथवा पढ़ता है, उसे वैयाकरण कहते हैं। वे कहते हैं—जैसे इस लोक में देखा जाता है, प्रजाओं के कारण 'प्रजापति' कहे जाते हैं, वैसे ही राधा के कारण 'माधव' कहे जाते हैं। 'मा' नाम राधा उनके 'धव' पति को 'माधव' कहते हैं। 'इन्दिरा लोकमाता मा' इत्यमरः। इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया इस पाणिनिसूत्र (२/३/२१) के अनुसार **'राधया साकं माधवः नित्यं क्रीडति' 'राधया सेवितः'** राधया में तृतीया विभक्ति होने से राधा से उपलक्षित नाम-युक्त को माधव कहते हैं। उदाहरण—

जटाभिस्तापसः। जटाज्ञाप्य तापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः। तथैव प्रकृते राधयोपलक्षितो राधाज्ञाप्यमाधवत्वविशिष्ट इत्यर्थः।

अर्थात् जटाओं से तपस्वी का तपस्वीपना मालूम होता है, वैसे ही राधा सङ्ग माधव सत्सेवनीय, भजनीय, उपासनीय व वन्दनीय हैं।

राधा और कृष्ण का ऐक्य होने पर भी राधालक्षण तत्त्वकान्ति से अकृष्ण (गौरवर्ण) इस रूप से अलग करके राधा-ज्ञाप्यत्व कृष्ण में हैं, राधा से कृष्ण का कृष्णपन मालूम होता है। ऐसा ज्ञापित करके राधाकृष्ण समास में राधा पदोत्तर तृतीया विभक्ति का अनुचिन्तन करके राधाकृष्ण प्रयोग साधित है।

राधाकृष्णमहामन्त्रं यो जपेद् भक्तिपूर्वकम्।
अन्तकाले भवेत् तस्य राधा कृष्णोति संस्मृतिः।।

जो व्यक्ति राधाकृष्णयुगलनाममहामन्त्र का भक्तिपूर्वक जाप करते हैं, उन्हें अन्तकाल में राधाकृष्ण का संस्मरण होता है।

इस प्रकार इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया इस पाणिनिसूत्रग्रन्थ के आधार पर इस लोक में निगूढ़ा राधाभक्ति प्रकाशित व व्यञ्जित हुई और यही भक्ति श्रीशुकदेव की परम्परा का अनुसरण करती है। चूँकि श्रीशुकदेवजी ने उपास्यरूप राधा का कृष्ण से अधिक नामकीर्तन नहीं किया है। जो हम पीछे कह चुके हैं।

अब आप लोग एकाग्रचित्त से सनन्दनादि मुनियों के मुखारविन्द से श्रीश्रीराधाकृष्ण के ध्यान और युगलसहस्रनाम सुनिये।

अथ युगलध्यानम्

अपीच्यदर्शनं शश्वत् सर्वलोकनमस्कृतम्।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम्।।१।।
सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं राधाराधितविग्रहम्।।२।।
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमलताश्रितम्।
दिव्यालङ्करणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम्।।३।।
कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम् ।
चिन्तये चेतसा कृष्णं वनमालिनमीश्वरम्।।४।।
किशोरीं कृष्णसहितां नीलाम्बरधरां शुभाम्।
दक्षिणे धृतताम्बूलं पाणौ वामे समुद्गकम्।।५।।
धारयन्तीं स्वर्णभूषां सदा कृष्णानुरागिणीम्।
कृष्णास्यनयनासक्तां हारनूपुरभूषिताम्।।६।।

नवीनां हेमगौराङ्गीं पूर्णानन्दवतीं सतीम्।
वृषभानुसुतां देवीं वन्दे राधां जगत्प्रसूम्।।७।।

जिनकी सदा षोडश वर्ष की अवस्था है, जो सदा-सर्वदा किशोर अवस्था में रहते हैं, जिनका दर्शन बड़ा ही सुन्दर है, ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण को ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादि लोकपाल सदा नमस्कार करते हैं। वे अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये हमेशा व्याकुल रहते हैं। हम उनका सदा ध्यान करते हैं।

जिनके कमलनयन विकसित श्वेत कमल के समान अतिसुन्दर एवं मनोहर हैं, जिनके श्रीविग्रहों की कान्ति नील मेघ के समान सुन्दर श्याम हैं, जिनके श्री अङ्गों में बिजली के समान पीताम्बर चमक रहा है। जिनकी दो भुजाएँ हैं और वे ज्ञान की मुद्रा से युक्त हैं। जिनका दिव्य स्वरूप राधा द्वारा राधित (आराधित) है। हम उनका निरन्तर ध्यान करते हैं।

यहाँ राधाराधित विग्रह कहने का अभिप्राय यह है कि—

एक समय सूर्योपराग के समय समस्त व्रजवासी कुरुक्षेत्र में स्नानार्थ गये, जिसमें समस्त गोप, ग्वाल-बाल, गोपियाँ और स्वयं भगवती राधा पहुँची हैं। उधर द्वारका से समस्त द्वारकावासी और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपनी रानियों-पटरानियों सहित उस स्थान में पहुँचे हैं।

रुक्मिणीजी को जब यह मालूम हुआ कि श्रीवृन्दावन से हमारे पति की नित्य सहचरी राधाजी पधारी हैं तो उन्होंने राधाजी को अपने निजी महल का अतिथि बनाया एवं सब प्रकार के आतिथ्य का उत्तरदायित्व स्वीकार किया। अन्य सेवा-टहल के साथ वे रात्रि विश्राम के समय स्वयं अपने हाथों से उन्हें दूध पिलाया करती हैं।

एक रात भगवान् श्रीकृष्ण के पादसेवन करते हुए रुक्मिणीजी ने उनके श्रीचरणों में कुछ फफोले देखे तो वे आश्चर्यचकित हो गयीं। वे बार-बार भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में उभरे फफोलों के विषय में प्रश्न करने लगीं। अन्त में श्रीभगवान् ने उत्तर दिया—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशंप्रश्रयपाशबद्धं लवं लवार्द्धं न चलत्यतीवा।

अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽघ्रावुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्।।

(गर्गसंहिता, द्वारकाखण्ड १०/३५-३६)

अर्थात् श्रीराधा के हृदयारविन्द में मेरे चरणारविन्द सदा विराजित रहते हैं और तुमने आज उन्हें अधिक गरम दूध पिला दिया जिससे मेरे चरणों में फफोले पड़ गये। इसीलिये श्रीमद्भागवतप्रवक्ता श्रीशुकदेवजी ने कहा है— **रमाललित-पादपल्लवः** (भाग१०/१५/१९)।

जो व्रजवासी ग्वालबालों द्वारा, व्रजसुन्दरियों द्वारा तथा गौओं द्वारा सब ओर से घिरे हुए है, जो कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हुए हैं, जिनका दिव्य स्वरूप दिव्य अलङ्कारों से सुशोभित है, जो रत्नसिंहासन पर रत्नमय कमल के मध्यभाग में विराजमान हैं। हम उनका सर्वदा ध्यान करते हैं।

उनके गले में श्रीचरणकमलों तक लम्बी वनमाला शोभा पा रही है, यमुनाजल की लहरों से शीतल-सुगन्ध-मन्दयुक्त वायु द्वारा श्रीकृष्ण सेवित हो रहे हैं। ब्रह्मादि देवगणों के शासक परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण का हम सदा शुद्ध चित्त से ध्यान करते हैं।

श्रीजी श्रीवृषभानुनन्दनी राधारानी सदा किशोरी हैं। रसिक-भावुक भक्तजन उन्हें श्रीजी व किशोरीजी कहकर पुकारते हैं। वे सर्वदा षोडशी हैं यानी सोलह साल की अवस्था में हमेशा रहती हैं। राधा चमकता हुआ नीलाम्बर धारण की हुई हैं। उनके दाहिने हाथ में ताम्बूल (पान) और बाँयें हाथ में पान-दानी है और राधा-कृष्ण से युक्त हैं। वे सदा सुवर्ण के आभूषण धारण की हुई हैं। विविध रत्नों द्वारा निर्मित हार एवं नूपुर आदि आभूषणों से युक्त हैं। भगवती राधा भगवान् कृष्ण के अनुराग में अनुरक्त हैं। उनके मुखचन्द्र और कमलनयनों की ओर निहार रही हैं। देवी राधा के सर्वाङ्ग तप्त स्वर्ण के समान हैं। उन पूर्णानन्दवती श्रीवृषभानुतनया जगज्जननी देवी राधा की वन्दना (ध्यान) करते हैं।

इस प्रकार ऊपर बताये गये उपास्य देवता नित्य युगलकिशोर भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीश्रीराधाकृष्ण के स्वरूप का ध्यान करके उनके मङ्गलमय युगल सहस्रनामों का पाठ प्रतिदिन श्रद्धा-भक्ति-प्रयत्न के साथ करना चाहिये।

यहाँ भगवान् सनत्कुमार प्रवक्ता हैं और शेष भगवान् सनक, सनन्दन और सनातन श्रोता हैं। ब्रह्माजी के ये चारों सनकादि चतुस्सन मानस पुत्र हैं

और भगवान शिव के अग्रज हैं=बड़े भाई हैं—**प्रीतः प्राह भवाग्रजान्** (श्रीमद्भा०४/२२/६)।

ये ही महाभागवत जगद्गुरु नैष्ठिक ब्रह्मचारी सनकादि कुमारों ने पूज्यपाद देवर्षि नारदजी को परं तत्त्व व भागवत धर्म का सत् सम्प्रदाय के लिए उपदेश किया है।

यह बात छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय में भगवत्सनत्कुमार नारद सम्वाद में स्पष्ट उल्लिखित है।

और सुर तथा असुरों द्वारा स्तुत्य देवर्षि श्रीनारद ने भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य को उसी परम तत्त्व एवं भागवत धर्म का उपदेश किया है। तद्यथा—

नारदशिष्यः, नारदादिष्टसन्धर्ता, नारदद्रष्टा, नारदहार्दमर्मवित्, नारदसमुपदेष्टा, नारदहार्ददायकः।

अर्थात् श्रीनिम्बार्क भगवान् श्रीमन्नारदजी का दर्शन करने वाले श्रीमन्नारदजी के शिष्य हैं,

श्रीमन्नारदजी के आदेश का भली-भाँति पालन करने वाले, श्रीमन्नारद जी के हृदय के मर्म को जानने वाले, श्रीमन्नारदजी द्वारा बताये गये तत्त्वों का सम्यक् उपदेश करने वाले तथा नारदभक्तिप्रेम को देने वाले आचार्य ऋषि श्रीनिम्बार्कदेव[1]।

भगवता श्रीसनत्कुमारेण प्रोक्तम्—

श्रीश्रीराधाकृष्णयुगलसहस्रनामस्तोत्रम्

श्रीसनत्कुमार उवाच—

ततस्त्वं नारदः पुनः पृष्टवान् वै सदाशिवम्।
नाम्नां सहस्रं तच्चापि प्रोक्तवांस्तच्छृणुष्व मे।।
ध्यात्वा वृन्दावने रम्ये यमुनातीरसङ्गतम्।
कल्पवृक्षं समाश्रित्य तिष्ठन्तं राधिकायुतम्।
पठेन्नामसहस्रं तु युगलाख्यं महामुने।

स्तोत्रम्

देवकीनन्दनः शौरिर्वासुदेवो बलानुजः।
गदाग्रजः कंसमोहः कंससेवकमोहनः।।१।।

---

१. **द्रष्टव्य**—श्रीनिम्बार्कसहस्रनाम।

भिन्नार्गलो भिन्नलोहः पितृबाह्यः पितृस्तुतः।
मातृस्तुतः शिवध्येयो यमुनाजलभेदनः।।२।।
व्रजवासी व्रजानन्दी नन्दबालो दयानिधिः।
लीलाबालः पद्मनेत्रो गोकुलोत्सव ईश्वरः।।३।।
गोपिकानन्दनः कृष्णो गोपानन्दः सतां गतिः।
बकप्राणहरो विष्णुर्बकमुक्तिप्रदो हरिः।।४।।
बलदोलाशयशयः श्यामलः सर्वसुन्दरः।
पद्मनाभो हृषीकेशः क्रीडामनुजबालकः।।५।।
लीलाविध्वस्तशकटो वेदमन्त्राभिषेचितः।
यशोदानन्दनः कान्तो मुनिकोटिनिषेवितः।।६।।
नित्यं मधुवनावासी वैकुण्ठः सम्भवः क्रतुः।
रमापतिर्यदुपतिर्मुरारिर्मधुसूदनः।।७।।
माधवो मानहारी च श्रीपतिर्भूधरः प्रभुः।
बृहद्वनमहालीलो नन्दसूनुर्महासनः।।८।।
तृणावर्तप्राणहारी यशोदाविस्मयप्रदः।
त्रैलोक्यवक्त्रः पद्माक्षः पद्महस्तः प्रियङ्करः।।९।।
ब्रह्मण्यो धर्मगोप्ता च भूपतिः श्रीधरः स्वराट्।
अजाध्यक्षः शिवाध्यक्षो धर्माध्यक्षो महेश्वरः।।१०।।
वेदान्तवेद्यो ब्रह्मस्थः प्रजापतिरमोघदृक्।
गोपीकरावलम्बी च गोपबालकसुप्रियः।।११।।
बलानुयायी बलवान् श्रीदामप्रिय आत्मवान्।
गोपीगृहाङ्गणरतिर्भद्रः सुश्लोकमङ्गलः।।१२।।
नवनीतहरो बालो नवनीतप्रियाशनः।
बालवृन्दी मर्कवृन्दी चकिताक्षः पलायितः।।१३।।
यशोदातर्जितः कम्पी मायारुदितशोभनः।
दामोदरोऽप्रमेयात्मा दयालुर्भक्तवत्सलः।।१४।।
सुबद्धोलूखलो नम्रशिरा गोपीकदर्थितः।
वृक्षभङ्गी शोकभङ्गी धनदात्मजमोक्षणः।।१५।।

देवर्षिवचनश्लाघी भक्तवात्सल्यसागरः।
व्रजकोलाहलकरो व्रजानन्दविवर्द्धनः।।१६।।
गोपात्मा प्रेरकः साक्षी वृन्दावननिवासकृत्।
वत्सपालो वत्सपतिर्गोपदारकमण्डनः।।१७।।
बालक्रीडो बालरतिर्बालकः कनकाङ्गदी।
पीताम्बरो हेममाली मणिमुक्ताविभूषणः।।१८।।
किङ्किणी कटकी सूत्री नूपुरी मुद्रिकान्वितः।
वत्सासुरपतिध्वंसी बकासुरविनाशनः।।१९।।
अघासुरविनाशी च विनिद्रीकृतबालकः।
आद्य आत्मप्रदः सङ्गी यमुनातीरभोजनः।।२०।।
गोपालमण्डलीमध्यः सर्वगोपालभूषणः।
कृतहस्ततलग्रासो व्यञ्जनाश्रितशाखिकः।।२१।।
कृतबाहुशृङ्गयष्टिर्गुञ्जालङ्कृतकण्ठकः।
मयूरपिच्छमुकुटो वनमालाविभूषितः।।२२।।
गौरिकाचित्रितवपुर्नवमेघवपुस्स्मरः।
कोटिकन्दर्पलावण्यो लसन्मकरकुण्डलः।।२३।।
आजानुबाहुर्भगवान् निद्रारहितलोचनः।
कोटिसागरगाम्भीर्यः कालकालः सदाशिवः।।२४।।
विरञ्चिमोहनवपुर्गोपवत्सवपुर्धरः।
ब्रह्माण्डकोटिजनको ब्रह्ममोहविनाशकः।।२५।।
ब्रह्मा ब्रह्मेडितः स्वामी शुक्रदर्पादिनाशनः।
गिरिपूजोपदेष्टा च धृतगोवर्द्धनाचलः।।२६।।
पुरन्दरेडितः पूज्यः कामधेनुप्रपूजितः।
सर्वतीर्थाभिषिक्तश्च गोविन्दो गोपरक्षकः।।२७।।
कालियार्तिकरः क्रूरो नागपत्नीडितो विराट्।
धेनुकारिः प्रलम्बारिर्वृषासुरविमर्दनः।।२८।।
मयासुरात्मजध्वंसी केशिकण्ठविदारकः।
गोपगोप्ता धेनुगोप्ता दावाग्निपरिशोषकः।।२९।।

गोपकन्यावस्त्रहारी गोपकन्यावरप्रदः।
यज्ञपत्न्यन्नभोजी च मुनिमानापहारकः।।३०।।
जलेशमानमथनो नन्दगोपालजीवनः।
गन्धर्वशापमोक्ता च शङ्खचूडशिरोहरः।।३१।।
वंशीवटी वेणुवादी गोपीचिन्तापहारकः।
सर्वगोप्ता समाह्वानः सर्वगोपीमनोरथः।।३२।।
व्यङ्ग्यधर्मप्रवक्ता च गोपीमण्डलमोहनः।
रासक्रीडारसास्वादी रसिको राधिकाधवः।।३३।।
किशोरीप्राणनाथश्च वृषभानुसुताप्रियः।
सर्वगोपीजनानन्दी गोपीजनविमोहनः।।३४।।
गोपिकागीतचरितो गोपीनर्तनलालसः।
गोपीस्कन्धाश्रितकरो गोपिकाचुम्बनप्रियः।।३५।।
गोपिकामार्जितमुखो गोपीव्यजनवीजितः।
गोपिकाकेशसंस्कारी गोपिकापुष्पसंस्तरः।।३६।।
गोपिकाहृदयालम्बी गोपीवहनतत्परः।
गोपिकामदहारी च गोपिकापरमार्जितः।।३७।।
गोपिकाकृतसल्लीलो गोपिकासंस्मृतप्रियः।
गोपिकावन्दितपदो गोपिकावशवर्तनः।।३८।।
राधापराजितः श्रीमान् निकुञ्जेषु विहारवान्।
कुञ्जप्रियः कुञ्जवासी वृन्दावनविकासनः।।३९।।
यमुनाजलसिक्ताङ्गो यमुनासौख्यदायकः।
शशिसंस्तम्भनः शूरः कामी कामविमोहनः।।४०।।
कामाद्यः कामनाथश्च काममानसभेदनः।
कामदः कामरूपश्च कामिनीकामसञ्चयः।।४१।।
नित्यक्रीडो महालीलः सर्वः सर्वगतस्तथा।
परमात्मा पराधीशः सर्वकारणकारणः।।४२।।
गृहीतनारदवचो ह्यक्रूरपरिचिन्तितः।
अक्रूरवन्दितपदो गोपिकातोषकारकः।।४३।।

अक्रूरवाक्यसङ्ग्राही मथुरावासकारणः।
अक्रूरतापशमनो रजकायुःप्रणाशनः।।४४।।
मथुरानन्ददायी च कंसवस्त्रविलुण्ठनः।
कंसवस्त्रपरिधानो गोपवस्त्रप्रदायकः।।४५।।
सुदामगृहगामी च सुदामपरिपूजितः।
तन्तुवायकसम्प्रीतः कुब्जाचन्दनलेपनः।।४६।।
कुब्जारूपप्रदो विज्ञो मुकुन्दो विष्टरश्रवाः।
सर्वज्ञो मथुरालोकी सर्वलोकाभिनन्दनः।।४७।।
कृपाकटाक्षदर्शी च दैत्यारिर्देवपालकः।
सर्वदुःखप्रशमनो धनुर्भङ्गी महोत्सवः।।४८।।
कुवलयापीडहन्ता दन्तस्कन्धबलाग्रणीः।
कल्परूपधरो धीरो दिव्यवस्त्रानुलेपनः।।४९।।
मल्लरूपो महाकालः कामरूपी बलान्वितः।
कंसत्रासकरो भीमो मुष्टिकान्तश्च कंसहा।।५०।।
चाणूरघ्नो भयहरः शलारिस्तोशलान्तकः।
वैकुण्ठवासी कंसारिः सर्वदुष्टनिषूदनः।।५१।।
देवदुन्दुभिनिर्घोषी पितृशोकनिवारणः।
यादवेन्द्रः सतां नाथो यादवारिप्रमर्दनः।।५२।।
शौरिशोकविनाशी च देवकीतापनाशनः।
उग्रसेनपरित्राता उग्रसेनाभिपूजितः।।५३।।
उग्रसेनाभिषेकी च उग्रसेनदयापरः।
सर्वसात्वतसाक्षी च यदूनामभिनन्दनः।।५४।।
सर्वमाथुरसंसेव्यः करुणो भक्तबान्धवः।
सर्वगोपालधनदो गोपीगोपाललालसः।।५५।।
शौरिदत्तोपवीती च उग्रसेनदयाकरः।
गुरुभक्तो ब्रह्मचारी निगमाध्ययने रतः।।५६।।
सङ्कर्षणसहाध्यायी सुदामसुहृदेव च।
विद्यानिधिः कलाकोशो मृतपुत्रप्रदस्तथा।।५७।।

चक्री पाञ्चजनी चैव सर्वनारकिमोचनः।
यमार्चितः परो देवो नामोच्चारवशोऽच्युतः।।५८।।
कुब्जाविलासी सुभगो दीनबन्धुरनूपमः।
अक्रूरगृहगोप्ता च प्रतिज्ञापालकः शुभः।।५९।।
जरासन्धजयी विद्वान् यवनान्तो द्विजाश्रयः।
मुचुकुन्दप्रियकरो जरासन्धपलायितः।।६०।।
द्वारकाजनको गूढो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः।
लीलाधरः प्रियकरो विश्वकर्मा यशप्रदः।।६१।।
रुक्मिणीप्रियसन्देशो रुक्मशोकविवर्द्धनः।
चोद्यशोकालयः श्रेष्ठो दुष्टराजन्यनाशनः।।६२।।
रुक्मिवैरूप्यकरणो रुक्मिणीवचने रतः।
बलभद्रवचोग्राही मुक्तरुक्मी जनार्दनः।।६३।।
रुक्मिणीप्राणनाथश्च सत्यभामापतिः स्वयम्।
भक्तपक्षी भक्तिवश्यो ह्यक्रूरमणिदायकः।।६४।।
शतधन्वाप्राणहारी ऋक्षराजसुताप्रियः।
सत्राजित्तनयाकान्तो मित्रविन्दापहारकः।।६५।।
सत्यापतिर्लक्ष्मणाजित्पूज्यो भद्राप्रियङ्करः।
नरकासुरघाती च लीलाकन्याहरो जयी।।६६।।
मुरारिर्मदनेशोऽपि धरित्रीदुःखनाशनः।
वैनतयी स्वर्गगामी अदित्यै कुण्डलप्रदः।।६७।।
इन्द्रार्चितो रमाकान्तो वज्रिभार्याप्रपूजितः।
पारिजातापहारी च शक्रमानापहारकः।।६८।।
प्रद्युम्नजनकः साम्बतातो बहुसुतो विधुः।
गर्गाचार्यः सत्यगतिर्धर्माधारो धराधरः।।६९।।
द्वारकामण्डनः श्लोक्यः सुश्लोको निगमालयः।
पौण्ड्रकप्राणहारी च काशीराजशिरोहरः।।७०।।
अवैष्णवविप्रदाही सुदक्षिणभयावहः।
जरासन्धविदारी च धर्मनन्दनयज्ञकृत्।।७१।।

शिशुपालशिरश्छेदी दन्तवक्त्रविनाशनः।
विदूरथान्तकः श्रीशः श्रीदो द्विविदनाशनः।।७२।।
रुक्मिणीमानहारी च रुक्मिणीमानवर्द्धनः।
देवर्षिशापहर्ता च द्रौपदीवाक्यपालकः।।७३।।
दुर्वासाभयहारी च पाञ्चालीस्मरणागतः।
पार्थदूतः पार्थमन्त्री पार्थदुःखौघनाशनः।।७४।।
पार्थमानापहारी च पार्थजीवनदायकः।
पाञ्चालीवस्त्रदाता च विश्वपालकपालकः।।७५।।
श्वेताश्वसारथिः सत्यः सत्यसाध्यो भयापहः।
सत्यसन्धः सत्यरतिः सत्यप्रिय उदारधीः।।७६।।
महासेनजयी चैव शिवसैन्यविनाशनः।
वाणासुरभुजच्छेत्ता बाणबाहुवरप्रदः।।७७।।
तार्क्ष्यमानापहारी च तार्क्ष्यतेजोविवर्द्धनः।
रामस्वरूपधारी च सत्यभामामुदावहः।।७८।।
रत्नाकरजलक्रीडो व्रजलीलाप्रदर्शकः।
स्वप्रतिज्ञापरिध्वंसी भीष्माज्ञापरिपालकः।।७९।।
वीरायुधहरः कालः कालिकेशो महाबलः।
बर्बरीकशिरोहारी बर्बरीकशिरप्रदः।।८०।।
धर्मपुत्रजयी शूरदुर्योधनमदान्तकः।
गोपिकाप्रीतिनिर्बन्धनित्यक्रीडो व्रजेश्वरः।।८१।।
राधाकुण्डरतिर्धन्यः सदान्दोलसमाश्रितः।
सदा मधुवनानन्दी सदा वृन्दावनप्रियः।।८२।।
अशोकवनसन्नद्धः सदा तिलकसङ्गतः।
सदा गोवर्द्धनरतिः सदा गोकुलवल्लभः।।८३।।
भाण्डीरवटसम्वासी नित्यं वंशीवटस्थितः।
नन्दग्रामकृतावासो वृषभानुगृहप्रियः।।८४।।
गृहीतकामिनीरूपो नित्यं रासविलासकृत्।
वल्लवीजनसङ्गोप्ता वल्लवीजनवल्लभः।।८५।।

देवशर्मकृपाकर्ता कल्पपादपसंस्थितः।
शिलानुगन्धनिलयः पादचारी घनच्छविः।।८६।।
अतसीकुसुमप्रख्यः सदा लक्ष्मीकृपाकरः।
त्रिपुरारिप्रियकरो ह्युग्रधन्वापराजितः।।८७।।
षड्धुरध्वंसकर्ता च निकुम्भप्राणहारकः।
वज्रनाभपुरध्वंसी पौण्ड्रकप्राणहारकः।।८८।।
बहुलाश्वप्रीतिकर्ता द्विजवर्यप्रियङ्करः।
शिवसङ्कटहारी च वृकासुरविनाशनः।।८९।।
भृगुसत्कारकारी च शिवसात्त्विकताप्रदः।
गोकर्णपूजकः साम्बकुष्ठविध्वंसकारणः।।९०।।
वेदस्तुतो वेदवेत्ता यदुवंशविवर्द्धनः।
यदुवंशविनाशी च उद्धवोद्धारकारकः।।९१।।
राधा च राधिका चैव आनन्दा वृषभानुजा।
वृन्दावनेश्वरी पुण्या कृष्णमानसहारिणी।।९२।।
प्रगल्भा चतुरा कामा कामिनी हरिमोहिनी।
ललिता मधुरा माध्वी किशोरी कनकप्रभा।।९३।।
जितचन्द्रा जितमृगा जितसिंहा जितद्विपा।
जितरम्भा जितपिका गोविन्दहृदयोद्भवा।।९४।।
जितबिम्बा जितशुका जितपद्मा कुमारिका।
श्रीकृष्णाकर्षणा देवी नित्यं युग्मस्वरूपिणी।।९५।।
नित्यं विहारिणी कान्ता रसिका कृष्णवल्लभा।
आमोदिनी मोदवती नन्दनन्दनभूषिता।।९६।।
दिव्याम्बरा दिव्यहारा मुक्तामणिविभूषिता।
कुञ्जप्रिया कुञ्जवासा कुञ्जनायकनायिका।।९७।।
चारुरूपा चारुवक्त्रा चारुहेमाङ्गदा शुभा।
श्रीकृष्णवेणुसङ्गीता मुरलीहारिणी शिवा।।९८।।
भद्रा भगवती शान्ता कुमुदा सुन्दरी प्रिया।
कृष्णक्रीडा कृष्णरतिः श्रीकृष्णसहचारिणी।।९९।।

वंशीवटप्रियस्थाना युग्मायुग्मस्वरूपिणी।
भाण्डीरवासिनी शुभ्रा गोपीनाथप्रिया सखी।।१००।।
श्रुतिनिःश्वसिता दिव्या गोविन्दरसदायिनी।
श्रीकृष्णप्रार्थनीशाना महानन्दप्रदायिनी।।१०१।।
वैकुण्ठजनसंसेव्या कोटिलक्ष्मीसुखावहा।
कोटिकन्दर्पलावण्या रतिकोटिरतिप्रदा।।१०२।।
भक्तिग्राह्या भक्तिरूपा लावण्यसरसी उमा।
ब्रह्मरुद्रादिसंराध्या नित्यं कौतूहलान्विता।।१०३।।
नित्यलीला नित्यकामा नित्यशृङ्गारभूषिता।
नित्यवृन्दावनरसा नन्दनन्दनसंयुता।।१०४।।
गोपिकामण्डलीयुक्ता नित्यं गोपालसङ्गता।
गोरसक्षेपणी शूरा सानन्दानन्ददायिनी।।१०५।।
महालीलाप्रकृष्टा च नागरी नगचारिणी।
नित्यमाघूर्णिता पूर्णा कस्तूरीतिलकान्विता।।१०६।।
पद्मा श्यामा मृगाक्षी च सिद्धिरूपा रसावहा।
कोटिचन्द्रानना गौरी कोटिकोकिलसुस्वरा।।१०७।।
शीलसौन्दर्यनिलयः नन्दनन्दनलालिता।
अशोकवनसम्वासा भाण्डीरवनसङ्गता।।१०८।।
कल्पद्रुमतलाविष्टा कृष्णा विश्वा हरिप्रिया।
अजागम्या भवागम्या गोवर्द्धनकृतालया।।१०९।।
यमुनातीरनिलया शश्वद्गोविन्दजल्पिनी।
शश्वन्मानवती स्निग्धा श्रीकृष्णपरिवन्दिता।।११०।।
कृष्णस्तुता कृष्णवृता श्रीकृष्णहृदयालया।
देवद्रुमफला सेव्या वृन्दावनरसालया।।१११।।
कोटितीर्थमयी सत्या कोटितीर्थफलप्रदा।
कोटियोगसुदुष्प्राप्या कोटियज्ञदुराश्रया।।११२।।
मनसा शशिलेखा च श्रीकोटिसुभगाऽनघा।
कोटिमुक्तसुखा सौम्या लक्ष्मीकोटिविलासिनी।।११३।।

तिलोत्तमा त्रिकालस्था त्रिकालज्ञाप्यधीश्वरी।
त्रिवेदज्ञा त्रिलोकज्ञा तुरीयान्तनिवासिनी।।११४।।
दुर्गाराध्या रमाराध्या विश्वाराध्या चिदात्मिका।
देवाराध्या पराराध्या ब्रह्माराध्या परात्मिका।।११५।।
शिवाराध्या प्रेमसाध्या भक्ताराध्या रसात्मिका।
कृष्णप्राणार्पिणी भामा शुद्धप्रेमविलासिनी।।१ ।।
कृष्णाराध्या भक्तिसाध्या भक्तवृन्दनिषेविता।
विश्वधारा कृपाधारा जीवाधारातिनायिका।।११७।।
शुद्धप्रेममयी लज्जा नित्यसिद्धा शिरोमणिः।
दिव्यरूपा दिव्यभोगा दिव्यवेषा मुदान्विता।।११८।।
दिव्याङ्गनावृन्दसारा नित्यनूतनयौवना।
परब्रह्मावृता ध्येया महारूपा महोज्ज्वला।।११९।।
कोटिसूर्यप्रभा कोटिचन्द्रबिम्बाधिकच्छविः।
कोमलामृतवागाद्या वेदाद्या वेददुर्लभा।।१२०।।
कृष्णासक्ता कृष्णभक्ता चन्द्रावलिनिषेविता।
कलाषोडशसम्पूर्णा कृष्णदेहार्धधारिणी।।१२१।।
कृष्णबुद्धिः कृष्णसारा कृष्णरूपविहारिणी।
कृष्णकान्ता कृष्णधना कृष्णमोहनकारिणी।।१२२।।
कृष्णदृष्टिः कृष्णगोत्री कृष्णदेवी कुलोद्वहा।
सर्वलोकस्थितावात्मा सर्वलोकनमस्कृता।।१२३।।
कृष्णदात्री प्रेमधात्री स्वर्णगात्री मनोरमा।
नगधात्री यशोदात्री महादेवी शुभङ्करी।।१२४।।
श्रीशेषदेवजननी अवतारगणप्रसूः।
उत्पलाङ्कारविन्दाङ्का प्रासादाङ्काद्वितीयका।।१२५।।
रथाङ्का कुञ्जराङ्का च कुण्डलाङ्कपदस्थिता।
छत्राङ्का विद्युदङ्का च पुष्पमालाङ्कितापि च।।१२६।।
दण्डाङ्का मुकुटाङ्का च पूर्णचन्द्रा शुकाङ्किता।
कृष्णान्नहारपाका च वृन्दाकुञ्जविहारिणी।।१२७।।

कृष्णप्रबोधनकरी कृष्णशेषान्नभोजिनी।
पद्मकेसरमध्यस्था सङ्गीतागमवेदिनी।।१२८।।
कोटिकल्पान्तभ्रूभङ्गा अप्राप्तप्रलयाच्युता।
सर्वसत्त्वनिधिः पद्मशङ्खादिनिधिसेविता।।१२९।।
अणिमादिगुणैश्वर्या देववृन्दविमोहिनी।
सर्वानन्दप्रदा सर्वा सुवर्णलतिकाकृतिः।।१३०।।
कृष्णाभिसारसङ्केता मालिनी नृत्यपण्डिता।
गोपीसिन्धुसकाशाह्वा गोपमण्डपशोभिनी।।१३१।।
श्रीकृष्णप्रीतिदा भीता प्रत्यङ्गपुलकाञ्चिता।
श्रीकृष्णालिङ्गनरता गोविन्दविरहाक्षमा।।१३२।।
अनन्तगुणसम्पन्ना कृष्णकीर्तनलालसा।
बीजत्रयमयीमूर्तिः कृष्णानुग्रहवाञ्छिता।।१३३।।
विमलादिनिषेव्या च ललिताद्यर्चिता सती।
पद्मवृन्दस्थिता हृष्टा त्रिपुरापरिसेविता।।१३४।।
वृन्तावत्यर्च्चिता श्रद्धा दुर्ज्ञेया भक्तवल्लभा।
दुर्लभा सान्द्रसौख्यात्मा श्रेयोहेतुः सुभोगदा।।१३५।।
सारङ्गा शारदा बोधा सद्वृन्दावनचारिणी।
ब्रह्मानन्दा चिदानन्दा ध्यानानन्दार्धमात्रिका।।१३६।।
गन्धर्वा सुरतज्ञा च गोविन्दप्राणसङ्गमा।
कृष्णाङ्गभूषणा रत्नभूषणा स्वर्णभूषिता।।१३७।।
श्रीकृष्णहृदयावासा मुक्ताकनकनासिका।
सद्रत्नकङ्कणयुता श्रीमन्नीलगिरिस्थिता।।१३८।।
स्वर्णनूपुरसम्पन्ना स्वर्णकिङ्किणिमण्डिता।
अशेषरासकुतुका रम्भोरुस्तनुमध्यमा।।१३९।।
पराकृतिः परानन्दा परस्वर्गविहारिणी।
प्रसूनकबरी चित्रा महासिन्दूरसुन्दरी।।१४०।।
कैशोरवयसा बाला प्रमदाकुलशेखरा।
कृष्णाधरसुधास्वादा श्यामप्रेमविनोदिनी।।१४१।।

शिखिपिच्छलसच्चूडा स्वर्णचम्पकभूषिता।
कुङ्कुमालक्तकस्तूरीमण्डिता चापराजिता।।१४२।।
हेमहारान्विता पुष्पहाराढ्या रसवत्यपि।
माधुर्यमधुरा पद्मा पद्महस्ता सुविश्रुता।।१४३।।
भ्रूभङ्गाभङ्गकोदण्डकटाक्षशरसन्धिनी।
शेषदेवाशिरस्था च नित्यस्थलविहारिणी।।१४४।।
कारुण्यजलमध्यस्था नित्यमत्ताधिरोहिणी।
अष्टभाववती चाष्टनायिका लक्षणान्विता।।१४५।।
सुनीतिज्ञा श्रुतिज्ञा च सर्वज्ञा दुःखहारिणी।
रजोगुणेश्वरी चैव शरच्चन्द्रनिभानना।।१४६।।
केतकीकुसुमाभासा सदा सिन्धुवनस्थिता।
हेमपुष्पाधिककरा पञ्चशक्तिमयी हिता।।१४७।।
स्तनकुम्भी नराढ्या च क्षीणा पुण्या यशस्विनी।
वैराजसूर्यजननी श्रीशा भुवनमोहिनी।।१४८।।
महाशोभा महामाया महाकान्तिर्महास्मृतिः।
महामोहा महाविद्या महाकीर्तिर्महारतिः।।१४९।।
महाधैर्या महावीर्या महाशक्तिर्महाद्युतिः।
महागौरी महासम्पन्महाभोगविलासिनी।।१५०।।
समया भक्तिदाशोका वात्सल्यरसदायिनी।
सुहृद्भक्तिप्रदा स्वच्छा माधुर्यरसवर्षिणी।।१५१।।
भावभक्तिप्रदा शुद्धप्रेमभक्तिविधायिनी।
गोपरामाभिरामा च क्रीडारामा परेश्वरी।।१५२।।
नित्यरामा चात्मरामा कृष्णरामा रमेश्वरी।
एकानेकजगद्व्याप्ता विश्वलीलाप्रकाशिनी।।१५३।।
सरस्वतीशा दुर्गेशा जगदीशा जगद्विधिः।
विष्णुवंशनिवासा च विष्णुवंशसमुद्भवा।।१५४।।
विष्णुवंशस्तुता कर्त्री विष्णुवंशावनी सदा।
आरामस्था वनस्था च सूर्यपुत्र्यवगाहिनी।।१५५।।

प्रीतिस्था नित्ययन्त्रस्था गोलोकस्था विभूतिदा।
स्वानुभूतिस्थिता व्यक्ता सर्वलोकनिवासिनी।।१५६।।
अमृता ह्यद्भुता श्रीमन्नारायणसमीडिता।
अक्षरापि च कूटस्था महापुरुषसम्भवा।।१५७।।
औदार्यभावसाध्या च स्थूलस्मूक्ष्मातिरूपिणी।
शिरीषपुष्पमृदुला गाङ्गेयमुकुरप्रभा।।१५८।।
नीलोत्पलजिताक्षी च सद्रत्नकबरान्विता।
प्रेमपर्यङ्कनिलया तेजोमण्डलमध्यगा।।१५९।।
कृष्णाङ्गगोपनाभेदा लीलावरणनायिका।
सुधासिन्धुसमुल्लासामृतास्यन्दविधायिनी ।।१६०।।
कृष्णचित्ता रासचित्ता प्रेमचित्ता हरिप्रिया।
अचिन्तनगुणग्रामा कृष्णलीला महालहा।।१६१।।
राससिन्धुशशाङ्का च रासमण्डलमण्डिनी।
नतव्रता श्रीहरीच्छा सुमूर्तिः सुरवन्दिता।।१६२।।
गोपीचूडामणिर्गोपीगणेड्या विरजाधिका।
गोपप्रेष्ठा गोपकन्या गोपनारी सुगोपिका।।१६३।।
गोपधामा सुदामाम्बा गोपाली गोपमोहिनी।
गोपभूषा कृष्णभूषा श्रीवृन्दावनचन्द्रिका।।१६४।।
वीणादिघोषनिरता रासोत्सवविकासिनी।
कृष्णचेष्टापरिज्ञाता कोटिकन्दर्पमोहिनी।।१६५।।
श्रीकृष्णगुणगानाढ्या देवसुन्दरिमोहिनी।
कृष्णचन्द्रमनोज्ञा च कृष्णदेवसहोदरी।।१६६।।
कृष्णाभिलाषिणी कृष्णप्रेमानुग्रहवाञ्छिनी।
क्षेमा च मधुरालापा भ्रुवोमाया सुभद्रिका।।१६७।।
प्रकृतिः परमानन्दा नीपद्रुमतलस्थिता।
कृपाकटाक्षा बिम्बोष्ठी रम्भा चारुनितम्बिनी।।१६८।।
स्मरकेलिनिधाना च गण्डताटङ्कमण्डिता।
हेमाद्रिकान्तिरुचिरा प्रेमाढ्या मदमन्थरा।।१६९।।

कृष्णाचिन्ता प्रेमचिन्ता रतिचिन्ता च कृष्णदा।
रासचिन्ता भावचिन्ता शुद्धचिन्ता महारसा।।१७०।।
कृष्णादृष्टित्रुटियुगा दृष्टिपक्ष्मविनिन्दिनी।
कन्दर्पजननी मुख्या वैकुण्ठगतिदायिनी।।१७१।।
रासभावा प्रियाश्लिष्टा प्रेष्ठा प्रथमनायिका।
शुद्धा सुधादेहिनी च श्रीरामा रसमञ्जरी।।१७२।।
सुप्रभावा शुभाचारा स्वर्नदी नर्मदाम्बिका।
गोमती चन्द्रभागेड्या सरयू ताम्रपर्णिसूः।
निष्कलङ्कचरित्रा च निर्गुणा च निरञ्जना।।१७३।।

फलश्रुतिः

एतन्नामसहस्रं तु युग्मरूपस्य नारद।
पठनीयं प्रयत्नेन वृन्दावनरसावहे।
महापापप्रशमनं वन्ध्यात्वविनिवर्तकम्।।१७४।।
दारिद्र्यशमनं रोगनाशनं कामदं महत्।
पापापहं वैरिहरं राधामाधवभक्तिदम्।।१७५।।
नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
राधासङ्गसुधासिन्धौ नमो नित्यविहारिणे।।१७६।।
राधा देवी जगत्कर्त्री जगत्पालनतत्परा।
जगल्लयविधात्री च सर्वेशी सर्वसूतिका।।१७७।।
तस्या नाम सहस्रं वै मया प्रोक्तं मुनीश्वर।
भुक्तिमुक्तिप्रदं दिव्यं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।।१७८।।

।। इतिश्रीबृहन्नारदीयपुराणे पूर्वभागे बृहदुपाख्याने तृतीयपादे श्रीश्रीराधाकृष्णयुगलसहस्रनामस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।।

पूर्वोक्त चतुर्थ और पञ्चम श्लोक में भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण की युगलोपासना करने के लिये उपदेश किया है, इस कारण प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने श्रीराधाकृष्णयुगलसहस्रनामस्तोत्र को उद्धृत किया है। देवर्षि नारद के प्रति श्रीराधा की उक्ति है—

अहं च ललिता देवी पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
आवयोरन्तरं नास्ति सत्यं सत्यं हि नारद।।

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ४४/४६)

अर्थात् मैं देवी ललिता हूँ एवं पुरुषरूपधारी कृष्ण भी मैं ही हूँ। हे नारद! हम दोनों के मध्य में कोई भेद नहीं है, यह निश्चित सत्य जानों। इसीलिये ऋक्परिशिष्ट श्रुति में भी वर्णित है—

राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका विराजते।

अर्थात् राधा से युक्त देव माधव और माधव से युक्त राधिका विराजमान हैं। इसके द्वारा यही कहा जा सकता है कि इस युगल मूर्त्ति की भक्तिपूर्वक अर्चना, वन्दना, ध्यानादि नाम, रूप, लीला और धाम चिन्तनरूप उपासना द्वारा शीघ्र ही परा भक्तिलाभ करके श्रीभगवद्भावापत्तिरूप मोक्षलाभ होता है।

यह श्रीश्रीराधाकृष्णयुगल-उपासना सनकादि महर्षियों ने मुनीश्वर नारद को बतलायी और श्रीमन्नारदजी ने भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य को इस युगल उपासना का उपदेश किया। इसी आशय को स्वयं भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने **स्वभावतो**......................इस श्लोक से प्रारम्भ कर **श्रीनारदाय**..... यहाँ तक वेदान्तकामधेनु में एवं **'परमाचार्यैः श्रीकुमारैरस्मद्गुरुवे श्रीमन्नारदायोपदिष्टो भूमा प्राणो न भवति किन्तु श्रीपुरुषोत्तमः'** (ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्य १/३/८) द्वारा पूज्यपाद अस्मत्पूर्वाचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने प्रस्तुत वेदान्तसिद्धान्तरत्नाञ्जलि में विस्तृत रूप से व्याख्यायित किया है।

श्रिञ् सेवायाम्। श्रिञ् धातु सेवा में है, सेवा करना। श्रीः=राधा, पुरुषोत्तमं=कृष्णं श्रयते। श्रिया=राधया पुरुषोत्तमः=कृष्णः सेव्यते इत्यर्थः। तदुक्तं भवति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे—

अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यस्य पादयुगं साक्षात् श्रीरूपास्तेऽखिलेश्वरी।।

अर्थात् लोक एवं वेद प्रसिद्ध श्रीजी यानी राधाजी लोक-वेदप्रसिद्ध पुरुषोत्तम यानी कृष्ण की सेवा करती हैं।

श्रीनिम्बार्क भगवान् कहते हैं—

परमाचार्यकुमारगण (सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार) हमारे

गुरुदेव श्रीनारदजी को जो भूमविद्या उपदेश किये हैं, वह छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में वर्णित है। वह भूमविद्या नाम से प्रसिद्ध है।[१]

जो भूमा है, उसके सम्बन्ध में ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये। भूमा को ही जानना चाहिए। इस स्थल पर भूमा प्राणवायु-विशिष्ट जीव नहीं है; किन्तु श्रीपुरुषोत्तम राधाकृष्ण हैं—ऐसा जानना चाहिये। लोक और वेद में प्रसिद्ध भूमा परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम राधाकृष्ण को ही विशेष रूप में जानना चाहिये।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि छान्दोग्योपनिषद् में देखा जाता है कि केवल मात्र भगवान् श्रीसनत्कुमार ने ही श्रीनारदजी को भूमविद्या का उपदेश किया है। चारों कुमारों ने तो उपदेश किया नहीं? इसका उत्तर यह है कि चारों कुमार सर्वदा एक सङ्ग ही अवस्थान करते हैं, उनके मध्य में एक के द्वारा उपदेश करने पर वही चारों का उपदेश कहकर गृहीत होता है। इसलिये भगवान् श्रीसनत्कुमार के उपदेशों को चारों कुमारों का उपदेश कहकर भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य अपने भाष्य में बताये हैं। अतएव श्रीमद्भागवत में (४/२२/६) कहा है—**प्रीतः प्राह भवाग्रजान्।** अथवा कुमार शब्द से सनत्कुमार को समझा जाता है एवं गौरवार्थ बहुवचन प्रयोग हुआ है।

यो रमाकान्तः पुरुषोत्तमो ब्रह्मशब्दाभिधेयः तद्विषयिका जिज्ञासा सततं सम्पादनीया। इति। ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्यम्, वेदान्तकौस्तुभवेदान्तकौस्तुभप्रभा-भावदीपिका-व्याख्यत्रयोपेतम् द्रष्टव्यम्।

श्रीनिम्बार्क भगवान् जिज्ञासाधिकरण में कहते हैं—जो रमाकान्त=राधाकान्त पुरुषोत्तम=कृष्ण ब्रह्म शब्द से कहे जाते हैं, तद्विषयिणी अर्थात् राधाकृष्ण को विषय करने वाली जिज्ञासा=जानने की इच्छा हमेशा करनी चाहिये। यही समस्त शास्त्रों का सार है।

राधापते नन्दतनूज कृष्ण गोविन्द गोपाल मुकुन्द मित्र।
गोपीश वृन्दावनरासलासिन् जिह्वात आर्तस्वरतः स्फुर त्वम्।।
(श्री औदुम्बराचार्य-प्रणीत निम्बार्कविक्रान्ति)

हे राधापते! हे नन्दनन्दन! हे कृष्ण! हे गोविन्द! हे गोपाल! हे मुकुन्द!

---

१. श्रीमद्भागवत में भूमविद्या समीक्षा, प्रकाशक—निम्बार्क कुंज, श्रीवृंदावन।

हे मित्र! हे गोपीश=श्रीश! हे वृन्दावन की रासलीला के रसिक! आपको जानने की इच्छा सदा बनी रहे अर्थात् आपके स्वरूप का ज्ञान हमें हो जाय और इतनी ही हमपर कृपा कीजिये कि सदा-सर्वदा आर्त स्वर से मेरी जिह्वा अपने आप ही आपके मङ्गलमय नामों का उच्चारण करती रहे।

श्रीनिम्बार्क भगवान् के शिष्य श्रीगौरमुखाचार्यजी महाराज ने श्रीनिम्बार्क-सहस्रनामस्तोत्र में लिखा है—

राधाकृष्णरहस्यज्ञा राधाकृष्णपदाश्रया।
राधाकृष्णानुवर्तिज्ञा राधाकृष्णानुरञ्जनी।।
राधाकृष्णसदाध्यायी राधाकृष्णानुरञ्जनः।
राधाकृष्णमनोधर्ता राधाकृष्णानुशीलनः।।
राधाकृष्णयुगाराधी राधाकृष्णप्रयोजकः।
राधाकृष्णयुगोपासी राधाकृष्णोपदेशकः।।
राधाकृष्णमनोऽभिज्ञः राधाकृष्णवशङ्करः।
राधाकृष्णहृदाविष्टो राधाकृष्णपदार्थितः।।

दोनों प्रकार राधा कृष्ण जुगल जोड़ी की उपासना के कारण आचार्य-चरण के नाम में राधाकृष्णानुवर्त्तिज्ञा तथा राधाकृष्णानुरञ्जनी अजन्त स्त्रीलिङ्ग शब्द का प्रयोग है। श्रीनिम्बार्क भगवान् राधा-कृष्ण के रहस्य को जानते हैं। राधा-कृष्ण के श्रीचरणाश्रित हैं। राधा-कृष्ण का अनुवर्तन करने वाले हैं। राधा-कृष्ण के अनुरञ्जन करने वाले हैं। राधा-कृष्ण का निरन्तर ध्यान करने वाले, राधा-कृष्ण में अनुराग करने वाले, राधा-कृष्ण का अनुशीलन करने वाले राधा-कृष्ण जुगल जोड़ी की उपासना करने वाले राधा-कृष्ण ही प्रयोजन हैं, जिनके राधा-कृष्ण जुगल मूर्त्ति की आराधना करने वाले, राधा-कृष्ण का उपदेश करने वाले, राधा-कृष्ण के मन को सब ओर से जानने वाले, राधा-कृष्ण को अपने वश में करने वाले, राधा-कृष्ण को अपने हृदय में धारण करके ध्यान में निमग्न रहने वाले और उनके श्रीचरणारविन्दों के प्रार्थी आचार्य ऋषि श्रीनिम्बादित्य।

इस प्रकार भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीराधा के सहित श्रीकृष्ण की उपासना करने का उपदेश परम्परा से किया है। पहले महर्षि सनकादि तथा निजगुरु देवर्षि नारद से प्राप्त श्रीश्रीराधाकृष्ण युगलध्यान-उपासना अपने

शिष्य श्रीश्रीनिवासाचार्य को बताये हैं; इसलिये निम्बार्क सम्प्रदाय में सशक्तिक (श्रीराधासहित) श्रीकृष्ण की उपासना ही करते हैं। सशक्तिक उपासना अधिक फलप्रद है। पुरुषमूर्ति में श्रीकृष्णमूर्त्ति जैसे प्रधान है, ऐसे ही स्त्रीमूर्ति में श्रीराधामूर्ति प्रधान है। श्रीराधा श्रीकृष्ण की सर्वप्रधाना शक्ति हैं। सशक्तिक भगवन्मूर्ति की उपासना का जो सब महान् फल है, उनमें एक विशेष फल यह है कि यह अतिशीघ्र सत् उपासक के कामवृत्ति की निवृत्ति करता है। भगवान् के सहित संयुक्त रूप से स्त्रीमूर्ति की उपासना करने से स्त्रीमूर्ति के प्रति कामभाव दूर हो जाता है और स्त्री-पुरुष के मिथुनभाव को श्रीभगवल्लीला रूप से दर्शन को उपासक सहज में ही शिक्षा प्राप्त होकर समदर्शित्व प्राप्त करते हैं। श्रीश्रीराधाकृष्ण युगलविग्रहरूपी अर्चावतार की कथा शास्त्रप्रमाण से प्रमाणित करते हैं। यह बात स्वयं श्रीभगवान् ने विष्वक्सेनसंहिता में कही है—

मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः।
परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम्।।
अर्चावताराश्च तथा दयालुः पुरुषाकृतिः।
इत्येवं पञ्चधा प्राहुर्मां रहस्यविदो जनाः।।

अर्थात् वेदान्तविद् सत्पुरुष मेरे पाँच प्रकार स्वरूप बताते हैं; जैसे— पर, व्यूह, विभव, सकल प्राणियों का नियन्ता और पुरुषाकार परमकरुणामय अर्चावतार। रहस्य को जानने वाले जनगण ये पाँच प्रकार से मेरी उपासना की बात बताते हैं।

मन्दिर-निर्माण करके उसमें अर्चावतार की प्रतिष्ठा, उनकी सेवा-पूजा उत्सवादि के द्वारा भक्तिलाभ कर श्रीभगवान् को प्राप्त होते हैं। श्रीभगवान् ने स्वयं श्रीमद्भागवत में यह बात कही है—

मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद् दृढम्।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान्।।
पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम्।
क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्वा मत्सार्ष्टितामियात्।।
प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात्।।

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत माम्।।

(११/२७/५०-५३)

मजबूत पक्का मन्दिर निर्माण कराकर उसमें मेरे अर्चाविग्रह की प्रतिष्ठा करना। इस अर्चाविग्रह की पूजा, यात्रा महोत्सवादि के लिये रमणीय पुष्पोद्यान प्रस्तुत करना। महापर्वदिवस में अथवा प्रतिदिन सेवा-पूजादि का प्रवाह (नियमित पूजा) के लिये वृक्षों का क्षेत्र, दुकान, नगर, ग्राम आदि सम्पत्तियों का दान करना, इस दान से दाता को मेरे समान ऐश्वर्य (सार्ष्टि) प्राप्त होंगे। अर्चाविग्रह-प्रतिष्ठा से सार्वभौम, मन्दिर-निर्माण से त्रिलोक, पूजादि से ब्रह्मलोक को और उन तीनों से मेरे साम्य को प्राप्त होता है। निष्काम भक्तियोग के द्वारा साधक को मैं प्राप्त होता हूँ। जो इस प्रकार मेरी सेवा-पूजा करते हैं, वे भक्तियोग को प्राप्त होते हैं।

इति श्रीमन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रमतानुवर्त्ति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यत्यागमूर्ति तर्कतर्कव्याकरणतीर्थस्वामिधनञ्जयदासजीकाठियाबाबापादपद्मान्तेवासी योगिराजस्वामिराधाविहारिदासजीकाठियाबाबाचरणारविन्दचञ्चरीक डॉ. स्वामी द्वारकादास काठियाबाबाकृत व्याख्या श्रीवृन्दावनचन्द्रिका पूर्वार्द्ध समाप्त।

●

उत्तरार्द्धः

अथ विद्वद्भिर्निःशेषाविद्यानिवृत्तये श्रीनिम्बार्को भगवान् युगलस्वरूपमेवोपास्यमित्याह उपासनीयमित्यादिना—

उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे।।५।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—ओङ्कार और अथ शब्द ब्रह्माजी के कण्ठ से पूर्वकाल में स्वतः प्रकट हुए थे, इसलिये ये दोनों शब्द मङ्गलवाचक हैं; लेकिन इस वेदान्तशास्त्र के शब्दतः तथा अर्थतः मङ्गलरूप होने से मङ्गलान्तर का प्रयोजन नहीं है। श्रवणमात्र से ही मङ्गल है। अस्तु; विवेकी पुरुषों की सारी अविद्या (अज्ञान) की निवृत्ति के लिये श्रीनिम्बार्क भगवान् ने श्रीश्रीराधाकृष्ण जुगल स्वरूप ही उपास्य हैं—ऐसे बताया गया है—अज्ञानरूप अन्धकार का सम्बन्ध सम्पूर्ण रूप से विनष्ट करने के लिये मुमुक्षु व भक्तजनों को निरन्तर क्षणकाल भी वाद न पड़े—इस भाव में गङ्गा आदि प्रवाह की भाँति अविच्छेद श्रीश्रीराधाकृष्णरूप परब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। सनन्दनादि मुनियों ने सर्वतत्त्वज्ञ श्रीनारजी को उपदेश किया है। सनन्दनादि चारों मुनिजन (भगवान् सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार) श्रीनारदजी को उपासना विषय में जो समस्त उपदेश पृथक्-पृथक् रूप में किये हैं, वह सब नारदमहापुराण में वर्णित हैं, यहाँ ग्रन्थ-विस्तार के भय से वे सब नहीं लिखे गये हैं।

सदा पद के द्वारा यही बताये हैं कि श्रीभगवान् की उपासना सभी समय करें। यह बात पद्मपुराण में भी लिखी है—

आलोच्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा।।

अर्थात् समस्त शास्त्रों की आलोचना करके एवं पुनः पुनः विचार करके यह एक ही सिद्धान्त सुनिष्पन्न हुआ है कि श्रीनारायण का सदा ध्यान करना चाहिये। नारायण श्रीकृष्ण स्वयं है—**नारायणस्त्वम्** (श्रीमद्भागवत १०/१४/१४)। प्रतिदिन कुछ समय निकालकर श्रीभगवान् का अनुस्मरण-ध्यान करने से नहीं चलेगा। सदा-सर्वदा नित्य-निरन्तर होना चाहिये।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर। (गीता ८/७)
हरिः शरणमेव हि नित्यं येषां मुखे वचः।

ऐसी ही श्रीश्रीराधाकृष्णरूप परब्रह्म की उपासना सभी कालों में अनुस्मरण निरन्तर ध्यान करना कर्तव्य है। जैसे गङ्गादि के प्रवाह का किसी क्षण में विच्छेद नहीं होता, सभी क्षण ही चल रहा है, वैसे ही श्रीभगवान् की उपासना किसी क्षण में भी विच्छेद न हों। जिनके मुख में हमेशा ही हरिः शरणम् होता है।

श्रीमद्भागवतमहापुराण में देखिये—

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति।।

(श्रीमद्भा० १/८/४२)

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।।

(श्रीमद्भा० ३/२९/११)

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! जैसे गङ्गा की अखण्ड धारा समुद्र में गिरती रहती हैं, वैसे ही मेरी मति किसी दूसरी ओर न जाकर आपसे ही निरन्तर प्रेम करती रहे।

जिस प्रकार गङ्गा का प्रवाह अखण्ड रूप से सागर की ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे (श्रीश्रीराधाकृष्णरूप परब्रह्म के) गुणों के श्रवणमात्र से मन की गति तैलधारावत् (तेल की धारा के समान) अविच्छेद रूप से मुझ विश्वात्मा परमात्मा में बहता रहता है।

अज्ञानतमोऽनुवृत्तेः प्रहाणये स्वरूपप्राप्तिप्रतिबन्धकस्य निवृत्तये

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।
इत्यादिश्रीभगवदुक्तेः ।।

(गी० ७/१४, १०/११)

सदा=सर्वस्मिन् काले, नितराम्=अविच्छेदेन श्रीभगवत्स्वरूपमेव चिन्तनीयम्।

यद्वा सदा उपासनीयमित्यनेन पञ्चकालोपासना आचार्य्यैरुक्ता सा च

पञ्चसंस्कारसंस्कृतैः कर्तव्या। पञ्चसंस्कारानग्रे निरूपयिष्यामः। कालपञ्चकं च १.अभिगमनकालः २.उपादानकालः ३.पूजाकालः ४.स्वाध्यायकालः ५.योगकालश्च इति यथाकालव्यवहितोपासनं निबन्धान्तरे द्रष्टव्यम्।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—स्वरूप की प्राप्ति में प्रतिबन्धक जो अज्ञान का अन्धेरा, उसकी निवृत्ति के लिये; जैसाकि श्रीभगवान् ने गीताशास्त्र में उपदेश किया है—जो मुझको ही भजते हैं, वे इस माया को तर जाते हैं। मैं उन पर कृपा करके आत्मभाव में स्थित होकर प्रकाशमान जो ज्ञानदीप है, उसके द्वारा अज्ञानरूप अन्धकार को विनष्ट कर देता हूँ।

सदा अर्थात् सब समय—सभी काल में सारी अवस्थाओं में नितरां= अविच्छेद व्यवधानरहित श्रीभगवान् के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये। अथवा आचार्यों ने जो पञ्चकालीन उपासना की बात कही है, वह पञ्चसंस्कार से जिनके संस्कार हुए हैं, उनको करना चाहिये। हम आगे पञ्चसंस्कार निरूपण करेंगे। पञ्चकाल का वर्णन करते हैं—१.अभिगमन काल अर्थात् देवस्थान में बुहारी देना, लीपना, निर्माल्य दूर करना, यह शेष रात्रि में सूर्योदय-पर्यन्त का कर्म है। २. उपादानकाल अर्थात् गन्ध-पुष्पादि सामग्री लाना, यह दिन के पहले पहर का कर्म है। ३.पूजा का काल अर्थात् उपास्य देवता का पूजन दिन के दूसरे पहर में करना। ४.स्वाध्यायकाल अर्थात् पाठ करने का समय अर्थात् मुख्यार्थ-अनुसन्धानपूर्वक श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद्, वेदान्तपारिजातसौरभ तथा युगलसहस्रनामस्तोत्र आदि का पाठ व कीर्तन करना, यह दोपहर के समय में करें। ५.योगकाल—अपने इष्टदेवता से अपने को अभिन्न भावना दोनों समय (सायं-प्रातः) में करें। अर्थात् हम अपने उपास्यदेव श्रीश्रीराधाकृष्ण से अभिन्न हैं, इस भाव से योग करें। दिवस के तीसरे पहर और रात्रि के तीसरे पहर में यह पूजा काल की जैसी उपासना की विधि दिखाई है, वैसे अन्य ग्रन्थ में देखना चाहिये। यह श्रीभगवदुपासना विधि श्रीमद्भागवत में सम्यक् रूप से वर्णित है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये।।
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते।।

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः।।
(श्रीमद्भा०९/४/१८-२०)

अर्थात् राजा अम्बरीष ने अपने मन को श्रीश्रीराधाकृष्णरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान् के श्रीचरणारविन्दयुगल में लगाया, अपनी वाणी को श्रीभगवान् के स्वरूप गुणादि-वर्णन में, अपने हाथों को श्रीहरि के मन्दिर-मार्जन-सेचन में और अपने कानों को भगवान् श्रीपुरुषोत्तम की मङ्गलमयी लोकपावनी कथा के श्रवण में लगा रखा था। उन्होंने अपने नेत्र मुक्तिदाता भगवान् श्रीमन्मुकुन्द के श्रीविग्रह एवं मन्दिरों के दर्शनों में, अङ्गसङ्ग श्रीभगवद् भक्तों के शरीर-स्पर्श में, नाक श्रीहरि के चरणकमलों पर चढ़ी तुलसी की दिव्य सुगन्ध में और जीभ (रसना) को नित्य युगलकिशोर प्रिया-प्रियतम राधाविहारीजी के प्रति अर्पित नैवेद्य=प्रसाद में संलग्न कर दिया था। यही पञ्चकालीन श्रीभगवत्सेवा-पूजा-उपासना है।

उपासनीयं नितरां जनैः सदा, प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः।

इस वाक्य में भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने कहा है कि ब्रह्मज्ञान का प्रतिबन्धक अज्ञानरूप अन्धकार के सम्बन्ध का विध्वंस करने के लिये मुमुक्षु जनों को गङ्गाजलप्रवाहवत् निरन्तर अविच्छिन्न रूप से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये।

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् (ब्र०सू०४/१/१२) इस सूत्र में भी मृत्युकालपर्यन्त आजीवन ब्रह्मोपासना करने का उपदेश किया गया है।

यह उपासना सर्वप्रथम श्रीगुरुदेव की शरण में जाकर उनको प्रणिपात, उनकी सेवा-शुश्रूषा से, परिप्रश्न द्वारा उनसे उपदेशप्राप्त होकर तदनुसार उपासना करके ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जाता है। श्रीगुरुदेव से ब्रह्मतत्त्व का उपदेश-श्रवण करके असकृत्=पुनः-पुनः अविश्रान्त साधना (उपासना) करनी चाहिये, चूँकि भगवति श्रुति कहती है—**श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च** (बृ०उ०४/५/६)।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च (ब्र०सू०४/१/३) इसका निम्बार्क-भाष्य है—**एष मे आत्मेति पूर्वे उपगच्छन्ति एष ते आत्मेति शिष्यानुपदिशन्ति, अतो मुमुक्षुणा परमपुरुषः स्वस्य आत्मत्वेन ध्येयः।** अर्थात् पूर्वकालीन

ब्रह्मविद् पुरुषों ने 'यह (ब्रह्म) तुम्हारी आत्मा है' ऐसा शिष्यों को (ध्यान करने को) उपदेश किया। इसलिये मुमुक्षुजन को परमपुरुष परब्रह्म का अपने आत्मरूप से ध्यान करना चाहिये। अर्थात् अपने को ब्रह्म से अभिन्न चिन्तन के द्वारा जब उपासक के ज्ञान में ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता है तब वह उपासक स्वरूपतः ब्रह्म का अंश होने से ब्रह्म के साथ उसका स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है, ऐसा उसको स्वतः अनुभव होता है। जो मुक्त होते हैं, वे उस मुक्त स्वरूप में ब्रह्म के साथ स्वाभाविक भेदाभेदरूप में स्थित होते हैं और तब ही ब्रह्म जो जीव की आत्मा है, ऐसा वे अनुभव करते हैं।

इसलिये भगवान् बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में साधना के समय मुक्तस्वरूप का चिन्तन करने का उपदेश किया है—यथा, **व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत्** (ब्र०सू०३/३/५२) (निम्बार्कभाष्य) **बद्धाकाराद्विलक्षणो मुक्ताकारः प्रत्यगात्मा साधनकालेऽनुसन्धेयस्तादृग्रूपस्यैव मुक्तौ भावित्वात्, ध्यानानुरूपपरमात्मप्राप्तिवत्।**

अर्थात् अथसाधनकाल में प्रत्यगात्मा को (अपने स्वीय स्वरूप को) बद्धाकार रूप से विलक्षण मुक्ताकार रूप से चिन्तन=ध्यान करना चाहिये। कारण ब्रह्मोपासक=मुमुक्षु मुक्तावस्था में शुद्ध अपापविद्ध गुणाष्टक प्रभावद् आविर्भूत बृहद् ज्ञान गुण विशिष्ट मुक्त स्वरूप को ही प्राप्त होते हैं। साधनकाल में ब्रह्म के श्रीश्रीराधाकृष्णरूप युगलस्वरूप का ही ध्यान करना चाहिये। कारण उपासना के फलस्वरूप ब्रह्म के उसी युगलरूप की ही उपासक को प्राप्ति होती है। साधनकाल में मुक्त स्वरूप का ध्यान करने से साधक मुक्त स्वरूप को ही प्राप्त होते हैं। अतः साधनकाल में मुक्त स्वरूप का ही ध्यान करना कर्तव्य है।

अज्ञानरूपी अन्धकार की पुनरावृत्ति का समूल नाश करने के लिये तथा स्वरूप की प्राप्ति के प्रतिबन्धक-निवृत्ति के लिये ये सारी बातें बतायी गयी हैं।

श्रुति ने कहा है—**आत्मानमेव प्रियमुपासीत** (बृ०उ०१/४/८) अर्थात् प्रिय आत्मा की ही उपासना करें। यहाँ आत्मा शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण है—**अहमात्मा गुडाकेश!** (गीता), **मुमुक्षुर्वै ब्रह्मोपासीत** (ब्र.सू.) मुमुक्षु ब्रह्म की ही उपासना करें। (ब्र.सू.१/१/३२) के निम्बार्कभाष्य में कहा गया है कि अधिकारभेद से उपासकों के भेदहेतु ब्रह्मोपासना त्रिविध हैं—१.जीव को उसके अन्तर्यामि ब्रह्मरूप से, २.अचेतन जगत् को उसके अन्तर्यामिब्रह्मरूप से और

३.जीव और जगत् को उभयातीत ब्रह्मरूप से। ये तीन प्रकार की उपासना ब्रह्मोपासना के त्रिविध अङ्ग हैं। अर्थात् १.समस्त जगत् का ब्रह्मरूप से चिन्तन, ब्रह्मोपासना का प्रथम अङ्ग है, २.जीवसमूह का ब्रह्मरूप से चिन्तन, द्वितीय अङ्ग है और ३.जीव और जगत् का उभयातीत (सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान सर्वाश्रय सर्वनियन्ता सर्वात्मा सर्वभिन्नाभिन्न आनन्दमय) रूप से ब्रह्म का चिन्तन तृतीय अङ्ग है। इन त्रिविध अङ्गों में राधाकृष्णरूप ब्रह्मोपासना पूर्ण है। इस प्रकार त्रिविध अङ्गों में राधाकृष्णरूप ब्रह्मोपासना द्वारा उपासक अपने उपास्य ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसके बाद मोक्ष प्राप्त करते हैं।

अत्रोपास्यस्वरूपचिन्तने 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयति। श्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित् सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु तस्मै मृदितकषायाय तमसः परं दर्शयति' (छा.उ.७/२६/२)। **भगवान् सनत्कुमार इत्यादिश्रुतिं प्रमाणयति सनत्कुमारः सनन्दनाद्यैरिति। अखिलतत्त्वसाक्षिणे तत्त्वज्ञानवते श्रीनारदाय भगवान् ज्ञानमुपदिष्टवानित्यर्थः। ज्ञानं चोपासनात्मकं उपास्यं च सगुणं ब्रह्म इत्युक्तमधस्तात्।**

ननु तत्त्वद्रष्ट्रे नारदाय ज्ञानोपदेशो व्यर्थ एव इति चेत्; उच्यते। यथा तत्त्वज्ञातारमपि वेदव्यासं श्रीकृष्णद्वैपायनं श्रीनारद उपदिष्टवान् तथैव सनत्कुमारोऽपि इति सार्थक एवायमुपदेशः। अतएव श्रीगीतासूक्तम्—

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—अब उपास्य श्रीश्रीराधाकृष्णरूप ब्रह्म के स्वरूप का ध्यान करने में तुम ही हमारे पिता हो, जिसने हमको अविद्या से संतारण किया है। हमने सुना है कि आप-जैसे महात्माओं से आत्मज्ञानी शोक से तर जाता है। हे भगवन्! वहीं मैं शोक कर रहा हूँ, आप कृपाकर मुझको शोक से पार करो। ज्ञान-वैराग्यादि अभ्यास द्वारा चित्त के राग-द्वेषादि से शून्य होकर निर्मल होने पर भगवान् श्रीसनत्कुमार ने श्रीमन्नारदजी को अज्ञान का पार दिखलाया है। इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। अखिल तत्त्वों के साक्षी तत्त्वज्ञानवान् श्रीनारदजी को भगवान् श्रीसनत्कुमार ने ज्ञान का उपदेश किया। ज्ञान और उपासनात्मक उपास्य सगुण ब्रह्म पीछे हम कह चुके हैं। यहाँ शङ्का यह है कि नारदजी तत्त्वद्रष्टा हैं। नारदजी के लिये ज्ञान का उपदेश व्यर्थ है।

यदि ऐसी बात है तो सुनो—मैं कहता हूँ, जैसे तत्त्व के ज्ञाता वेदव्यासजी को भी नारद जी ने उपदेश किया है, वैसे ही सनत्कुमार ने भी; यह उपदेश सार्थक ही हुआ। इसीलिये श्रीभगवान् ने गीताशास्त्र में कहा है—तुम्हें तत्त्वदर्शी ज्ञानी ज्ञान का उपदेश करेंगे।

ननु अविद्याया निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन निवृत्तिर्युक्ता। तथाहि श्रुतयः। न पुनर्मृत्यवे तदेकं पश्यति, न पश्यो मृत्युं पश्यति, यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये निरुक्ते निलयने भयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति, भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते इत्याद्याः।

न च सकलभेदनिवृत्तिः प्रत्यक्षविरुद्धा कथमिव शास्त्रजन्यज्ञानेन क्रियते इति वाच्यम्। रज्जुरेषा न सर्पः इति ज्ञानेन प्रत्यक्षविरुद्धायाः सर्पनिवृत्तेदृष्टत्वात्। एवं च दोषमूलत्वेनान्यथा सिद्धं सम्भावनया च सकल-भेदावलम्बिप्रत्यक्षस्य शास्त्रबाध्यत्वम्। दोषश्चानादिभेदवासनैवेति चेन्न, अन्योन्याश्रयत्वात् शास्त्रस्यापि दोषमूलत्वाच्च। न च दोषमूलत्वेऽपि शास्त्रस्य प्रत्यक्षावगतसकलभेदनिरसनज्ञानहेतुत्वेन परत्वात्प्रत्यक्षस्याऽकिञ्चिकरत्वात् रज्जुसर्पज्ञाननिमित्तभये सति भ्रान्तोऽयमिति परिज्ञानेन केनचित् अयं सर्पो मा भैषीरित्युक्तोऽपि भयान्निवृत्तिदर्शनात्। ननु शास्त्रप्रत्यक्षयोर्द्वयोरपि अविद्या-मूलत्वेऽपि प्रत्यक्षस्य विषयस्य शास्त्रेण बाधो दृश्यते। शास्त्रविषयस्य सद् अद्वितीयब्रह्मणः पश्चात् तद् अबाधादर्शनेन निर्विशेषं ब्रह्मैव परमार्थ इति चेन्न; अबाधितस्यापि दोषमूलस्यापारमार्थ्यनिश्चयात्। सन्ति चात्र प्रयोगाः विवादाध्यासितं ब्रह्म मिथ्या आविद्यावदुत्पन्नज्ञानविषयत्वात् प्रपञ्चवत् 'ब्रह्म मिथ्या ज्ञानविषयत्वात् प्रपञ्चवत् ब्रह्म मिथ्या असत्यहेतुजन्यज्ञानविषयत्वात् प्रपञ्चवत्' ननु स्वाप्नस्य हस्त्यादिज्ञानस्यासत्यस्य परमार्थशुभाशुभ-प्रतिपत्तिहेतुत्ववदविद्यामूलत्वेनासत्यस्यापि शास्त्रस्य परमार्थभूतब्रह्म-विषयप्रतिपत्तिहेतुभावो न विरुद्ध इति चेन्न; स्वाप्नज्ञानस्यासत्यत्वाभावात्। तत्तद्विषयाणामेव मिथ्यात्वं तेषामेव हि बाधो दृश्यते न ज्ञानस्य न हि मया स्वप्ने वेलायाम् अनुभूतं ज्ञानमिह न विद्यते इति कस्यचिदपि प्रत्ययो

जायते। दर्शनं तु विद्यते अर्था न सन्तीति। बाधकप्रत्ययः मायाविनो मन्त्रौषधादिप्रभवं मायामयं ज्ञानं सत्यमेव प्रकृतेर्भयस्य च हेतुस्तत्रापि ज्ञानस्याबाधितत्वाद्विषयेन्द्रियादिदोषजन्यं रज्ज्वादौ सर्पादिविज्ञानं सर्पभयादिहेतुः सत्यैवादष्टेऽपि स्वात्मनि सर्पसन्निधानात् दष्टबुद्धिः सत्यैव शङ्का विषबुद्धिः मरणहेतुभूता। वस्तुभूत एव जलादौ मुखादिप्रतिभासो वस्तुभूतमुखगत-विशेषनिश्चयहेतुः तेषां संवेदनानामुत्पत्तिमत्त्वादर्थक्रियाकारित्वात् सत्यत्व-मेवावसीयते। ननु हस्त्यादीनामभावे कथं तद्बुद्धयः सत्या भवन्तीति चेत्; मैवं बुद्धीनां सालम्बनत्वमात्रनियमात् अर्थस्य प्रतिभासमानत्वमेव ह्यालम्बनत्वेऽपेक्षितम्। प्रतिभासमानता चास्त्येव दोषवशात् स तु बाधितोऽसत्य इत्यवसीयते। अबाधिता हि बुद्धिः सत्यैवेत्युक्तम्। रेखायां वर्णप्रतिपत्तावपि नासत्यात्सत्यबुद्धिः रेखायाः सत्यत्वात्। ननु वर्णात्मना प्रतिपन्ना रेखा वर्णबुद्धिहेतुः वर्णात्मना त्वसत्या नैवं वर्णात्मताया असत्याया उपायत्वायोगात्। असतो निरुपाख्यस्य ह्युपायत्वं न दृष्टमनुपपन्नं च। अथ तस्यां वर्णबुद्धि-रुपायत्वमेवं तर्ह्यसत्यात् सद्बुद्धिर्न स्याद् बुद्धेः सत्यत्वादेवोपा-योपेययोरैक्यप्रसङ्गश्च। उभयोर्वर्णबुद्धित्वाविशेषाद् रेखायां विद्यमानव-र्णात्मनोपायत्वे चैकस्यामेव रेखायामविद्यमानसर्ववर्णात्मकत्वस्य सुलभ-त्वादेकरेखादर्शनात्सर्ववर्णप्रतिप्रत्तिः स्यात्।

ननु पिण्डविशेषे देवतादिशब्दसङ्केतवत् चक्षुर्ग्राह्यरेखाविशेषे श्रोत्रग्राह्यवर्ण-विशेषसङ्केतवशाद्रेखाविशेषो वर्णविशेषबुद्धिहेतुरिति चेन्न। एवं सति सत्यादेव सत्यप्रतिपत्तिः। रेखायाः सङ्केतस्य च सत्यत्वाद्रेखागवयादपि सत्यगवयबुद्धिः सादृश्यनिबन्धना, सादृश्यं च सत्यमेव। शब्दस्य तु एकरूपस्य नादविशेषेणार्थ-विशेषभेदबुद्धिहेतुत्वेऽप्यसत्यात्प्रतिपत्तिः। नानानादाभिव्यक्तस्यैव शब्दस्य तत्तन्नादाभिव्यङ्ग्यस्वरूपेणार्थविशेषैः सह सम्बन्धग्रहणवशादर्थभेदव्युत्पत्ति-हेतुत्वाच्छब्दस्यैवरूपत्वमपि न साधीयः, गकारादेर्बोधकस्यैव श्रोत्रग्राह्यत्वेन शब्दत्वात्। अतोऽसत्याच्छास्त्रात्सत्यब्रह्मविषयप्रतिपत्तिर्नोपपद्यते। न च वाच्यं न शास्त्रस्य गगनकुसुमवदसत्यत्वं प्रागद्वैतज्ञानात्सद्बुद्धिबोधत्वात् उत्पन्ने तत्त्वज्ञाने ह्यसत्सत्वं शास्त्रस्येति न तदा शास्त्रं निरस्तनिखिलभेदचिन्मात्र-ब्रह्मज्ञानोपायः। यदोपायः तदास्त्येव शास्त्रजन्यज्ञानं तस्य मिथ्यात्वेन तद्विषय-

स्यापि ब्रह्मणो मिथ्यात्वं यथा धूमबुद्ध्या गृहीतव्याप्यजन्याग्निज्ञानस्य मिथ्यात्वेन तद्विषयस्याग्नेरपि मिथ्यात्वं पश्चात् तनवाधादर्शनं चासिद्धं शून्यत्वमेव तत्त्वमिति वाक्येन तस्यापि बाधदर्शनात् तत्तु भ्रान्तिमूलमिति चेदपि तु भ्रान्तिमूलमिति त्वयैवोक्तं पाचात्यबाधादर्शनं तु तस्यैवेति दिक्।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—वादी कहते हैं कि निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म की आत्मा से एकत्व ज्ञान कर लेने से ही अविद्या की निवृत्ति होती है, इसमें श्रुतियाँ प्रमाण हैं—जो एक को ही दीखता है, वह मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, दीखने वाला मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है। जिस समय इस अदृश्य अनात्म्य निरुक्त निलयन अभय में प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, उस समय वह निर्भय हो जाता है। उसके हृदय की सारी गाँठ खुल जाती हैं। सभी संशय दूर हो जाते हैं, उस परावर परमात्मा के दर्शन कर लेने पर। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही होता है। उस परमात्मा को जानकर, मृत्यु को लाँघ जाता है। दूसरा रास्ता मोक्ष का नहीं है। ऐसा कहो कि सारी भेद की निवृत्ति प्रत्यक्ष में विरुद्ध है; कैसे? शास्त्रजन्य ज्ञान से करते हैं—इति न च वाच्यम्=ऐसा नहीं कहना चाहिये, यह रस्सी है, साँप नहीं है—इस ज्ञान से प्रत्यक्ष में विरुद्ध जो सर्प, उसकी निवृत्ति देखी गयी है। इस प्रकार दोष मूल रूप से अन्यथासिद्धि हो गयी और सम्भावना करके सकल भेद का अवलम्बी जो प्रत्यक्षता की शास्त्र से बाधा है, वह भी देखी गयी।

दोष भी अनादि भेद की वासना है—ऐसा वादी कहे तो वह नहीं है, अन्योन्याश्रय होने से अर्थात् परस्पर के आश्रय से शास्त्र के भी दोष मूल होते हैं, जो शास्त्र दोष का मूल रूप है तो वह प्रत्यक्ष में प्राप्त हुआ, सकल भेद उसके दूर करने के लिये ज्ञानहेतु रूप से है और प्रत्यक्ष का बाधक है; तब कहते हैं—इति न च वाच्यम्=ऐसा नहीं कहना चाहिये, दोष मूल रूप से मालूम होने पर तो कुछ गुण नहीं करेगा। रस्सी में साँप जान लेने से जो डर है, वह डर फिर कोई भ्रान्ति जान कर यह कहो कि यह सर्प है, मत डरो—ऐसा कहा भी फिर भी भय की निवृत्ति नहीं देखी गयी। फिर वादी कहता है कि शास्त्र और प्रत्यक्ष—ये दोनों अविद्या मूलरूप होने पर भी प्रत्यक्ष विषय का शास्त्र से बाध देखा जाता है।

इस वेदान्तशास्त्र का विषय जो अद्वितीय सद् ब्रह्म है, उसके पीछे

अबाध दर्शन से निर्विशेष ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है, इसके लिये कहते हैं— इति चेत् न=ऐसा नहीं कह सकते; अबाधित भी है, पर दोषमूल है, वह परमार्थ में निश्चय नहीं होगा। इस प्रकरण में विवाद के अध्यासित प्रयोग हैं, ब्रह्म झूठा है, अविद्या (अज्ञान) की भाँति ज्ञान विषय होने से, प्रपञ्च की तरह ब्रह्म मिथ्या है। जैसे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान उसका विषय है, ब्रह्म मिथ्या, ज्ञान का विषय होने से प्रपञ्च के समान है। ब्रह्म मिथ्या असत्य कारणजन्य ज्ञान का विषय होने से प्रपञ्चवत् है। यदि कहो कि स्वप्न में हाथी आदि का ज्ञान असत्य है, पर परमार्थ में भले और बुरे का ज्ञान हो जाय, वैसे ही शास्त्र अविद्या मूल रूप से है, असत्य है, परमार्थरूप ब्रह्मविषय ज्ञान का कारण है, भावविरुद्ध नहीं है—ऐसा कहने वालों से कहते हैं—इति चेत् न; सो नहीं, स्वप्न-ज्ञान असत्य नहीं है। उसके विषय ही मिथ्या हैं, उनका ही बाध देखा जाता है, ज्ञान का नहीं। मैंने जो स्वप्न-समय में अनुभव किया—वह अब इस समय में नहीं है। ऐसा किसी को भी प्रतीत नहीं होता। ज्ञान का दर्शन तो है, पर अर्थ नहीं है। बाधक प्रत्यय मायावी लोग मन्त्र और औषध आदि के प्रभाव से प्रकट मायामय ज्ञान, सत्य ही है और प्रकृति के भय का कारण है, उसमें भी ज्ञान तो अबाधित ही है; पर विषय इन्द्रिय आदि के दोष से उत्पन्न हुआ जो रस्सी आदि में साँप आदि का विज्ञान (भान), साँप से डर आदि का हेतु सच ही है। साँप ने काटा भी नहीं तो भी सर्प के समीप से काटने की सत्य शङ्का विष की बुद्धि मरण का कारणरूप है। वस्तुरूप ही जलादि में मुखादि का प्रतिभास सच्ची वस्तु नहीं है, पर वस्तुरूप नाम सच्चा मुँह उसके विशेष निश्चय का कारण है और उनके सम्वेदना नाम ज्ञान की उत्पत्ति करने में अर्थ क्रिया करने से सत्य ही निश्चय किया जाता है। उसमें शङ्का यह है कि हस्ति आदि के अभाव में कैसे उनकी बुद्धि सत्य होती है। उसका समाधान यह है कि बुद्धि का आलम्बन करना इतना मात्र नियम है, अर्थ का प्रतिभासमानत्व ही आलम्बन में अपेक्षित है और प्रतिभासमानता तो है ही दोषवश। वह तो बाधित है, असत्य निश्चय है। अबाधिता जो बुद्धि है, उसको ही सत्य कहा है। रेखा में जो वर्ण का ज्ञान है—वह भी असत्य में सत्यबुद्धि नहीं है; चूँकि रेखा सत्य है। ननु=उसमें शङ्का यह है कि रेखा वर्ण स्वरूप को प्राप्त हुई, वह वर्ण बुद्धि के कारण है, वर्णात्मता तो असत्य है, इस पर कहते हैं—नैवम्=ऐसा नहीं; जो वर्णरूप में असत्य उपाय होना अयोग्य है। जो

असत् (जिसका रूप नहीं, उसको स्वर्ग और पाप नहीं दीखता है, अनुपपन्न है।

रेखा में वर्ण बुद्धि का उपाय है और असत्य में सत्य बुद्धि नहीं होती, सच्ची बुद्धि से ही उपाय तथा उपेय दोनों में एकता का प्रसङ्ग है, दोनों में वर्ण बुद्धि की अविशेषता होने से यद्यपि रेखा में वर्ण अविद्यमान है; पर वर्णात्मक है। इसके सुलभ एक रेखादर्शन से सारे वर्णों का ज्ञान हो जाता है। उसमें फिर शङ्का यह है कि जैसे पिण्डविशेष में देवता आदि शब्द सङ्केत की भाँति होते हैं, वैसे ही चक्षु द्वारा ग्रहण की गयी जो रेखाविशेष, उसमें कर्ण द्वारा ग्रहण किये जो वर्णविशेष सङ्केत कर लेना तो रेखाविशेष वर्णविशेष ही बुद्धि हेतु है। 'इति चेन्न' कहकर इसका खण्डन करते हैं—ऐसा होने पर सत्य से ही सत्य की प्रतिपत्ति होती। रेखा में सङ्केत यदि सत्य हो जाय तो गवय की रेखा में भी सच्चे गवय की बुद्धि होनी चाहिये। सादृश्य के निबन्ध से सादृश्य सत्य ही है। कोई कहे कि शब्द तो एक रूप का है, पर नादविशेष करके अर्थ में विशेष भेद की बुद्धि हुई तो असत्य से सत्य का ज्ञान हुआ। उसका समाधान यह है कि नाना प्रकार के नाद से प्रकट होते हैं जो शब्द, उन-उन नाद के स्वरूप प्रकाश करके अर्थविशेषसहित सम्बन्धग्रहण किये जाते हैं। उसमें अर्थ के भेद जाने जाते हैं। शब्द ही अर्थ के भेद की व्युत्पत्ति का कारण है, उसमें शब्द की एकरूपता भी नहीं है। गकार आदि का ज्ञान कराने वाले जो कान (कर्ण) में पड़े, वही शब्द है।

अतः असत्य शास्त्र से सत्य ब्रह्म विषय की प्रतिपत्ति उत्पन्न नहीं है और ऐसा नहीं कहना चाहिये। खपुष्पवत् शास्त्र असत्य नहीं है। जो अद्वितीय सद् ब्रह्म, उसका बोध कराने वाला अद्वैत ज्ञान से पहले शास्त्र ही है, उत्पन्न हुआ जब तत्त्व ज्ञान, फिर तो शास्त्र असत्य ही है तब शास्त्र नहीं सभी भेद दूर हो गये, ऐसा चिन्मात्र ब्रह्मज्ञान का उपाय है। जब उपाय है तब तो शास्त्रजन्य ज्ञान है ही। शास्त्र के मिथ्या होने से उसका विषय से ब्रह्म भी मिथ्या (झूठा) हो जायेगा। जिस प्रकार कुहरा में धुआँ बुद्धि से आग का धुआँ जान कर कोई ग्रहण करे तो ज्ञान झूठा है और उसकी विषय अग्नि भी मिथ्या है, पीछे जिसकी बाधा का दर्शन नहीं और असिद्ध है। उसे शून्य ही तत्त्व है—इस वाक्य से उसका भी बाध दर्शन से वह तो भ्रान्तिमूल है—ऐसा जो कहा, अपितु भ्रान्तिमूल तुमने ही कहा, उसके ही पीछे बाधा दर्शन है। यह दिङ्मात्र दिखाई देता है।

एवं हि शास्त्रस्य सत्यत्वे सिद्धे सर्वविज्ञानमपि यथार्थमेवेत्याह भगवान् श्रीनिम्बादित्यः सर्वमित्यादिना

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता।।७।।

निखिलस्य वस्तुनः चेतनाचेतनस्य ब्रह्मात्मकत्वाद् ब्रह्मणो जातत्वात् तदात्मकत्वं श्रुतिस्मृतिसिद्धम्; अतः सर्वं विज्ञानं यथार्थमेवेत्यन्वयः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—इस प्रकार शास्त्र की सत्यता-सिद्धि होने पर समस्त विज्ञान भी यथार्थ ही है। इसीलिये श्रीनिम्बादित्य भगवान् ने कहा है कि चेतनाचेतनात्मक सकल वस्तु ही ब्रह्मात्मक हैं, सम्पूर्ण जड़-चेतन ब्रह्म से ही उत्पन्न होने से तदात्मकता है, यह श्रुति और स्मृति में उपदिष्ट हुआ है। इसलिये सब विज्ञान यथार्थ ही हैं—यह वेद वेत्ताओं का मत है। सब-के-सब अर्थात् स्थावर-जङ्गम यथार्थ हैं, अतः समस्त वस्तु-विषयक विशेष ज्ञान भी यथार्थ (प्रमा) है, मिथ्या नहीं। श्रुति और ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म के भोक्ता, भोग्य और नियन्ता—ये त्रिविध रूप भी निर्णीत हुए हैं। परन्तु मायावादी कहते हैं कि एकमात्र ब्रह्म ही है, कारण, ब्रह्म सत्स्वरूप एक अद्वितीय है, जीव ब्रह्म से पृथक् कुछ नहीं है और जगत् का अस्तित्व ही नहीं है, मिथ्या है—**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।**

उनकी यह युक्ति शास्त्रसम्मत नहीं है, युक्तिसङ्गत भी नहीं है। कारण श्रुति ने स्पष्ट ही कहा है कि **अहं ब्रह्मास्मि**=मैं ब्रह्म हूँ, **तत्त्वमसि**=तुम वही हो, **एषोऽणुरात्मा**=यह आत्मा अणु है, **बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः**=जीव केशाग्र के शतभाग का शतभाग-सदृश सूक्ष्म है। यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः=जिस समय ज्ञानी पुरुष के समस्त भूत आत्मस्वरूप ही हो जाते हैं। सर्व **खल्विदं ब्रह्म**=इस दृश्यमान जगत् का सब कुछ ब्रह्म है। **ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**=यह सब आत्मस्वरूप है। **तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं** जगत्=उसके अवयवसमूह के द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। यदि जीव ब्रह्म से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है और जगत् का अस्तित्व ही नहीं है, मिथ्या है तो ये सब श्रुतिवाक्य क्या व्यर्थ हैं? इसी प्रकार और भी श्रुतियाँ हैं, जिनसे जीव का ब्रह्म से पृथक् अस्तित्व और जगत् की सत्यता प्रमाणित होती है। **अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि** (ब्र०सू० २/३/४२) इत्यादि

ब्रह्मसूत्रों में जीव को ब्रह्म का अंश कहने से भी जीव का पृथक् अस्तित्व और **जन्माद्यस्य यतः** (ब्र०सू०१/१/२) ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म से जगत् की सृष्टि कहने से जगत् की सत्यता कही गयी है। जगत् मिथ्या होने से मिथ्या जगत् की सृष्टि कहना व्यर्थ है।

श्रीगीताजी में स्वयं श्रीभगवान् ने कहा है—**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**=जीवलोक में जीव मेरा ही अंश है। **विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्**=मैं ही एकांश द्वारा समस्त जगत् को धारण करके स्थित हूँ। श्रीभगवान् के इन वाक्यों में जीव और जगत् को उनका अंश कहने से जीव का पृथक् अस्तित्व नहीं है और जगत् मिथ्या है, यह नहीं कह सकते। चूँकि यदि जीव का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता और जगत् मिथ्या होता तो उनका अंश कहा नहीं जा सकता। अस्तित्वहीन और मिथ्या वस्तु का अंश नहीं हो सकता।

भेदाभेद (द्वैताद्वैत)-वादी श्रीनिम्बार्काचार्य के मत में जीव-जगत् सब ही ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म में ही स्थित और विधृत हैं, सब ही ब्रह्मवत् सत्य हैं। सब ही ब्रह्म का अभिन्न अंश होने से ब्रह्म से पृथक् नहीं है। अंशी ब्रह्म से अंश जीव-जगत् की पृथक् सत्ता न रहने से जीव-जगत् को लेकर ही ब्रह्म एक अद्वैत है। अतः द्वैताद्वैतवादी श्रीनिम्बार्काचार्य का 'अद्वैत' द्वैत जीव-जगत् को छोड़ कर नहीं है, किन्तु जीव-जगत् को ब्रह्म का अङ्गीभूत रूप से एक करके ही है; किन्तु अद्वैतवादियों के अद्वैत तत्त्व में जीव-जगत् का स्थान नहीं है, कारण उनके मत में जीव का पृथक् अस्तित्व ही नहीं है और जगत् मिथ्या है। अतः जीव-जगत् को छोड़कर ही अद्वैत-तत्त्व है। फिर भी जीव-जगत् की सत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकी, व्यावहारिकभाव से सत्ता को स्वीकार करना पड़ा, इससे अद्वैत तत्त्व से विच्युत ही हुए हैं। ब्रह्म से भिन्न करके व्यावहारिक रूप से जीव और जगत् की सत्ता स्वीकार करने से द्वैतवाद ही प्रतिष्ठित होता है। अतः मायावादी के अद्वैतवाद को यथार्थ अद्वैतवाद नहीं कहा जा सकता।

द्वैताद्वैतवादी श्रीनिम्बार्काचार्य ही यथार्थ अद्वैतवादी हैं, कारण उनके द्वैताद्वैतवाद में जीव-जगत् नहीं छूटता है।

वास्तविक भेद और अभेद उभयवाचक श्रुतियाँ जब हैं तब उभय में से किसी एक को गौण वर्जन नहीं किया जा सकता है अथवा एक को गौण कहकर दूसरे को मुख्य भी नहीं कहा जा सकता है; कारण उससे श्रुति के

उभयांश में प्रामाण्य रक्षित नहीं होता है। श्रुति ने जब भेद और अभेद दोनों का ही उपदेश किया है, तब दोनों की वाचक श्रुतियाँ ही तुल्यबल हैं, अत: भेद और अभेद दोनों को ही तुल्यरूप से ग्रहण करने से ही श्रुति की मर्यादा और प्रामाण्य रक्षित होता है। अत: श्रीनिम्बार्काचार्य ने भेद और अभेद दोनों को ही तुल्य रूप से ग्रहण करके जो भेदाभेदवाद का स्थापन किया है, इसमें ही श्रुति की मर्यादा और प्रामाण्य सम्पूर्ण रूप से सुरक्षित हुआ है।

भेदवादी और अभेदवादी दोनों ही कहते हैं कि भेद और अभेद (द्वैत और अद्वैत) परस्पर विरुद्ध हैं, इसलिये दोनों एकत्र रह नहीं सकते हैं। अत: भेदाभेद नाम से कोई वाद ही नहीं हो सकता है; परन्तु उनकी यह उक्ति भ्रान्तिपूर्ण है। कारण भेद और अभेद अन्यत्र विरुद्ध होने पर भी अंश और अंशी के स्थल में विरुद्ध नहीं हैं। यह **'अंशो नानाव्यपदेशात्'** (ब्र०सू०२/३/४२) सूत्र और उसके निम्बार्कभाष्य में कहा गया है कि अंशाशिभाव रहने से जीव और परमात्मा में भेदाभेद को दिखला रहे हैं—जीव परमात्मा का अंश है, कारण ज्ञ=सर्वज्ञ ईश=ईश्वर और अज्ञ=असर्वज्ञ अनीश=जीव दोनों ही अज=जन्मरहित नित्य हैं, इस श्रुतिवाक्य में जीव और ईश्वर में भेद उपदिष्ट हुआ है और 'तुम ही ब्रह्म हो' इस श्रुतिवाक्य में अभेद भी उपदिष्ट हुआ है।

मायावादीभाष्य में भेदाभेदपक्ष स्वीकार किया है। उसे दिखलाते हैं—चैतन्यं चाविशिष्टं जीवेश्वरयो:, यथा—**अग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम्, अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः।** अंश और अंशी में भेदाभेद कैसा है, वह विचार करने से यह उत्तम रूप से बोधगम्य हो जायेगा। इसलिये दृष्टान्त के सहित इस विषय को प्रदर्शित किया जा रहा है—शाखा वृक्ष का अंश है, अंश शाखा अंशी वृक्ष से अभिन्न है, यह सभी स्वीकार करते हैं; कारण शाखा वृक्ष को छोड़कर नहीं रह सकती। शाखा सम्पूर्ण अवयव से वृक्ष के अन्तर्गत है। वह वृक्ष से यदि पृथक् वस्तु होती तो वह वृक्ष की शाखा ही नहीं हो सकती। अत: शाखा वृक्ष से अभिन्न ही है; परन्तु शाखा वृक्ष से अभिन्न होने पर भी उसको वृक्ष का अंश ही कहना पड़ेगा; क्योंकि शाखा सम्पूर्ण वृक्ष नहीं है। वृक्ष शाखा को अतिक्रमण करके भी वर्तमान है, वृक्ष शाखा से व्यापक है, आकृति आदि से बृहत् है, अत: शाखा वृक्ष से भिन्न भी है। इस प्रकार विचार करने से देखा जाता है कि अंशी रूपी वृक्ष और अंश रूपी शाखा में भेद और अभेद दोनों ही है; ठीक इसी प्रकार ब्रह्म के साथ जीव और

जगत् का भी भेद और अभेद दोनों ही हैं; क्योंकि जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्म के शक्तिरूप अंश हैं।

जैसे हम लोगों की एक अखण्ड आत्मा (जीवात्मा) है और इस आत्मा की दर्शन शक्ति, श्रवण शक्ति, मनन शक्ति, १० सेर वस्तु उठाने की शक्ति, २० सेर वस्तु उठाने की शक्ति इत्यादि अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं। जब हम लोग नींद में रहते हैं, तब वे सब शक्तियाँ आत्मा में लीन हो जाती हैं, जब जग जाते हैं तब वे सारी शक्तियाँ प्रकाशित होती हैं और आत्मा उन सभी शक्तियों के द्वारा पृथक्-पृथक् कार्य करती है, वे शक्तियाँ जब निद्रित काल में आत्मा में लीन होकर आत्मा के साथ एक हो जाती हैं और जाग्रत् काल में अपने-अपने पृथक्-पृथक् रूप से प्रकाशित होकर पृथक्-पृथक् कार्य करती हैं, तब उन शक्तियों को आत्मा का अंश ही कहना होगा। कारण, वे सब शक्तियाँ एक ही आत्मा के विभिन्न रूप से प्रकाशित हैं। किसी एक शक्तिरूप अंश को ही सम्पूर्ण आत्मा नहीं कहा जा सकता है। कारण उस शक्ति से भिन्न और भी अनेक शक्तियाँ आत्मा की हैं, आत्मा उस एक-एक शक्तिरूप अंश से व्यापक है। अतः वह एक-एक शक्ति आत्मा से भिन्न है, फिर उस शक्ति की आत्मा से पृथक् सत्ता न रहने से आत्मा से वह अभिन्न भी है, अतः आत्मा के सहित शक्तियों का भेद और अभेद दोनों ही है। ऐसा ही एक अखण्ड ब्रह्म भी जीव और जगत् रूप अनन्त शक्तियों का आधार है। अनन्त जीव और जगत् रूप पृथक्-पृथक् शक्तियाँ उन अनन्त शक्तिमान ब्रह्म का अंश होने से ब्रह्म से उन शक्तियों की पृथक् सत्ता नहीं है। अतः वे सब जीव और जगत् रूप अंश ब्रह्म से, उन सबसे व्यापक हैं, अतः ब्रह्म से जीव और जगत् भिन्न भी हैं। इस प्रकार से ब्रह्म के साथ जीव और जगत् का भेद और अभेद दोनों ही है। अतः भेदवादी और अभेदवादी ने जो कहा है कि भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध होने से एकत्र नहीं रह सकते हैं, इसलिये भेदाभेद नाम से कोई वाद नहीं हो सकता है, उनकी यह उक्ति भ्रान्तिपूर्ण है।

श्रुति में ब्रह्म के साथ जीव और जगत् का भेद और अभेद दोनों ही उपदिष्ट होने से समस्त श्रुति के अनुसार ही भगवान् वेदव्यास श्रीकृष्णद्वैपायन ने उपरोक्त ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म के साथ जीव और जगत् का भेदाभेद सम्बन्ध रहने की बात कही है। श्रुति और ब्रह्मसूत्र में निम्नलिखित वाक्य में ब्रह्म के साथ जीव और जगत् का भेद और अभेद स्पष्ट रूप में उपदिष्ट हुआ है—'ज्ञाज्ञौ

द्वावजावीशानीशौ' (श्वे०उ०१/९) "**द्वा सुपर्णा सयुजा'** (मु०उ०३/१/१), **'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'** (क०उ०२/२/१३), प्रभृति श्रुतियों में भेद वर्णित हैं। एवम् **'भेदव्यपदेशाच्चान्यः'** (ब्र.सू.१/१/२२), **'भेदव्यपदेशाच्चा'** (ब्र.सू.१/१/१८), **'अधिकन्तु भेदनिर्देशात्'** (ब्र.सू.२/१/२१), प्रभृति ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म के साथ जीव का भेद उपदिष्ट किया गया है। तथा **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ०उ०१/४/१०), **'अयमात्मा ब्रह्म'** (बृ०उ०४/४/५), **'तत्त्वमसि'** (छा०उ०६/८/१) प्रभृति श्रुतियों में ब्रह्म के साथ जीव का अभेद उपदिष्ट किया गया है। उभयविध श्रुति स्वार्थ में प्रामाण्य तुल्यबल एवं दोनों ही समान सत्य हैं। अतः ब्रह्म के साथ जीव-जगत् का भेद और अभेद दोनों ही स्वाभाविक सत्य हैं। यही निम्बार्कमत है। यही निम्बार्कशास्त्र है।

चित्, अचित् और ब्रह्म—ये तीन ही तत्त्व श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्र में उपदिष्ट हुए हैं। इसलिये श्रुति दिखलाती है—'भोक्ता भोग्यं प्रेरितार च', 'मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म हि एतत्' (श्वे: उ०१/१२) भोक्ता (चित् जीव) भोग्य (अचित् कार्य रूप जगत् एवं इन दोनों के नियन्ता ईश्वर) इन तीन तत्त्वों को ब्रह्म कहा गया है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा०उ०३/१४/१)। यह सम्पूर्ण संसार ही ब्रह्म है।

त्रिरूपतेति तासामेकैकं त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणीति श्रुतिः। त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वादिति सूत्रम् आभ्यामग्न्यादौ त्रिरूपतेत्यर्थः। यदग्नौ लोहितं रूपं तेजस्तद्रूपमित्यादिश्रुत्यन्तराच्च। किञ्च द्विचन्द्रज्ञानादौ अङ्गुल्यवष्टम्भात्तिमरादिभिर्नयनतेजोभेदेन सामग्रीभेदात् द्विचन्द्राविति प्रतीतिः जपाकुसुमसमीपवर्त्तिस्फटिकमणिरपि तत्प्रभाभिभूतया स्वप्रभया रक्त इति गृह्यते।

पीतः शङ्ख इत्यादौ तु नयनवर्त्तिपीतद्रव्यसम्भिन्ना नयनरश्मयः शङ्खादिभिः संयुज्यन्ते, तत्र पीतद्रव्यगतपीतिमाभिभूतः। शङ्खगतशुक्लिमा न गृह्यते, अतः सुवर्णानुलिप्तशङ्ख इति प्रतीयते, अलातचक्रेऽप्यलातस्य द्रुततरगमनेन सर्वदेशसंयोगादन्तरालाग्रहणम्। अतस्तदपि यथार्थम् एव मरुमरीचिकाजलादावपि बोध्यम्।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—तीन रूप श्रुति=वेदोपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र से सिद्ध है। उनके मध्य में एक-एक को तीन करना—यह श्रुति है। 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वादिति' इत्यादि ब्रह्मसूत्र है। इन दोनों से अग्नि आदि में त्रिरूपता

साधित है। जो अग्नि में लालिमा रूप और प्रकाश है, वह तेज का रूप है इत्यादि और अन्य श्रुतियाँ भी हैं। दो चन्द्र के ज्ञानादि में दो अङ्गुलि आँख में धोखे में से अन्धेरा आदि से नेत्र के तेजभेद से सामग्रीभेद से दो चन्द्र की प्रतीती होती है। जैसे जपाकुसुम के समीप रहने वाली स्फटिकमणि भी उसकी प्रभा से रक्त वर्ण ग्रहण कर लेती है। जैसे पीला और सफेद इत्यादि में तो नेत्रों में रहने वाली पीली वस्तु से भिन्न नेत्र की किरणें शङ्ख आदि से संयोग है, उसमें पीत द्रव्यगत पीलापन अभिभूत है। शङ्खगत सफेदपन ग्रहण नहीं होता; इसलिये सोने से मढ़ाया हुआ मालूम होता है। लाठी के दोनों किनारे में मशाल यानी पलीता अग्नि से प्रज्वलित करके उसे चारों ओर घुमावें, उसे आलातचक्र कहते हैं। उस आलातचक्र के द्रुततर गमन से तथा सर्व देशसंयोग से अन्तराल का ग्रहण नहीं होता। अतः वह भी यथार्थ है। इसी प्रकार मारवाड़ भूमि के मरीचिका जलादि के विषय भी जानना चाहिये।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते इति श्रुत्यर्थमाह—

नान्याः गतिः कृष्णपदारविन्दात्सन्दृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ।।

भक्तेच्छया उपात्तः सुचिन्त्यविग्रहो येन तस्मात् अचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्य-साशयात् आशयेन सह वर्तमानं साशयं चेष्टितम्। अविचिन्त्यम्=ब्रह्मादिभिः अविदितं चेष्टितं यस्य तस्मात् अतएव उक्तं ब्रह्मशिवादिवन्दितात्। ईदृशात् कृष्णपदारविन्दात् अन्या गतिर्न सन्दृश्यते इत्यन्वयः। भक्तानामिच्छा भक्तेच्छा सुचिन्त्यः ध्यातुं योग्यः।

यथोक्तं श्रीमद्भागवते—

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः।।
(१३/२४/३१)

भक्तेच्छोपात्तरुपाय परमात्मन्नमोऽस्तु ते।
(१०/५९/२५)

स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत्।
(१/७/२५)

अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद्यशः।

(९/२४/६१)

अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम्।
स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्त्तये।

(१०/२७/११)

अवतीर्णोऽसि भगवान् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः।

(११/११/२८)

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।

(३/९/११)

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय।

(३/९/२)

भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्त्तेः स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम्।
योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूलं..........।।

(१६/४/३३)

मूर्त्तिः नः पुरुकृपया बभार सत्त्वम्।
संशुद्धं सदसदिदं विभाति यत्र अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो।।
भारावताराय भुवो निजेच्छया लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनम्।
मह्यं न न स्यात्फलमञ्जसादृशः.....।।

(१०/३८/१०)

परमपदविहारी नित्यदोषापहारी व्रजजनपरिवारी कामरूपो मुरारिः।
अमलकमलहारी गोपिकास्वान्तहारी जयति वनविहारी सर्वमाधुर्यधारी।।

इति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्तकश्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीश्वरपादपीठसमलङ्कृतश्रीश्रीभट्टपादपद्मपरागभृङ्गेण श्रीहरिव्यासदेवाचार्येण विरचिते वेदान्तसिद्धान्तरत्नाञ्जलौ तृतीयः परिच्छेदः।।३।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—यहाँ गति शब्द का अर्थ दो प्रकार से निष्पन्न हुआ है—

१.**गम्यते अनया**—इस प्रकार करणवाच्य में समस्त पुरुषार्थ का उपाय

स्वरूप श्रीकृष्ण ही सबकी गति अथवा मोक्षप्रापक। श्रीकृष्ण ही अपने शरणागत भक्त साधकगण को भुक्ति और मुक्ति दोनों ही प्रदान करते हैं; श्रीभगवान् ने यह बात निजमुख से ही कही है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता ९/२२)

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता १२/७)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।

(श्रीमद्भगवद्गीता १०/१०)

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।

(श्रीमद्भगवद्गीता १०/११)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता १८/६६)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।

(श्रीमद्भगवद्गीता १८/६५)

जो मेरा अनन्य भाव में चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मैं उन नित्य युक्त भक्तों के 'योग और क्षेम' सभी भोग्य वस्तु और मुक्ति दोनों ही वहन करता हूँ। मुझमें चित्त लगाने वाले उन भक्तों को मृत्युमय संसार से निकाल कर मैं उनको मुक्ति देता हूँ। जो हमेशा मुझमें मन लगाकर मेरा भजन करते हैं, मैं उन्हें ऐसा ज्ञानयोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। उन प्रीतिपूर्वक भजन करने वालों पर ही दया करने के लिये उनकी बुद्धिवृत्ति में स्थिर होकर प्राचीन कर्मरूप अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को, जिसने जीव के

धर्मभूत ज्ञान पर पर्दा डाल रखा है, अपने विषयक ज्ञानदानरूप चमकते हुए दीपक से नाश करता हूँ। सर्वप्रकार धर्मविचार-परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण में आओ; मैं तुम्हें सर्वप्रकार के पापों से छुड़ा दूँगा, इसलिये तू शोक मत कर। मुझमें मन को लगाओ, मेरे भक्त हो, मेरा यजन (पूजन) करो, नियम से नित्य साष्टाङ्ग प्रणाम करो, यह बिल्कुल सच है कि तुम मुझको पाओगे, मैं तुमसे ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ; चूँकि तुम मेरे प्रिय हो।

२. गम्यते इति गतिः—इस प्रकार कर्मवाच्य में गति शब्द निष्पन्न होता है, प्राप्य, आश्रय, उपास्य अथवा साध्यरूप में श्रीकृष्ण को 'उपेय' एकमात्र परमगति और आश्रय है; वह भी श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है—**'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति'** (७/७); हे धनञ्जय! मुझसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी (९/१८), मैं ही इस चराचर सकल वस्तुओं की गति, भर्ता, प्रभु और साक्षी हूँ। **यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्** (गति ९१५) मेरा पूजन करने वाले भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। **मामेवैष्यसि युक्त्यैवमात्मानं मत्परायणः** गीता (९/३४) मुझमें अपना मन लगाकर मेरी शरण होकर मुझको ही प्राप्त करोगे। **'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।'** (गीता १३/१८) मेरे भक्त इसे जानकर मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं। मम साधर्म्यमागताः (गीता १४/२) मेरे समान धर्म को प्राप्त हुए हैं।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।

(गीता ८/१५)

महात्मा लोग मुझे प्राप्त कर परमसिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं, वे पुनः और अनित्य दुःखमय जन्म प्राप्त नहीं करते।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (९/१६)

हे कौन्तेय! जो मुझे प्राप्त करते हैं, वे फिर जन्म नहीं धारण करते हैं। श्रीकृष्ण ही भक्तों के सर्वप्रकार सम्बन्ध के ही विषय और आश्रय हैं। कारण वे ही इस जगत् में सबके पिता, माता, धाता, पितामह, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, शरण, सुहृत् प्रभृति हैं। उनके साथ ही भक्तों का सभी तरह सम्बन्ध है। **पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः'' गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्** इत्यादि गीताशास्त्र में ये सारी बातें कही गयी हैं। इसलिये सब

ओर से श्रीकृष्ण ही सबकी एकमात्र परमगति, उससे श्रेष्ठ अन्य गति नहीं है, यही सिद्ध हुआ। इसी अभिप्राय से भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने कहा है— **'नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्'**।

गति कृष्णचरणारविन्द और अगति शरणागत जीव है। वैसे ही कहा गया है—

अपराधसहस्रसङ्कुलं पतितं भीममभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे! कृपया केवलमात्मसात्कुरु।।

हे हरे! हे राधे! रात-दिन अनगिनत अपराध करने वाले हम शरणागत प्रपन्न अगति को कृपया केवल आत्मसात् करो। चूँकि हम भयङ्कर संसारसागर के उदर में हैं। उस परब्रह्म परमेश्वर को जानकर ही जीव मृत्यु का उलङ्घन कर जाता है; और कोई रास्ता मोक्ष का नहीं है, इस श्रुति के अर्थ को भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य बताते हैं—जिन्होंनें अपने भक्तों के कल्याण की इच्छा से सुचिन्त्य (अनायास ही ध्यानयोग्य) विग्रह को धारण किया है, जिनकी शक्ति और अभिप्राय चिन्ता से अगोचर है, जिनके चेष्टित ब्रह्मादि देवगण से अविदित हैं, इसलिये कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण के ब्रह्मा-शिवादि वन्दित चरण-कमल को छोड़कर जीवों के लिये दूसरी गति (मोक्ष) लाभ का उपाय नहीं है। ग्रन्थकार प्रमाण के रूप में पुराण तिलक श्रीमद्भागवतस्थ श्लोकों को उद्धृत कर दिखलाते हैं। श्रीकर्दम ऋषि ने कहा—हे भगवन्! आप प्राकृत रूप से रहित हैं, आपके जो द्विभुज और चतुर्भुज आदि अलौकिक रूप हैं, वे ही आपके योग्य हैं तथा जो मनुष्य-सदृश रूप आपके भक्तों को प्रिय लगते हैं। वे भी आपको रुचिकर प्रतीत होते हैं।

पृथ्वी देवी ने कहा—हे परमात्मन्! आप अपने भक्तों की इच्छा पूर्ण करने के लिये उसी के अनुसार ध्यानयोग्य रूप प्रकट करते हैं, मैं आपको नमस्कार करती हूँ।

अर्जुन ने कहा—हे ब्रह्मन्! आपके अनन्य प्रेमी भक्तजनों के निरन्तर स्मरण-ध्यान करने के लिये आपने सुचिन्त्य श्रीविग्रह को धारण किया है।

श्रीमद्भागवत-प्रवक्ता श्रीशुकदेवजी ने कहा—अपने भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिये श्रीभगवान् ने ऐसे परम पवित्र यश का विस्तार किया है। आप वही-वही रूप धारण कर लेते हैं। आप सत्पुरुषों पर कृपा करने के लिये प्रकट

धर्मभूत ज्ञान पर पर्दा डाल रखा है, अपने विषयक ज्ञानदानरूप चमकते हुए दीपक से नाश करता हूँ। सर्वप्रकार धर्मविचार-परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण में आओ; मैं तुम्हें सर्वप्रकार के पापों से छुड़ा दूँगा, इसलिये तू शोक मत कर। मुझमें मन को लगाओ, मेरे भक्त हो, मेरा यजन (पूजन) करो, नियम से नित्य साष्टाङ्ग प्रणाम करो, यह बिल्कुल सच है कि तुम मुझको पाओगे, मैं तुमसे ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ; चूँकि तुम मेरे प्रिय हो।

२. गम्यते इति गतिः—इस प्रकार कर्मवाच्य में गति शब्द निष्पन्न होता है, प्राप्य, आश्रय, उपास्य अथवा साध्यरूप में श्रीकृष्ण को 'उपेय' एकमात्र परमगति और आश्रय है; वह भी श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है—**'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति'** (७/७); हे धनञ्जय! मुझसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी (९/१८), मैं ही इस चराचर सकल वस्तुओं की गति, भर्ता, प्रभु और साक्षी हूँ। **यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्** (गति ९१५) मेरा पूजन करने वाले भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। **मामेवैष्यसि युक्त्यैवमात्मानं मत्परायणः** गीता (९/३४) मुझमें अपना मन लगाकर मेरी शरण होकर मुझको ही प्राप्त करोगे। **'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।'** (गीता १३/१८) मेरे भक्त इसे जानकर मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं। मम साधर्म्यमागताः (गीता १४/२) मेरे समान धर्म को प्राप्त हुए हैं।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।

(गीता ८/१५)

महात्मा लोग मुझे प्राप्त कर परमसिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं, वे पुनः और अनित्य दुःखमय जन्म प्राप्त नहीं करते।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (९/१६)

हे कौन्तेय! जो मुझे प्राप्त करते हैं, वे फिर जन्म नहीं धारण करते हैं। श्रीकृष्ण ही भक्तों के सर्वप्रकार सम्बन्ध के ही विषय और आश्रय हैं। कारण वे ही इस जगत् में सबके पिता, माता, धाता, पितामह, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, शरण, सुहृत् प्रभृति हैं। उनके साथ ही भक्तों का सभी तरह सम्बन्ध है। **पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः'' गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्** इत्यादि गीताशास्त्र में ये सारी बातें कही गयी हैं। इसलिये सब

ओर से श्रीकृष्ण ही सबकी एकमात्र परमगति, उससे श्रेष्ठ अन्य गति नहीं है, यही सिद्ध हुआ। इसी अभिप्राय से भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने कहा है—**'नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्'**।

गति कृष्णचरणारविन्द और अगति शरणागत जीव है। वैसे ही कहा गया है—

अपराधसहस्रसङ्कुलं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे! कृपया केवलमात्मसात्कुरु।।

हे हरे! हे राधे! रात-दिन अनगिनत अपराध करने वाले हम शरणागत प्रपन्न अगति को कृपया केवल आत्मसात् करो। चूँकि हम भयङ्कर संसारसागर के उदर में हैं। उस परब्रह्म परमेश्वर को जानकर ही जीव मृत्यु का उलङ्घन कर जाता है; और कोई रास्ता मोक्ष का नहीं है, इस श्रुति के अर्थ को भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य बताते हैं—जिन्होनें अपने भक्तों के कल्याण की इच्छा से सुचिन्त्य (अनायास ही ध्यानयोग्य) विग्रह को धारण किया है, जिनकी शक्ति और अभिप्राय चिन्ता से अगोचर है, जिनके चेष्टित ब्रह्मादि देवगण से अविदित हैं, इसलिये कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण के ब्रह्मा-शिवादि वन्दित चरण-कमल को छोड़कर जीवों के लिये दूसरी गति (मोक्ष) लाभ का उपाय नहीं है। ग्रन्थकार प्रमाण के रूप में पुराण तिलक श्रीमद्भागवतस्थ श्लोकों को उद्धृत कर दिखलाते हैं। श्रीकर्दम ऋषि ने कहा—हे भगवन्! आप प्राकृत रूप से रहित हैं, आपके जो द्विभुज और चतुर्भुज आदि अलौकिक रूप हैं, वे ही आपके योग्य हैं तथा जो मनुष्य-सदृश रूप आपके भक्तों को प्रिय लगते हैं। वे भी आपको रुचिकर प्रतीत होते हैं।

पृथ्वी देवी ने कहा—हे परमात्मन्! आप अपने भक्तों की इच्छा पूर्ण करने के लिये उसी के अनुसार ध्यानयोग्य रूप प्रकट करते हैं, मैं आपको नमस्कार करती हूँ।

अर्जुन ने कहा—हे ब्रह्मन्! आपके अनन्य प्रेमी भक्तजनों के निरन्तर स्मरण-ध्यान करने के लिये आपने सुचिन्त्य श्रीविग्रह को धारण किया है।

श्रीमद्भागवत-प्रवक्ता श्रीशुकदेवजी ने कहा—अपने भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिये श्रीभगवान् ने ऐसे परम पवित्र यश का विस्तार किया है। आप वही-वही रूप धारण कर लेते हैं। आप सत्पुरुषों पर कृपा करने के लिये प्रकट

हुए हैं। और भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भृत्य-दास-सेवकों पर दया की बुद्धि से यह चिद्घन रसस्वरूप सारी सुन्दरता की मूर्ति ग्रहण किया है। भगवान् श्रीकृष्ण त्रिगुणात्मिका माया से अस्पृष्ट नित्य सिद्ध-चिद्घन-ज्ञानघन-सच्चिदानन्द विग्रह से प्रकट होते हैं।

दक्ष प्रजापति ने कहा—हे भगवन्! जो आपके श्रीचरणकमलों का भजन करता है, उन पर अनुग्रह करने के लिये आप प्रकट होकर उन्हें दर्शन देते हैं।

हम पर असीम कृपा से विशुद्ध सत्त्वमूर्ति आपने धारण की, जिसमें यह स्थूल और सूक्ष्म प्रकाशित हो रहा है।

अक्रूरजी ने कहा—भगवान् श्रीविष्णु पृथ्वी का भार उतारने के लिये अपनी इच्छा से मनुष्य के समान लीला कर रहे हैं। वे सम्पूर्ण लावण्य के धाम हैं। सौन्दर्य के मूर्तिमान निधि हैं। आज मुझे उन्हीं का दर्शन होगा। अवश्य होगा। आज मुझे सहज में ही आँखों का फल प्राप्त हो जायेगा।

परमधाम में विहार करने वाले, व्रजवासी ग्वाल-बालों के परिवार वाले, गोपियों के मन को हरने वाले, सकल माधुर्यरस को धारण करने वाले, नित्य दोषों को अपहरण करने वाले, अमल कमल को धारण करने वाले, ब्रजवासी ग्वालबालों के साथ वन में विहार करने वाले कामरूप मुरारि की जय हो जय हो।

इति श्रीमन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रमतानुवर्त्तिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यत्यागमूर्ति स्वामिधनञ्जयदासजीकाठियाबाबातर्कतर्कव्याकरणतीर्थपादपद्मान्तेवासी योगिराज स्वामिराधाविहारिदासजीकाठियाबाबाचरणारविन्द-चञ्चरीक डॉ० स्वामी द्वारकादासकाठियाबाबाकृत व्याख्या 'श्रीवृन्दावनचन्द्रिका' तृतीय परिच्छेद समाप्त।।३।।

●

चतुर्थः परिच्छेदः

जगदुदयलयादेरेककर्ता हरिर्यः सततमवति जीवं भक्तिरूपात्मशक्तिम्।
ददति निजजनेषु सत्यसङ्कल्पतोऽहं शरणवरणकामः कामये दासभावम्।।

श्रीकृष्णपदारविन्दात् अन्या गतिर्जीवस्य न विद्यते इत्युक्तम्। तत्र श्रीकृष्णप्राप्तिस्तत्कृपयैव। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया, न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेनैव, लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वा' मित्यादिश्रुतेः।

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्।।

(श्रीमद्भा० १०/१४/२९)

इत्युपबृंहणभूतश्रीभागवतवचनानुसारेणायं प्रसादलेशो दैन्यादि मत्येवाविर्भवतीत्याह आद्याचार्यः कृपेत्यादिना—

कृपाऽस्य दैन्यादियुजि प्रजायते यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा।।१।।

दैन्यादियुजि=दैन्यादिसम्पन्नेऽस्यानन्याधिपतेः=श्रीकृष्णस्य कृपा प्रकटीभवति, दैन्यादयस्तावत् दैन्यसन्तोषपरिचर्यानिवृत्तयः। सन्तोषमिश्रं दैन्यं श्रीमद्भागवते—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्।।

(१०/१४/८)

परिचर्या यथा तत्रैव

ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां नैषा ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये। इति।

तत्रैव निवृत्तिः—

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह।।

(२/७/४२)

एवं हि दैन्यसन्तोषपरिचर्यानिवृत्तिरूपैः साधनैः सम्पन्ने श्रीभगवत्कृपा प्रजायते, यथानुक्रमेण प्रेमलक्षणा भक्तिर्भवतीत्यर्थः। तथाहि श्रीमद्भागते-

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति।।

(३/२५/२५)

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—इस सम्पूर्ण अनन्त ब्रह्माण्ड का जन्म-पालन और संहारकर्ता जो एक भगवान् श्रीहरि ही हैं, वे ही जीवों की हमेशा रक्षा करते हैं और अपने जनों में भक्तिरूपा अपनी शक्ति प्रदान करते हैं। मैं (ग्रन्थकार) सत्यसङ्कल्प से उनकी शरण ग्रहण करने की इच्छा वाले उनके दास भाव की कामना करता हूँ।

उन भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द के सिवाय दूसरी गति जीवों की नहीं है—ऐसा बताया गया है। उसमें कृष्ण की प्राप्ति उनकी कृपा से ही सम्भव है।

श्रुति स्वयं इस बात को कहती है—यह आत्मा=परमात्मा श्रीकृष्ण प्रवचन से नहीं प्राप्त होते, न मेधा से, न बहुत प्रवचन सुनने से प्राप्त होते हैं; वे जिसे वरण करते हैं, वही प्राप्त होता है और परमात्मा उसे अपने श्रीविग्रह का दर्शन कराते हैं। यह श्रीभगवान् की कृपाशक्ति है। अतः श्रीभगवान् की प्राप्ति में उनकी कृपा ही मूल है। यह परमात्मा जिस भक्त को स्वयं वरण कर लेता है अर्थात् जिस भक्त की अनन्य भक्ति से प्रसन्न होकर उसका वरण कर लेता है, उसी भक्त के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। परमात्मा उस भक्त के समुख अपना स्वरूप प्रकट कर देता है।

ब्रह्माजी कहते हैं—अपने भक्तजनों के हृदय में स्वयं स्फुरित होने वाले हे भगवन्! आपके ज्ञान का स्वरूप और महिमा ऐसी ही है, उससे जीव-जगत् का अनायास ज्ञान हो जाता है। फिर भी जो सत्पुरुष आपके युगल चरणकमलों का तनिक-सा भी कृपा-प्रसाद प्राप्त कर लेता है, उससे अनुगृहीत हो जाता है, वही आपकी सच्चिदानन्दमयी महिमा का तत्त्व जान सकता है। दूसरा कोई भी ज्ञान वैराग्यादि साधन रूप अपने प्रयत्न से बहुत कालपर्यन्त कितना भी अनुसन्धान करता रहे, वह आपकी महिमा का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। इस प्रकार उपबृंहितभूत श्रीभागवत-वचनानुसार यह प्रसाद

लेश दैन्यादि गुण वाले जो साधु पुरुष हैं, उनके लिये ही प्रकट होते हैं। अतः आदिगुरु श्रीनिम्बार्काचार्य कहते हैं—जिसका दैन्य है, उस पर श्रीभगवान् की कृपा होती है और उस कृपा से ही श्रीभगवान् के प्रति भक्ति होती है।

दैन्यादि गुणयुक्त (शरणागत) पुरुष में ही श्रीभगवान् की कृपा होती है, इस भगवत् कृपा से ही पुरुषोत्तम परमात्मा में प्रेमविशेषलक्षणा भक्ति होती है। यही उत्तमा भक्ति है। इससे भिन्न और एक भक्ति है, उसका नाम 'साधन-भक्ति' है (यह भक्ति उत्तमा-भक्ति का साधन होने से उसको साधन-भक्ति कहा जाता है। श्रवण, कीर्तनादि नवधा-भक्ति साधनभक्ति कही जाती है। इस साधन-भक्ति के द्वारा क्रमशः उत्तमा-भक्ति होती है)।

दैन्य आदि शब्द से सन्तोष, परिचर्या और निवृत्ति लेना चाहिये। सन्तोषमिश्रित दैन्य श्रीमद्भागवत में देखिये—हे श्यामसुन्दर! जो यह प्रतीक्षा करता है कि आप कब मुझ पर अनुकम्पा-कृपा करेंगे और इस सन्तोषी प्रतीक्षा के साथ अपने कर्मों का फल भोगता हुआ मन, वाणी और शरीर से आपको नमन करता हुआ आपका भजन करता है, वह मुक्ति का हिस्सेदार हो जाता है।

यस्त्विन्द्रगोपमथवेन्द्रमहो स्वकर्मबन्धानुरूपफलभाजनमातनोति।
कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजां गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

(ब्रह्मसंहिता)

जो एक इन्द्रगोप-जैसे क्षुद्र कीड़े से लेकर देवराज इन्द्रपर्यन्त समस्त जीवों को अपने-अपने कर्मफलों के अनुरूप फल-भोग कराते हैं, किन्तु जो सन्तोषमिश्रित दैन्य अथ च ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न भक्तमान भक्तों के समस्त कर्मों को जड़ से जला देते हैं, मैं उन आदिपुरुष भगवान् श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ। परिचर्या जिस प्रकार श्रीमद्भागवत में ही वर्णन है— जो निष्कपट भाव से अपना सर्वस्व और अपने आपको भी उनके युगल श्रीचरणकमलों में निछावर कर देते हैं, उन पर वे अनन्त भगवान् श्रीहरि स्वयं ही अपनी ओर से दया करते हैं और उनकी दया के पात्र ही उनकी दुस्तर माया को जानते हैं और उसके पार जा पाते हैं। वास्तव में ऐसे पुरुष ही कुत्ते और सियारों के कलेवा रूप अपने और पुत्रादि के शरीर में 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' ऐसा भाव नहीं करते। श्रीमद्भागवत में ही निवृत्ति-धर्म की बातें लिखी हैं—निष्काम भाव से भागवत धर्मों का आचरण करने पर श्रीभगवान् की कृपा से प्राप्त हुए भक्तियोग के द्वारा देह-गेह में अहन्ता-ममता धीरे-धीरे निवृत्त हो जाती है। प्रेमी

भक्त प्रेमास्पद श्रीभगवान् को सर्वस्व अर्पण करते हैं, यही प्रेम का नियम है। इस प्रकार के प्रेमी अनुरागी भक्तों के लिये विधि-निषेधात्मक शास्त्रों की आवश्यकता नहीं रहती है।

विधि-निषेध के जो धर्म तिनको त्यागि रहे निष्कर्म[१]-महावाणी। भगवान् श्रीकपिलदेव कहते हैं—सत्पुरुषों के समागम से मेरे पराक्रमों का यथार्थ ज्ञान कराने वाली तथा हृदय और कानों को प्रिय लगने वाली कथाएँ होती हैं, उनको सेवन करने से शीघ्र ही मोक्ष मार्ग में श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का क्रमशः विकाश होगा।

तत्र कथास्तज्जोषणं च सत्सङ्गावयवौ तयोः तदन्तर्भूतत्वात् श्रीभगवद्धर्मरुचिरेव श्रद्धा। तथा च स्मृतिः—

कथाप्रधानेषु रुचिः प्रजायते सद्धर्मनिष्ठा हरिसेविनां सताम्।
सङ्गे सदा कृष्णकथाः प्रगायतां तद्धर्मिणां तत्त्वनितान्तवेदिनाम्।।

इत्याद्या। रतिस्तु श्रीभागवते—

तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः।।इति।।

रतेर्वैराग्यं तच्च चतुर्विधम्—

वैराग्यमाद्यं यतमानसंज्ञं क्वचिद्विरागो व्यतिरेकसञ्ज्ञः।
एकेन्द्रियाख्यं हृदि रागसौक्ष्म्यं तस्याप्यभावस्तु वशीकृताख्यम्।।इति।।

अथ गुरूपस्मृतिः—

यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमानाचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः।। इति।

आचार्यस्तु उक्तसाधनसम्पन्नं शिष्यं पञ्चसंस्कारान् विधाय भक्तिमुपदिशेत्। ते चे संस्काराः पाद्मे—

तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी परमसंस्काराः परमैकान्त्यहेतवः।।

श्रीदशमे अक्रूरस्तुतौ च—

---
१. द्रष्टव्य—महावाणी-श्रीहरिव्यासदेवाचार्य

अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम्।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—उसमें कथा और कथा का सेवन—ये सत्सङ्ग के अङ्ग हैं। ये दोनों ही उनके अन्तर्भाव हैं, श्रीभगवद्धर्म में रुचि ही श्रद्धा है। और उसी प्रकार स्मृति है—भगवान् श्रीहरि की सेवा करने वाले सन्तों का सदा सङ्ग में, भगवान् श्रीकृष्ण की कथा प्रकृष्ट गान करने वाले श्रीभगवद्धर्मी, अत्यन्त तत्त्वविद् सद्धर्म में निष्ठा तथा कथाप्रधान में रुचि प्रजात (उत्पन्न) होती है। श्रीभगवान् में रति (अनुराग) श्रीमद्भागवत में लिखी है—उसमें हजारों उपाय में यह उपाय (साधन) श्रीभगवान् ने कहा है कि जिन उपायों से यदि अनायास सर्वशक्तिमान श्रीभगवान् में रति हो जाय।

रति से वैराग्य उत्पन्न होता है और वह चार प्रकार का है। पहला वैराग्य यत्न नाम क्वचिद् विराग व्यतिरेक नाम। एक इन्द्रिय नाम हृदय में सूक्ष्म राग उसका भी अभाव वशीकृत नामक।

अब गुरु की उपसृति बताते हैं अर्थात् मुमुक्षु व्यक्ति को गुरु का आश्रय (शरण ग्रहण) करना चाहिये। जब आचार्यवान् पुरुष की ब्रह्म में नैष्ठिकी रति हो जाय तब ज्ञान-वैराग्य के योग से अवीर्य=निर्बल पञ्चभूतस्वरूप जीव कोश को जला देता है, जिस प्रकार काठ में से ही उठी हुई अग्नि अपने कारण काठ (लकड़ी) को जला देती है। गुरु उक्त साधनसम्पन्न शिष्य को पञ्चसंस्कार करके भक्ति का उपदेश करें। भगवान् वेदव्यासजी वे पञ्च संस्कार पद्मपुराण में वर्णन किये हैं—यथा ताप—१.शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, पुण्ड्र २.तिलक स्वरूप, ३.मन्त्र, ४.नाम, ५.याग; ये पञ्च संस्कार प्रेमलक्षणा भक्ति के कारण हैं। अक्रूरजी श्रीभगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं और दूसरे पञ्चसंस्कार से युक्त उपासकगण बताये गये शास्त्रविधि-विधान के अनुसार बहुमूर्ति-एकमूर्तिरूपी आपकी उपासना करते हैं।

तत्र संस्कारेषु तापो नाम शङ्खचक्रधारणम्। ननु तप्तमुद्राधारणं ब्राह्मणस्य न युक्तम्।

यत्सुसन्तप्तशङ्खादिलिङ्गाङ्किततनुं पुनः।
सम्भाष्य रौरवं याति यावदिन्द्राचतुर्दश।।

इत्यादिश्रीबृहन्नारदीयोक्तेरिति चेत्सत्यम्; अस्य निषेधस्य श्रीद्वारकास्थानतो-

ऽन्यत्र स्थले तप्तचक्रादिधारणं तु सकलश्रुतिस्मृतिषु सिद्धम्। तथाहि श्रुतयः—

'स होवाच याज्ञवल्क्यः तस्मात्पुमानात्महिताय प्रेम्णा हरिं भजेत् यत्सुश्लोकमौलेर्धामानि अग्निना सन्धत्त तस्माद्धामैव। ब्रह्मविदाप्नोति परम्

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पतेः प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनुर्न तदा मोक्षमश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशते।।

(ऋग्वेद अष्टक ९, अध्याय ३, सूत्र १६, वर्ग ८, मन्त्र १)

एभिर्वयमुरुक्रमस्य चिह्नैरङ्किता लोके सुभगा भवेम तद्विष्णोः परमं पदं येऽभिगच्छन्ति लाञ्छिता इत्याद्याः।

न चात्र श्रीद्वारकायां तप्तमुद्राधारणे प्रमाणाभावः उक्तिश्रुतिषु द्वारकापदप्रयोगाभावादिति वाच्यम्। मार्गशीर्षमाहात्म्ये—

द्वारवत्यां सदा धार्या तप्तमुद्रा वै वैष्णवैः।
तप्तमुद्राङ्कितो यस्तु यत्कुर्यात्तन्मम प्रियम्।।
तप्तमुद्राङ्किता ये वै मदीया नात्र संशयः।
तप्तमुद्रां विना ये च तिष्ठन्ति मामका न ते।।

श्रुतीनां श्रीद्वारकास्थतप्तमुद्रापरतया स्मृतिभिरेव व्याख्यानात्।

पञ्च संस्कारों में ताप, नाम, शङ्ख, चक्र आदि धारण करना। उसमें शङ्का हुई कि ब्राह्मण को तप्त-मुद्रा धारण करना उचित नहीं है। अतः बृहन्नारदीय में कहा है कि जो शङ्ख-चक्रादि सुसन्तप्त चिह्नों से अङ्कित देहधारी है, पुरुष फिर सम्भाषण करके रौरव को जाता है, जब तक कि चौदह इन्द्र रहते हैं। यह बात बिल्कुल सच है। इसका समाधान यह है कि श्रीद्वारका से अन्यत्र स्थान में तप्त-चक्रादि धारण करते हैं, उनके लिये यह निषेध है। श्रीद्वारका में तो तप्त-मुद्रा धारण करना सकल श्रुति-स्मृति शास्त्रों में सिद्ध है। उपर्युक्त कथन को श्रुति द्वारा प्रमाणित करते हैं—वैदिक ऋषि याज्ञवल्क्यजी ने स्पष्ट कहा—उस कारण से पुरुष अपने हित के लिये प्रेम से हरि का भजन करे और सुश्लोक मौलि=भगवान् श्रीहरि के धामों=चिह्नों को अग्नि से धारण करें, इसलिए श्रीद्वारकाधाम ही ब्रह्म है। द्वारका शब्द का अर्थ देखें—

द्वारे द्वारे कं=ब्रह्म यस्यां पुर्यां सा द्वारका कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति श्रुतेः।

अर्थात् **द्वार-द्वार में=प्रत्येक द्वार में 'क'** नाम जिस पुरी में वह द्वारका है। ब्रह्म को जानने वाले सत्पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं।

हे ब्रह्मा के पति भगवान् श्रीविष्णु! आप हम सब जीवों के प्रभु=स्वामी हो, आप सभी प्राणियों के शरीर के भीतर हृदयगुफा में व्याप्त होकर रहते हो, आपका जो पवित्र सुदर्शनचक्र है, वह भी आपके भक्तों के हृदयगुफा में सन्निविष्ट रहता है। उनसे जिनका शरीर तप्त नहीं है, वे पुरुष पापों के दग्ध न होने से आपको प्राप्त नहीं कर सकते हैं। उस सुदर्शनचक्र को धारण करने वाले ही पुरुष परिपक्व दग्ध-पाप-अन्तर्गत होने से आपको प्राप्त होते हैं अर्थात् तब वे श्रीभगवद्भावापत्तिरूप मोक्षलाभ करते हैं। जो कोई इस मार्ग पर चलते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं।

श्रीद्वारकाधाम में सनकादि महर्षियों ने यह तप्त-मुद्रा-धारणरूपी संस्कार प्रवर्तित किया है। अतः यह परम कल्याणकारक है। देवर्षि नारद ने अपने गुरु सनकादि-प्रवर्तित तप्तमुद्रा-धारणरूप नियम को पालन करके सम्प्रदाय के आदर्श की रक्षा की है; फिर द्वापर के अन्त में भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने भी अपने परमगुरु और गुरु के आदर्श का अनुसरण करके तप्त-मुद्रा को धारण किया और परम्पराक्रम से इसको चिरस्थायी करने की सुदृढ़ व्यवस्था की।

(श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति श्लोक १०३-१०४)

चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता अतिपाप्मानमराति तरेम।।
लोकस्य द्वारमर्चिष्मत् पवित्रं ज्योतिमद् भ्राजमानं महस्वत्।
अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके सुधितान दधात्।।

(यजुर्वेद काठक ३ प्रश्न तृतीयानुवाक)

पवित्रं विततं.................चरणं पवित्रं.............. अर्चिष्मत् ज्योतिष्मत्' इत्यादि वैदिक मन्त्रों का श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र में नैमिषारण्यनिवासी महर्षि श्रीगौरमुखाचार्य ने स्पष्ट शब्दों में श्रीनिम्बार्क भगवान् के नामों को बतलाया है—

चक्रं चमत्क्रियायुक्तं चमत्कृतिहृतेक्षणम्।
लोकद्वारं महोद्वारं ज्योतिष्मच्च प्रभाकरम्।।
उद्धुता सुरमर्चिष्मत् सहस्रचरणं चरम्।
पवित्रं विततं प्राणं प्रतत्पुराणमुत्तमम्।।

(श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्रम् श्लोक ८०/८२/८३)

इससे सिद्ध हो गया कि भगवान् श्रीनिम्बार्क वैदिक ऋषि हैं।

हम इन उरुक्रम=भगवान् श्रीविष्णु के चिह्नों से अङ्कित होकर लोक में सुभग=समर्थवान होंगे। वह विष्णु का परम् पद है, जो जाते हैं। ये यब श्रुति-वाक्य हैं।

इन श्रुतिवाक्यों में द्वारका शब्द उल्लिखित नहीं है। इसलिये कही गयी श्रुति में द्वारका पद के प्रयोग के अभाव होने से द्वारका में तप्त-मुद्रा धारण करने में प्रमाण नहीं है—इति न वाच्यम्=ऐसा नहीं कहना चाहिये; मार्गशीर्ष माहात्म्य में लिखा है—वैष्णवों को तो द्वारका में तप्त-मुद्रा सदा धारण करनी चाहिये। जो तप्त-मुद्रा अङ्कित करे, वह तो मेरा प्रिय है, इसलिये विवेकी निपुण व्यक्ति यत्न से तप्त मुद्रा को हमेशा धारण करें। जो तप्त-मुद्रा से बाहुमूल में चिह्नित हैं, निश्चय ही वे जन मेरे हैं, इसमें संशय नहीं हैं। और जो तप्त-मुद्रा को धारण नहीं करते हैं, वे पुरुष मेरे नहीं हैं। इस प्रकार श्रुतियों के अर्थ के पीछे स्मृतियाँ चलती हैं। श्रीद्वारका में स्थित होकर तप्त-मुद्रा धारण करना चाहिये—ऐसा स्मृतियों ने व्याख्यान कर दिया।

दीक्षाकाले शयन्यां च सुबोधिन्या यथाविधि।
द्वारकायां सदा धार्या तप्तमुद्रा तु वैष्णवैः।।
तत्रापि कलिकाले तु द्वारकायामेवार्थतः।
अन्यदान्यत्र यथार्हदेशकालानुसारतः।।
कुशस्थल्यां धारणीया तप्तमुद्राघध्वंसिनी।
शयनप्रबोधकाले दीक्षाकाले तथा हरेः।।
वत्सरशो यावज्जीवं वैष्णवैः सम्प्रदायिभिः।
द्वारकायामङ्कनीया मुद्रा तप्तायुधैः सदा।।
दीक्षाकाले स्वैतिह्यतो शयनबोधयोरित्याद्याः।
अत्रायं विशेषः दीक्षाकाले शीतलमुद्रां धारयेत्।

समयान्तरे श्रीगुरोराज्ञया द्वारवत्यां तप्तमुद्रां धारयेत्। यथोक्तं प्रह्लादसं-हितायां भगवता—

स्वीयप्रशिष्यद्वारैव कलिदोषनिवृत्तये।
स्थापितानि द्वारवत्यां कुमारैः सम्प्रदायतः।।

सतां तत्रोपदेयानि शस्त्राणि भुजमूलयोः।
तप्तानि संस्कारतया गुर्वाज्ञयान्तिके हरिः।।इति।।

तथैव वाराहे कुमाराणां वाक्यम्—

कृष्णायुधाङ्कितं देहं गोपीचन्दनमृत्स्नया।
प्रयागादिषु तीर्थेषु गत्वा किं करिष्यति।।
कृष्णायुधाङ्कितं दृष्ट्वा गोपीचन्दनमृण्मयम्।
प्रयागादिषु तीर्थेषु गत्वा किं करिष्यति।।
शङ्खचक्रगदापद्मराधाकृष्णाह्वयाङ्किता।
मुद्रा गोपीचन्देन सन्धार्या कृष्णप्रापणीः।।
सन्तप्ततनुभिरपि किमु ते तु मुनीश्वरैः।
द्वारवतीं न्यस्ततापां परम्परापरायणैः।।इति।।

अत्रायमाशयः—द्वारकां प्रति गन्तुमसमर्थानां शीतलमुद्राधारणमेव युक्तं समर्थानां तु मुद्राद्वयस्यापि धारणमिति। धारणप्रकारविधिस्तन्महिमा च ग्रन्थान्तरे द्रष्टव्यः; इह तु विस्तरभयान्न लिखितः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—दीक्षा के समय, हरिशयनी एकादशी और देवशयनी एकादशी में यथाविधि श्रीद्वारका में वैष्णवों को तप्त-मुद्रा सदा धारण करनी चाहिये। उसमें भी कलिकाल में तो अर्थ से श्रीद्वारका में ही धारण करनी चाहिये। और दूसरे-दूसरे देश और काल के अनुसार से यथायोग्य धारण करनी चाहिये।

पापों को ध्वंस करने वाली तप्त-मुद्रा श्रीद्वारका में ही धारण करनी चाहिये। उसी प्रकार भगवान् श्रीहरि के सोते-जागते समय (देवशयनी और देवोत्थान एकादशी में) तथा सद्गुरुदेव से दीक्षाकाल में कुशस्थली=द्वारका धाम में तप्त-मुद्रा धारण करें।

वैष्णव सम्प्रदाय के जितने सन्त हैं, जितने वर्ष-पर्यन्त जीवित रहें, उन्हें तप्त-मुद्रा-आयुधों से अपने सदाचार दीक्षा-काल में भगवान् श्रीविष्णु के शयन एवं प्रबोध के समय हमेशा द्वारकाधाम में ही चिह्नित=अङ्कित करानी चाहिये।

यहाँ यह विशेष है कि दीक्षा के समय शीतल मुद्रा=गोपीचन्दन धारण करें उसके पीछे दूसरे समय में श्रीसद्गुरुदेव की आज्ञा से द्वारका में तप्त-मुद्रा-

धारण करें। जैसे प्रह्लादसंहिता में श्रीभगवान् ने कहा—अपने प्रशिष्य यानी नाती चेला श्रीनिम्बार्क भगवान् के द्वारा ही श्रीसनकादि ने सम्प्रदाय से कलि के दोषों की निवृत्ति के लिये श्रीद्वारकाधाम में तप्त-मुद्रा स्थापित की है। सन्तों को बाहुमूल में श्रीद्वारका में ही शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म आयुधरूप शस्त्र संस्कारपूर्वक सद्गुरुदेव भगवान् की आज्ञा से भगवान् श्रीहरि के सान्निध्य में धारण करने योग्य हैं। वैसे ही वराहपुराण में महर्षि श्रीसनकादि कुमारों के वाक्य हैं—जिसके बाहुमूल भगवान् श्रीकृष्ण के आयुधों से अङ्कित हैं तथा गोपीचन्दन मृत्तिका से द्वादशतिलक चिह्नित हैं, वह प्रयाग आदि तीर्थों में जाकर क्या करेगा? भगवान् श्रीकृष्ण के आयुधों से सुशोभित एवं गोपीचन्दन मृत्तिकामय पुरुष को देखकर प्रयागादि तीर्थों में जाकर क्या करेगा? शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म तथा राधाकृष्ण के नाम से अङ्कित, गोपीचन्दन से मुद्रा सम्यक् धारिणी श्रीकृष्ण की प्राप्ति कराने वाली है। श्रीद्वारका में तप्त-मुद्रा तापों को धारण करने वाले सन्तप्त शरीर वाले मुनीश्वर परम्परापरायण वैष्णवजन तो होते ही हैं; फिर औरों का क्या कहना है। आशय यह है कि जो द्वारका में जाने के लिए समर्थ नहीं हैं, उनको शीतल-मुद्रा धारण करनी चाहिये और समर्थ को दोनों मुद्रा-धारण करनी चाहिये। धारण करने का प्रकार, विधि और उसकी महिमा अन्य ग्रन्थों में देखनी चाहिये। मैंने यहाँ विस्तार के भय से नहीं लिखा।

अथ ऊर्ध्वपुण्ड्रमहोपनिषदि—

> **धृतोर्ध्वपुण्ड्रः परमेशितारं नारायणं सांख्ययोगाभिगम्यम्।**
> **ज्ञात्वा विमुच्येत नरः समस्तैः संसारपाशैरिह चैव विष्णुम्।।**

तथैव कठशाखायाम्—

> **धृतोर्ध्वपुण्ड्रः श्रितचक्रधारी विष्णुं परं ध्यायति यो महात्मा।**
> **स्वरेण मन्त्रेण सदा हृदिस्थं परात्परं यन्महतो महान्तम्।।**

ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणं सर्वेषां विहितम्। यथोक्तं पद्मपुराणे श्रीभगवता स्वयम्—

> **मत्प्रियार्थं शुभार्थं वा रक्षार्थं चतुरानन।**
> **मत्पूजाहोमकाले तु सायं प्रातः समाहितः।।**

मद्भक्तो धारयेन्नित्यं ऊर्ध्वपुण्ड्रं भयापहम्।

तत्रैव शिवः—

धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रं तु त्रिसन्ध्यासु द्विजोत्तमः।
सर्वपापविशुद्ध्यमिष्टापूर्त्तफलाप्तये ।।

तत्र तिलकद्रव्यं च गोपीचन्दनमुत्तमम्। तथा च गारुडे श्रीनारदवचनम्—

गोपीचन्दनसम्भवं सुरुचिरं पुण्ड्रं ललाटे यदि
नित्यं धारयतेद्विजः प्रतिदिनं रात्रौ 'दिवा सर्वदा।
यत्पुण्यं कुरुजाङ्गले रविग्रहे माध्यां तु पुण्यं भवेत्
तत्प्राप्नोति खगेन्द्रविष्णुसदने सन्तिष्ठते देववत्।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—अब ऊर्ध्वपुण्ड्र=तिलकस्वरूप का वर्णन करते हैं—महोपनिषद् में उल्लिखित है कि जिसने ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण किया है, सांख्यशास्त्र और योगशास्त्र से सम्प्राप्य परमेश्वर नारायण विष्णु को जानकर समस्त संसारबन्धनों से वह नर विमुक्त हो जाता है। वैसे ही कठशाखा में वर्णित है—जो महात्मा ऊर्ध्व-पुण्ड्र (तिलक) तथा शङ्ख-चक्र को धारण कर ओङ्कार-सहित श्रीभगवन्मन्त्र जपते हुए हृदय में स्थित ईश्वर का ध्यान करता है, वह व्यक्ति सबसे महान् श्रीविष्णु को प्राप्त कर लेता है।

तप्त-मुद्रा का उद्धार करने वाले, तप्ताङ्क का स्थापन करने वाले, तप्त संस्कार को धारण करने वाले भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य हैं (श्रीनिम्बार्क-सहस्रनामस्तोत्र श्लोक १३४)

ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण करना सभी जनों के लिये बताया गया है। स्वयं श्रीभगवान् ने पद्मपुराण में कहा है—हे चतुरानन ब्रह्माजी! मेरे प्रिय के लिये, शुभ के लिये अथवा अपनी रक्षा के लिये मेरी पूजा तथा होमकाल में सायं और प्रातःकाल समाहित होकर मेरा भक्त भय को दूर करने वाला ऊर्ध्वपुण्ड्र नित्य धारण करे। वहीं शिवजी ने कहा—ब्राह्मण तो तीनों सन्ध्याओं में ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करें, सब पापों से विशुद्धि के लिये और इष्टापूर्त्त के फलों की प्राप्ति के लिये। उसमें तिलक द्रव्य गोपी चन्दन ही उत्तम है। गरुड़पुराण में देवर्षि नारदजी के वचन इस प्रकार हैं—गोपीचन्दन से बना हुआ सुन्दर ऊर्ध्वपुण्ड्र द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) प्रतिदिन दिवा-रात्रि सर्वदा धारण करें।

हे गरुड़जी! जो पुण्य कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के स्नान से और जो पुण्य माघ मास के स्नान से प्राप्त होता है, वही पुण्य प्राप्त कर विष्णु के सदन में वह देवता की भाँति रहता है।

अथर्वणिरहस्ये च—

श्रीकृष्णायं परं ब्रह्म गोपिकाः श्रुतयोऽभवन्।
एतत्सम्भोगसम्भूतं चन्दनं गोपीनां चन्दनम्।।

श्रुत्यन्तरे च-तद् होवाच भगवान् वासुदेवो वैकुण्ठस्थानोद्भवं मम प्रीतिकरं मद्भक्तैर्ब्रह्मादिभिर्धारितम्। विष्णुचन्दनममाङ्गे प्रतिदिनमालिप्तं गोपिभिः प्रक्षालनाद् गोपीचन्दनमाख्यातम्। मदङ्गलेपनं पुण्यं चक्रतीर्थादिसंस्थितम्। शङ्खचक्रसमायुक्तं पीतवर्णं मुक्तिसाधनं भवतीति। ब्रह्मादिभिरिति। ब्रह्म आदि पिता येषां तैः सनकाद्यैरित्यर्थः। मृदुपादानस्तत्रैव चक्रकौस्तुभे —

गोपीचन्दनपापघ्नविष्णुदेहसमुद्भवम् ।
चक्राङ्कित नमस्तेऽस्तु धारणान्मुक्तदो भव।।
अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।
शिरसा धारयिष्यामि रक्षस्व मां पदे पदे।।
गोलोकादागतासि त्वं गोपगोपीस्वरूपिणी।
विश्वाधारे विश्वभोक्त्रि त्वां मृदं धारयाम्यहम्।।

और अथर्वणरहस्य में देखिये—श्रीकृष्ण नामक परब्रह्म और गोपियाँ श्रुतियाँ हुईं। इनके सम्भोग से उत्पन्न चन्दन गोपीचन्दन है। और दूसरी श्रुति में देखें—भगवान् वासुदेव ने स्पष्ट कहा है—वैकुण्ठ स्थान से उत्पन्न गोपीचन्दन मुझे प्रसन्न करने वाला है। मेरे भक्त सनकादि महर्षियों ने इसे धारण किया है। विष्णुचन्दन प्रतिदिन मेरे अङ्ग में सुशोभित है और गोपियों के द्वारा प्रक्षालन होने से गोपीचन्दन नाम पड़ा है। मेरे अङ्ग का लेपन पुण्य-चक्र-तीर्थ आदि में स्थित शङ्ख-चक्रसहित पीतवर्ण मुक्ति का साधन है।

मृत्तिका-ग्रहण वही चक्रकौस्तुभ में है। भगवान् श्रीविष्णु के शरीर से सम्यक् उत्पन्न गोपीचन्दन पापों का समूल नाश करने वाला है। हे चक्राङ्कित! आपके लिये नमस्कार हो। आप धारण करने से मुक्ति देने वाले हो।

हे अश्वक्रान्ते! हे रथक्रान्ते! हे विष्णुक्रान्ते! हे वसुन्धरे! मैं अपने सिर

पर आप को धारण करूँगा आप पग-पग में मेरी रक्षा करें। आप गोलोक से आये हैं, गोप-गोपी स्वरूप हो। हे विश्वाधारे! हे विश्वमोक्त्रि! तुम मृत्तिका को मैं धारण करता हूँ।

अथ तिलकस्वरूपं यजुर्वेदे हिरण्यकेशिशाखायाम्। हरेः पादाकृतिमात्मनो हिताय मध्ये छिद्रमूर्ध्वपुण्ड्रं यो धारयति स परस्य प्रियो भवति स पुण्यभाग्भवति स मुक्तिभाग्भवति। अनया हि श्रुत्या स्वरूपं विहितम्। एवं च शाखाप्रत्ययन्यायेन श्रुत्यन्तरे तदेव स्वरुपमिति ज्ञायते। यथोक्तं श्रीमत्सनत्कुमारैर्नारदं प्रति—

नासिकामूलमारभ्य ललाटान्तं समन्वितम्।
साधिकाङ्गुलान्तरालमधिकं तूत्तरोत्तरम्।।
रेखाद्वयविनिर्मितं समृजूहरिमन्दिरम्।
व्रीहिमात्रपृथूपार्श्वौ चतुरङ्गुललम्बकौ।।
सम्मीलितमूलौ सान्द्रशुभमृदाविनिर्मितौ।
पृथगन्ता प्रक्षीणावेकरसौ स्यातामृज।।
नासिकाकेशपर्यन्तदण्डाकारं सुशोभनम्।
मध्यच्छिद्रं समायुक्तं कथ्यते हरिमन्दिरम्।।

पूर्वोक्तमन्त्रैः गोपीचन्दनतुलसीमूलमृत्तिकां वा श्यामवन्दनीयां वा समादाय अष्टादशाक्षरेणाभिमन्त्र्य ललाटदिषु तत्तत्केशवादिमूर्त्तिं ध्यात्वा तत्तन्मन्त्रेण द्वादशपुण्ड्राणि धारयेत्।

ऊर्ध्वपुण्ड्र (तिलक) धारण-विधि—

निम्बार्क सम्प्रदाय का तिलक–स्वरूप यजुर्वेद की हिरण्यकेशि शाखा में प्रतिपादित है। उसे दिखलाते हैं—भगवान् श्रीहरि के युगल चरणकमलों की आकृति (आकार) के समान अपने हित=कल्याण के लिये मध्य में छिद्र (श्यामश्री—बिन्दी) ऊर्ध्वपुण्ड्र जो धारण करता है, वह परमात्मा का प्रिय होता है, वह पुण्यभागी होता है और वह मुक्ति का हिस्सेदार हो जाता है। इस वेदमन्त्र का व्याख्यान करते हैं—इस श्रुति=वेदमन्त्र में स्वरूप बताया गया है। भगवान् श्रीसनत्कुमार ने जैसे श्रीनारद से कहा—नाक के जड़ से लेकर ललाट के अन्त तक एक अङ्गुल से कुछ अधिक यानी सवा अङ्गुल बीच में और आगे-आगे अन्तर विशेष होता जाय, दो रेखा बने हुए समान सीधा श्रीहरि का मन्दिर जानो। दोनों ओर चावल बराबर मोटा चार अङ्गुल लम्बा

जड़ में मिली हुई सुन्दर पवित्र मृत्तिका का बना हुआ अन्त में और बीच में कहीं टूटा न हो। एक रस सीधी हो, नासिका से लेकर केश-पर्यन्त दण्डाकार सुशोभन, मध्य में=दोनों भ्रू के बीच में श्यामश्री की बिन्दी से युक्त श्रीहरि का मन्दिर नाम से कहा जाता है। गोपीचन्दन हो अथवा तुलसी की जड़ की मिट्टी का हो, श्याम वन्दनीय हो, पहले बताये गये मन्त्रों से लेकर अठारह अक्षर के मन्त्र से अभिमन्त्रित करके ललाट आदि में उस—उस केशवादि मूर्त्ति का ध्यान करके उस—उस मन्त्र से बारह (१२) ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करें। तिलक का मन्त्र है—

ललाटे केशवं ध्यायेन्नारायणमथोदरे।
वक्षःस्थले माधवन्तु गोविन्दं कण्ठकूपके।।
विष्णुं च दक्षिणे कुक्षौ बाहौ च मधुसूदनम्।
त्रिविक्रमं कन्धरे तु वामनं वामपार्श्वके।।
श्रीधरं वामवाहौ तु हृषीकेशन्तु कन्धरे।
पृष्ठे तु पद्मनाभञ्च कट्यां दामोदरं न्यसेत्।।
तत्प्रक्षालनतोयन्तु वासुदेवादि मूर्धनि।।

ललाटे ॐ केशवाय नमः, उदरे—ॐनारायणाय नमः वक्षःस्थले ॐ माधवाय नमः, कण्ठे–ॐ गोविन्दाय नमः, दक्षिणकुक्षि में ॐ विष्णवे नमः, दक्षिणवाहु में–ॐ मधुसूदनाय नमः, दक्षिणकन्धरा में ॐ त्रिविक्रमाय नमः, वामपार्श्व में ॐवामनाय नमः, वामवाहु में ॐ श्रीधराय नमः, वामकन्धरा में ॐ हृषीकेशाय नमः, पृष्ठ–ॐपद्मनाभाय नमः कटि में ॐदामोदराय नमः।

इन मन्त्रों से तिलक करके बिन्दी लगानी चाहिये तत्पश्चात् **ॐ वासुदेवाय नमः** कहकर मस्तक के ब्रह्मतालु में गोपीचन्दन की बिन्दी लगाकर हाथ धोकर उस जलयुक्त हाथ को माथे में लगायें।

तिलक श्रीभगवान् का मन्दिरस्वरूप है। इसमें श्रीभगवान् प्रतिष्ठित रहकर हमेशा शरीर की रक्षा करते हैं।

तथोक्तं पद्मपुराणे—

श्रीकृष्णतुलसीमूलमृदमादाय भक्तिमान्।
धारयेदूर्ध्वपुण्ड्राणि हरिस्तत्र प्रसीदति।।

द्वारवत्यां शुभे रम्ये वासुदेवह्रदे तथा।
तत्रोद्भवां मृदां शुभ्रामादाय द्विजसत्तमः।।
धारयेदूर्ध्वपुण्ड्राणि सर्वकामफलाप्तये।

स्कन्दपुराणे—

क्रियाविहीनं यदि मन्त्रहीनं श्रद्धाविहीनं यदि कालवर्जितः।
कृत्वा ललाटे यदि गोपीचन्दनमाप्नोति तत्कर्मफलं सदाव्ययम्।।
मूलमन्त्रेणान्तरालेषु सूक्ष्ममुक्तानिभं समं धारयेत्।

यथोक्तं सनकादिभिः—

कुर्च्चे कञ्जाकारं समं धारयेद्धरिमन्दिरे।
सह मया राधया यः स कृष्णः सम उच्यते।।

श्रीनारदश्चाह—

भ्रुवोर्मुक्ताकारं समं धारयेद्धरिमन्दिरे।

श्रुतिश्च—

समायुक्तं तिलकं मुक्तिसाधनं भवतीति।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—उसी प्रकार पद्मपुराण में कहा गया है—श्रीकृष्णा तुलसी की जड़ की मिट्टी लेकर भक्तिमान पुरुष ऊर्ध्वपुण्ड्रों को धारण करें। उस पर भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते हैं। शुभ सुन्दर रमणीय श्रीद्वारकाधाम में वासुदेव ह्रद में अर्थात् गोपीतालाब में उत्पन्न परम पवित्र मिट्टी लेकर वैष्णवजन सभी कामनाओं के फलों की प्राप्ति के लिये ऊर्ध्वपुण्ड्रों को धारण करें। स्कन्दपुराण में बताया गया है—यदि क्रिया से विहीन, मन्त्र से विहीन, श्रद्धा से विहीन और काल से वर्जित हो, वह भी अगर ललाट में गोपीचन्दन तिलक धारण करता है तो सदा निरतिशय सत्कर्मों के फल को प्राप्त हो जाता है।

मूल मन्त्र से बीच में सूक्ष्म मुक्ता समान धारण करें। जैसा सनकादि कुमारों ने कहा है—कूर्च्च नाम=बीच में कमलाकार बिन्दु मेरे सहित राधासहित जो धारण करता है, वह कृष्णसमान है—ऐसा कहा जाता है। वहीं श्रीनारद जी ने कहा—दोनों भौंहों के बीच श्रीहरिमन्दिर में मुक्ता समान बिन्दु धारण करें। और श्रुति कहती है—समा=श्री राधा से युक्त तिलक मुक्ति का साधन हो जाता है।

वैष्णव लोग सारे संसार को किंवा समस्त भुवन को पवित्र कर देते हैं—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भाग्यवती च धन्या।
स्वर्गे स्थितास्तत्पितरोऽपि धन्याः येषां कुले वैष्णवनामधेयः।।
ये लग्नकण्ठतुलसीनलिनाक्षमालाः ये बाहुमूलपरिचिह्नितशङ्खचक्राः।
ये वा ललाटपटले लसदूर्ध्वपुण्ड्राः ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति।।

जिस कुल का व्यक्ति कदाचित् वैष्णव हो जाता है तो वह कुल ही पवित्र हो जाता है। जन्म देने वाली माता कृतार्थ होती है, उसके स्वर्ग-स्थित पितर भी धन्य-धन्य होते हैं और वसुन्धरा भी सौभाग्य-शालिनी कहलाती है।

जिनके कण्ठ में सतत सुन्दर तुलसी-माला, कमल की माला रहती है, जिनके बाहुमूल-शङ्ख चक्रादि से चिह्नित हैं, जिनके ललाट पर गोपीचन्दन का ऊर्ध्व-पुण्ड्र तिलक है, वे वैष्णव सारे संसार को शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं।

अथ नामोक्तं श्रीसनत्कुमारागमे सनकैर्नारदं प्रति—

सङ्केतयेद्धरेर्नाम सम्प्रदायानुसारतः।
शिष्ये सर्वमङ्गलाय मेधावी जनशङ्करः।।

तथा च श्रुतिः—

अङ्कये शङ्खचक्राभ्यां नाम कुर्याच्च वैष्णवम्।

तथा च स्मृतिः—

घृणालुः किङ्करादिषु भगवन्नाम स्थापयेत्।

तच्च नाम द्विविधं सेव्यसेवकसम्बन्धज्ञापकम् औपचारिकं चेति। तत्राद्यं कृष्णदासादि नाम सम्बन्धज्ञापकम्। औपचारिकं तु श्रीकृष्णचन्द्रादिनाम् अन्ते दासपदरहितत्वात् नामाभासमिदम्। अनेनाप्यजामिलादयो

बहवो भगवत्स्वरूपं प्राप्ताः। दासपदान्ते च श्रीमद्भागवते- दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्। (११/२९/४)

तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते।(९।५।१६)

तावद्रागादयस्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः।।

(१०/१४/३३६)

यावत् ते दासा न भवन्तीत्यर्थः। मन्त्रस्तु सत्सम्प्रदायप्राप्तसद्गुरो-

मुखाच्छ्रोतव्यः। गुरुरपि सुमुहूर्त्ते सर्वतोभद्रे नवकुम्भं निधाय सर्वौषधी पञ्चरत्नं सवस्त्रं कुम्भे स्थापयेत्। ततः श्रीकृष्णपूजां कृत्वा शिष्ये न्यासं कृत्वाऽभिषिच्य मन्त्रं दद्यात्। तत्राप्यशक्तौ मण्डले कृष्णमभ्यर्च्य अष्टवारं शिष्यमभिषिच्योपदिशेत्। दीक्षेत मेदिनीं सर्वां किं पुनश्चोपसन्नतामिति श्रीनारदपञ्चरात्रोक्तेः। प्राणिमात्रेष्वनुग्रहः कर्तव्यः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—अथ नाम सनत्कुमार आगम में सनकादि ने नारद जी के प्रति कहा—बुद्धिमान जन-कल्याण करने वाले सबके मङ्गल के लिये सम्प्रदाय के अनुसार से चेला (शिष्य) का नामसङ्केत करें। श्रुति स्वयं कहती है—शङ्ख-चक्र से अङ्कित करें और वैष्णव नामकरण करें तथा स्मृति कहती है—कृपालु सद्गुरु अपने किङ्कर आदि श्रीभगवन्नाम रखें। जैसे रामदास, कृष्णदास, इत्यादि। और वह नामसङ्केत दो प्रकार के हैं—१.सेव्यभाव और २. सेवकभाव। सम्बन्ध, औपचारिक, उसमें पहला कृष्णदास आदि नाम सम्बन्धज्ञापक है। औपचारिक तो श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीरामचन्द्र इत्यादि नाम अन्त में (नाम के आखिर में) दास शब्द से रहित होने से यह नामाभास है। 'नारायण' इस औपचारिक नाम से भी अजामिल आदि बहुत लोग श्रीभगवान् के स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। दास पद अन्त में ऐसे नाम शास्त्रीय व प्रामाणिक हैं। उद्धवजी कहते हैं—हे अच्युत! अनन्य शरण=शरणागत दास को आप आत्मसात् कर लेते हैं। दुर्वासाजी कहते हैं—जिनके श्रीचरणों में गङ्गा है, ऐसे श्रीहरि के दासों को क्या नहीं मिलते, सब मिलते हैं। ब्रह्माजी कहते हैं—तब तक जिनके रागादि चोर हैं और तब तक यह घर बन्दीघर है, हे कृष्ण! जब तक तुम्हारे दास नहीं होते हैं। मन्त्र तो सत्सम्प्रदाय से प्राप्त हुए सद्गुरु के श्रीमुख से सुनना चाहिये। गुरु भी सब ओर से कल्याण भरे हुए सुन्दर अच्छे मुहूर्त में नया घट धरें और उसमें सारी औषधियाँ पञ्चरत्न, वस्त्र-सहित कुम्भ में स्थापित करें। उसके बाद श्रीकृष्ण की पूजा करके शिष्य में न्यास करके अभिषेक करके मन्त्र दें। उसमें समर्थ न होने पर मण्डल में श्रीकृष्ण-पूजन करके आठ बार शिष्य को अभिषेक करके मन्त्र का उपदेश करें। सारी पृथ्वीमात्र मनुष्य को दीक्षा दे; फिर जो शरणागत प्रपन्न भक्त समीप आये, उनको कहना ही क्या है? यह श्रीनारदपञ्चरात्र का वचन है। प्राणीमात्र में अनुग्रह (कृपा) करना चाहिये।

ननु नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।

पतिसुश्रूषणं यत्तु तेन स्वर्गे महीयते, इत्यादिशास्त्रवाक्यश्रवणाधिकारो नास्ति स्त्रीणामिति चेत्सत्यम्। स तु निषेधो भक्तिहीनायां न तु भक्तिमत्याम्। तथोक्तं नारदपञ्चरात्रे त्रयोदशपटले, स्त्रियं विशेषतो दीक्षेदतिभक्तिसमन्वितामित्यादिना। यागश्च श्रीमद्भागवते—

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि।।

(११/२७/१५)

स च योगोऽष्टधा। तथोक्तं सनकादिभिर्नारदं प्रति—

शैलं दारुमयं लौहं लेप्यं लेख्यं च सैकतम्।
मनोमयं मणिमयं यागं त्वष्टविधं विदुः।।इति।।

केचित् तु हरिगुरुवैष्णवोद्देशेन द्रव्यत्यागो याग इत्याहुः; तच्चिन्त्यम्। समर्पणे श्रीमद्भागवते —

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते।।

(११/११/४१)

आदौ चरणामृतमेव ग्राह्यम्। तथा च गारुडे—

पादोदकं पिबेन्नित्यं नैवेद्यं भक्षयेद्धरेः।
शेषा स्वमस्तके धार्या इति वेदानुशासनम्।

इति वचनाद्भगवन्निवेदितभोज्यभोजनमप्यावश्यकम्।
तथा च श्रीमद्भागवते—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि।।

(११/६/४६)

ननु स्वयमर्पितस्य पुनर्भोजनमयुक्तम्; दत्तापहारदोषप्रसङ्गादिति चेन्न, वाचनिकेऽर्थे युक्तेरप्रयोजकत्वात्। तथाहि पद्मपुराणे अम्बरीषं प्रति गौतमः—

अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम्।
कृत्वा कृष्णोपभोग्यं हि सदा सेव्यं च वैष्णवैः।।

श्रुतिश्च–एक एव नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेमे द्यावापृथिव्यौ। सर्वे पितरः मनुष्या विष्णुनाशितमश्नन्ति विष्णुना घ्रातं जिघ्रन्ति विष्णुना पीतं पिबन्तीत्याद्याः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—उस पर शङ्का यह है कि स्त्रीजनों के लिये पृथक् यज्ञ नहीं, व्रत नहीं व उपवासादि नहीं हैं, पति की सेवा-शुश्रूषा से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वहाँ उनकी पूजा होती है, सब तरह के स्वर्गीय भोग मिलते हैं और वे वहाँ सानन्द विराजती हैं। इत्यादि शास्त्रवाक्य सुनने से यह मालूम होता है कि स्त्रियों को दीक्षा का अधिकार नहीं है। ऐसा जो बताया गया है, वह बिल्कुल सत्य है, वह निषेध तो जो स्त्रियों में श्रीभगवान् में भक्ति नहीं है, भक्तिहीन स्त्रियों के लिए यह निषेध है, भक्तिमती (भक्तिवाली) स्त्रियों के लिये नहीं है। वैसे ही नारदपञ्चरात्र के त्रयोदश पटल में कहा गया है—जो स्त्री भक्तियुक्त हो तो उसे विशेष करके दीक्षा देनी चाहिये।

श्रीमद्भागवत में याग का वर्णन है—प्रसिद्ध द्रव्यों से निष्कपट होकर अर्थात् लोकप्रसिद्ध पदार्थों से प्रतिमा=मूर्ति अर्चाविग्रहों में मेरी पूजा की जाती है, परन्तु जो निष्काम भक्त हैं, वे यथालब्ध=अनायास प्राप्त पदार्थों से और भावनामात्र से ही हृदय में मेरा पूजन करते हैं। वह याग (पूजा) आठ प्रकार का है। वैसे ही सनकादि महर्षियों ने देवर्षि नारदजी के प्रति कहा है—१.पाषाण, २.काष्ठ, ३.लेप, ४.लेख=चित्र, ५.बालू, ६.मनोमय, ७.मणिमय, ८.लौह। ये आठ प्रकार की मूर्तियाँ जानी जाती है।

कई तो कहते हैं कि श्रीहरि, गुरु, वैष्णवों के उदेश से द्रव्य=पदार्थ का त्याग करना, याग है। वह चिन्तनीय है। समर्पण का वर्णन श्रीमद्भागवत शास्त्र में श्रीभगवान् ने स्वयं किया है—संसार में जो वस्तु अपने को सबसे प्रिय, सबसे अभीष्ट जान पड़े, वह मुझे समर्पित कर दें। ऐसा करने से वह वस्तु अनन्त फल देने वाली हो जाती है। पहले चरणामृत ही ग्रहण करना चाहिये। वैसे ही गरुड़पुराण में लिखा है—भगवान् श्रीहरि का चरणोदक नित्य पान करें और नैवेद्य भोजन करें और अवशेष अपने सिर पर धारण करना चाहिये। यह वेद का अनुशासन है। इत्यादि वचनों से श्रीभगवान् को निवेदन

किया गया भोग ही भोग्य=भोज्य है, अवश्य भजनीय है। इसलिये श्रीश्री ठाकुरजी का प्रसाद ही लेना चाहिये। देवगुरु श्रीवृहस्पति के शिष्य महाभागवत श्रीउद्धवजी श्रीभगवान् से कहते हैं—हे भगवन्! हमने आपकी धारण की हुई माला पहनी, आपके लगाये हुए चन्दन लगाये, आपके उतारे हुए कपड़े पहने और आपके धारण किये हुए गहनों से अपने को सजाते रहें। हम आपके उच्छिष्ट पाने वाले भक्त (दास) हैं; अत: वयं तव मायां जयेमहि=जयेम। उत्कृष्टं शिष्टम् इति उच्छिष्टं वयं भोजिन:=इसलिये आपकी माया पर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे।

श्रीश्रीठाकुरजी राधावृन्दावनविहारीजी को भोग लगाकर उच्छिष्टभोजी दास-सेवक-किङ्करजन श्रीभगवान् की माया को जीत लेते हैं, यह सिद्ध हुआ।

उस पर शङ्का यह है कि खुद ही अपनी वस्तु अर्पण की हुई, वस्तु को फिर भोगना ठीक नहीं है, जो ऐसा कहते हैं, वह वचन नहीं के अर्थ में है अर्थात् शब्दप्रमाण में युक्ति व सङ्गति नहीं लगती। उसे विस्तार से दिखलाते हैं—पद्मपुराण में राजा अम्बरीष के प्रति महर्षि गौतमजी ने कहा है। हे अम्बरीष! नवीन वस्त्र, फल, अन्न और रसादि भगवान् श्रीकृष्ण को भोग लगाकर ही सदा वैष्णवजन सेवा करें। श्रुति कहती है कि सृष्टि के पहले एक श्रीमन्नारायण ही रहे, न ब्रह्मा, न स्वर्ग, न पृथ्वी, सब पितर, सब मनुष्य भगवान् श्रीविष्णु का भोजन किया हुआ भोजन करते हैं, उन्हीं का सूंघा हुआ सूंघते हैं और उन्हीं का पीया हुआ पीते हैं।

यहाँ जरा ध्यान देकर देखिये—कृष्णोपभोग्यं हि सदा सेव्यं च वैष्णवै:=जैसे नये कपड़े को भगवान् श्रीकृष्ण को धारण कराकर खुद पहने, वह कृष्णोपभोग वस्तु कहलायेगी। और भी नाना प्रकार के फल, विविध प्रकार के अन्न व्यञ्जनादि श्रीश्रीराधावृन्दावनविहारीजी को भोग लगाकर ही हमेशा वैष्णवों की सेवा करनी चाहिये। यही वैष्णवता है। श्रीभगवान् के सम्मुख रखकर तुलसीदल छोड़कर सदा भोजन करना चाहिये, यह वैष्णव-सिद्धान्त है।

अत्र हि प्रकारत्रयं—निवेदनं, दानं। अपर्णञ्चेति। तत्र दानं नाम स्वीयतात्याग:। परस्वत्वापादानविधि: अर्पणं च

स्वाभिभोज्यस्य स्वामिने ज्ञापनम्। निवेदनं तु स्वोद्देश्यद्रव्यस्य श्रीकृष्णाय ज्ञापनम्। ततश्च तदाज्ञया स्वीकार: स गुण एव 'यज्ञशिष्टाशिन: सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै:'

इत्यादिश्रीगीतोक्तेः।

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्प्यन्ते कल्पिता परे।।

इति श्रीभागवतोक्तेः। एवं च देवतान्तरपूजनं श्रीकृष्णप्रसादेनैव पूर्वोक्तश्रुतेः। विष्णुपादोदकेनैव पितृणां तर्पणं क्रियेतेति स्मृतेः। महाभारते च—

सात्वतं विधिमास्थाय प्राक् सूर्यमुखनिःसृतम्।
पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पिता महान्।। इति।।

व्यतिरेकेणाह हि गौतमः पद्मपुराणे अम्बरीषं प्रति—

अनर्पयित्वा गोविन्दं यो भुंक्ते धर्मवर्जितः।
शुनो विष्टासमं चान्नं नीरं तत्सुरया समम्।।
अनिवेद्यं च यो भुंक्ते हरये परमात्मने।
मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वती समाः।।

इति सर्वमनवद्यम्। भक्तिस्तु गुरोरेव लभ्यते इत्युक्तम्; तथाहि तन्त्रे—

गुरोर्वै लभ्यते भक्तिः सा ज्ञेया प्रेमलक्षणा।
या प्रापयति गोविन्दं वल्लवीवल्लभं विभुम्।।
आह च भगवान् कपिलो भक्तिलक्षणम्।

श्रीमद्भागवते—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।।
अनिमित्ता भागवतीर्भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा।।इति।

(श्रीमद्भा० ३/२५/३२-३३)

अत्रायमर्थः—

सङ्कर्षणेन जातोऽग्निर्वंशान् दहति कृत्स्नशः।
न तु मूलं धराच्छन्नं पुनश्चारोहणं यतः।।
तथैव सावशेषं हि रतिर्लिङ्गं दहेद् दृढा।
न भूम्यन्तर्गतं मूलं यज्जायते पुनः क्वचित्।।

निगीर्णं जठरजीर्णं यथा पुनरुप्यते।
तथैव भक्तिजीर्णं हि लिङ्गं न पुनरुप्यते।।

तथा च सनिमित्ता चापरिछिन्नेन्द्रियवृत्तिः रतिः स्वाभाविकी। अनिमित्त त्वपरिछिन्नेन्द्रवृत्तिर्भक्तिरिति लक्षणां फलितमिति रतिभक्त्योर्विवेकः। उक्तश्चायं क्रमः श्रीकेशवकाश्मीरचरणैः—

आदौ दैन्यं हि सन्तोषः परिचर्या ततः परम्।
ततः कृपा च सत्सङ्गोऽथ सद्धर्मरुचिस्ततः।।
कृष्णे रतिस्ततो भक्तिर्या प्रोक्ता प्रेमलक्षणा।
प्रादुर्भावे भवेदस्याः साधकानामयं क्रमः।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—इस विषय में तीन विधि हैं—१.निवेदन, २.दान और ३. अर्पण। उसमें दान—स्वीयता का परित्याग यानी अपनापन का सब ओर से छोड़ देना है। अर्पण—स्वामी (मालिक) की भोगने की वस्तु, स्वामी को मालूम करा देना है। निवेदन—अपने उद्देश्य द्रव्य=पदार्थ को श्रीकृष्ण के लिये ज्ञापन करना है, फिर उसके बाद उनकी आज्ञा से स्वीकार करना और वह गुण ही है। यज्ञ ही विष्णु है और भगवान् विष्णु का प्रसाद पाने से सन्तजन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं—ऐसा श्रीभगवान् ने गीताशास्त्र में कहा है।

इस प्रकार सारी क्रियायोग जीव के जन्म-मरण के कारण है और वही सब क्रियायोग जो श्रीभगवान् में अर्पण कर दे तो जन्म-मरण को नाश करने योग्य हो जाता है अर्थात् वे सभी क्रियायोग मोक्ष के साधन हो जाते हैं।

और इस प्रकार अन्य देवता का पूजन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसाद से ही होता है। श्रुति में कहा गया है कि भगवान् की विधि में स्थित होकर पहले सूर्य के मुख से निकले देवेश्वर नारायण का उनके शेष से महान् पिता ने पूजन किया।

गौतम ऋषि ने पद्मपुराण में अम्बरीष के प्रति व्यतिरेक से कहा है—विना गोविन्द को अर्पण करके जो खाता है, वह धर्म से वर्जित है। वह अन्न कुत्ता के विष्टा के समान है और जल मदिरातुल्य है। परमात्मा श्रीहरि के बिना

निवेदन किये जो भोग करते हैं उसके पितर बहुत वर्ष-पर्यन्त नरक में डूबे रहते हैं। इस प्रकार सब निर्दोष हैं।

भक्ति तो श्रीगुरु महाराज की ही कृपा से मिलती है—ऐसा कहा गया है। तन्त्रशास्त्र में श्रीगुरु महाराज से जो भक्ति प्राप्त होती है, वह प्रेमलक्षणा भक्ति जाननी चाहिये। जो गोपीजनवल्लभ प्रभु गोविन्द को प्राप्त कराती है।

भक्ति का लक्षण भगवान् श्रीकपिलदेवजी ने कहा है—जिसका चित्त एकमात्र श्रीभगवान् में ही लग गया है, ऐसे मनुष्यों की वेदविहित कर्मों में लगी हुई तथा विषयों का ज्ञान कराने वाली (कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय दोनों प्रकार की) इन्द्रियों की जो सत्त्वमूर्ति भगवान् की अहैतुकी भक्ति है, यह मुक्ति से भी बढ़कर है; क्योंकि जठरानल जिस प्रकार खाये हुए अन्न को पचाता है, उसी प्रकार यह भक्ति महारानी भजन का अप्राकृत शरीर-सम्पादन कर लिङ्ग -शरीर को तत्काल भस्म कर देती है अर्थात् प्राकृत शरीर का नाश हो जाता है। जिससे अनर्थ का उपशम एवं क्लेश, जो अविद्या, स्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश है, इनका समूल नाश होता है।

यहाँ यह अर्थ जैसे बाँसों में परस्पर रगड़ खाने से उत्पन्न हुई अग्नि समग्र बाँसों को जला देती है, पर धरती के भीतर जो जड़ है, उसको नहीं जलाती है, उससे और फिर हरे होते हैं; वे वैसे ही रति लिङ्ग-देह को सावशेष दृढ़ करके जलाती है, पर भूमि के भीतर की जड़ अर्थात् वासनामय को नहीं जला पाती, जिससे पुनः जन्म होता है। नामाभासमात्र से ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं। पर हृदय जो अधर्म से वासित हो रहा है, वह ईश्वर की चरणसेवा से शुद्ध होता है। अजामिल के प्रसङ्ग में नामाभासमात्र से ही उसको श्रीभगवान् की प्राप्ति का कारण हुआ। निमित्त-सहित अपरिच्छिन्न इन्द्रिय की जो वृत्ति उसका नाम रति है। वह स्वाभाविकी रति है। अनिमित्त अपरिच्छिन्न इन्द्रियवृत्ति का नाम भक्ति है; उसका लक्षण-फल-रति-भक्ति के विचार यह क्रम श्रीकेशव-काश्मीरी भट्टजी ने निम्न प्रकार से वर्णित किया है—प्रेमलक्षणा भक्ति का उदय होने पर उपासकों का यह क्रम हुआ करता है कि सर्वप्रथम दासवत् दीनता=दैन्यादि भाव और सन्तोष; उसके बाद परिचर्या, कृपा, सत्सङ्ग असद् धर्मों में अरूचि; श्रीकृष्ण में रति (अनुराग); फिर वही प्रेमलक्षणा भक्ति कही गयी है।

अथ सामान्यतो भक्तिर्द्विविधा। विहिताऽविहिता चेति। तत्राविहिता भक्तिश्चतुर्विधा। कामजा द्वेषजा भयजा स्नेहजा चेति। विहिता भक्तिरपि द्विविधा फलरूपा साधनरूपा चेति। तत्र साधनरूपा द्विविधा ज्ञानाङ्गभूता स्वातन्त्र्यमुक्तिदायिकी चेति। तत्र मुक्तिदायिकी तूक्ता। ज्ञानाङ्गभूता च द्विविधा सगुणा निर्गुणा चेति। तत्र निर्गुणा यथा—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्याप्युदाहृतम्।

(भा०३/२९/११-१२)

इत्यत्र युक्ता। सगुणा भक्तिस्त्रिविधा ज्ञानमिश्रा वैराग्यमिश्रा कर्ममिश्रा चेति। तत्र ज्ञानमिश्रा त्रिविधा उत्तमा मध्यमा कनिष्ठा च। यथोक्तं महर्षिभिः—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः।।
ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः।।
अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः।।

(श्रीमद्भा०११/२/४५-४७)

वैराग्यमिश्रा यथा—

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः।।
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णावग्र्यः।।

(श्रीमद्भा०११/२/५०-५३)

कर्ममिश्रा भक्तिस्त्रिधा सात्विकी राजसी तामसी चेति। तत्र तामसी त्रिविधा तामसकनीयसी तामसमध्यमा तामसोत्तमा चेति। तत्र हिंसार्थतामसकनीयसी। दम्भार्थतामसमध्या। मात्सर्यार्थतामसोत्तमा। यथोक्तं भवति—

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः।।
(भा० ३/२९/८)

राजसी चापि त्रिधा राजसाधमा राजसमध्यमा राजसोत्तमा चेति। सुखार्था राजसाधमा, यशोऽर्थाराजसमध्यमा, ऐश्वर्यार्था राजसोत्तमा। आह च भगवान् कपिलः—

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः।।
(भा० ३/२९/९)

एवं सात्विकी चापि त्रिधा कर्मक्षयार्था सात्विकाधमा श्रीभगवत् प्रीतिप्रयोजना सात्विकमध्यमा। श्रीभगवदाज्ञार्थाध्रुवाभक्तिः सात्विकोत्तमा। यथाह भगवान् कपिलः—

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्विकः।।
(भा० ३/२९/१०)

एवं साधनरूपा भक्तिर्निरूपिता। यद्वाऽयं विभागः भक्तिस्त्रिविधा सात्विकी राजसी तामसी चेति। आसु तिसृषु मिथो गुणमिश्रतया त्रिशो भेदास्तासु च यथोत्तरं श्रैष्ठ्यम्। एवं हि श्रवणादिषु नवशोऽपि नवशो भेदाः। सैवं सगुणा भक्तिरेकाशीतिभेदयुक्ता निर्गुणा तु भक्तिरेकैवेति।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—सामान्य करके भक्ति दो प्रकार की है—विहिता और अविहिता। उसमें अविहिता भक्ति चार प्रकार की है—१.कामजा, २.द्वेषजा, ३.भयजा और ४.स्नेहजा। गोप्यः कामात्=ब्रज की गोपियाँ कामभाव से श्रीभगवान् की भक्ति की, द्वेषाच्चैद्यारयो नृपाः=द्वेष भाव से शिशुपालादि राजाओं ने भक्ति की, भयात्कंसः=कंस ने भय से और पाण्डव लोग स्नेह से श्रीभगवान् में अपने मन को लगाये हैं।

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।

ब्रह्म मां परमं प्रापुः (भा०११/१२/१३) हे उद्धव! कामभाव से चाहने वाली, मेरे स्वरूप को न जानने वाली गोपियाँ मुझ परमब्रह्म को प्राप्त हो

गयी। शिशुपाल, दन्तवक्त्र और पौण्ड्रक प्रभृति ने श्रीभगवान् से द्वेषभाव से भक्ति की, फिर भी वे श्रीभगवद्भाव को प्राप्त हो गये। श्रीभगवान् के समान हो गये। कंस तो उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और चलते-फिरते सब जगह श्रीकृष्ण को ही देखता था—**एकान्त- भक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्।** (भा०७/७/५५) यही भक्ति का स्वरूप है श्रीभगवान् में एकनिष्ठ भक्ति है—सब जगह श्रीभगवान् को ही देखना। विहिता भक्ति भी दो प्रकार की है—फलरूपा और साधनरूपा। उसमें साधनरूपा दो प्रकार की है—ज्ञानाङ्गरूपा स्वातन्त्र्य से मुक्ति को देने वाली है, उसमें मुक्ति देने वाली पहले कह दिये। **कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी।** ज्ञानाङ्गरूपा भक्ति दो प्रकार की है—सगुणा और निर्गुणा। उसमें निर्गुणा भक्ति जैसे श्रीभगवान् कहते हैं—जिस प्रकार गङ्गा का प्रवाह समुद्र की ओर अखण्डरूप से बहता है, उसी प्रकार मेरे सौन्दर्य-माधुर्य कारुण्यादि गुणों के श्रवणमात्र से मन-गति तैलधारा की तरह अविच्छिन्न रूप से मुझ सर्वान्तर्यामी के प्रति हो जाना तथा मुझ श्रीपुरुषोत्तम में निष्काम अनन्य प्रेम होना—यही निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है। सगुण भक्ति तीन प्रकार की है—ज्ञान से मिली हुई, वैराग्य से मिली हुई और कर्म से मिली हुई। उसमें ज्ञानमिश्रा भक्ति तीन प्रकार की है—उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा।

उत्तमा भक्ति—हे राजन्! समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसम्बन्धी कार्यरूप जड़-चेतनों में जो भगवान् की भाव=सत्ता को देखता है और समस्त जड़-चेतनों को सर्वात्मा श्रीकृष्ण में देखता है, वह भागवतों (भक्तों) में उत्तम है।

मध्यमा भक्ति—जो श्रीभगवान् से प्रेम, उनके भक्तों से मित्रता, दुःखी और अज्ञानियों पर कृपा करता है, वह मध्य कोटि का भागवत=भक्त है।

कनिष्ठा भक्ति—जो श्रीभगवान् की अर्चाविग्रह मूर्ति आदि की पूजा तो श्रद्धा से करता है; परन्तु श्रीभगवान् के भक्तों या दूसरे लोगों की सेवा-शुश्रूषा नहीं करता; वह प्राकृत=प्रारम्भिक कनिष्ठ श्रेणी का भक्त है।

वैराग्यमिश्रित भक्ति—जिसके मन में विषयभोग की इच्छा कर्मप्रवृत्ति और उनके बीज वासनाओं का उदय नहीं होता और जो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण पर आधारित है, वह उत्तम भगवद्भक्त है। तीनों लोकों के विभव जिसकी स्मृति कुण्ठित नहीं करते, जिसके अजित श्रीभगवान् देवता हैं,

श्रीभगवान् के चरणकमल से लव निमिष आधे मात्र भी चलायमान नहीं होता, वह वैष्णव अग्रणी है। यह वैराग्य की पराकाष्ठा का वर्णन है। कर्ममिश्रित भक्ति तीन प्रकार की है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। उसमें पहले तामसी बतलाते हैं। वह तीन प्रकार की तामसकनिष्ठ, तामसध्यम और तामस उत्तम होती है। हिंसा के लिये वह तामसकनिष्ठ, दम्भ नाम पाखण्ड से करें तामसमध्यम, मात्सर्य नाम ईर्ष्या से करें, वह तामस उत्तम है। इन सारी बातों का व्याख्यान भगवान् श्रीकपिलदेवजी ने किया है—दूसरों की हिंसा के उद्देश्य से जो भक्ति होती है, वह तो तामस कनीयसी कहलाती है। दम्भ के भाव से जो भक्ति की जाती है, उसे तामसमध्यमा तथा जो मात्सर्य के उद्देश्य से की जाती है, उसे तामसोत्तमा भक्ति कहते हैं।

जो भेददर्शी क्रोधी पुरुष हृदय में हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्य भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है, वह मेरा तामस भक्त है। जो शत्रुओं की हिंसा के उद्देश्य से मेरी भक्ति करता है, वह राजसी होता है एवं जो मात्सर्य (दूसरे की उन्नति को न सहन करना) से लोक में असाधारण बुद्धि की निवृत्ति के लिये मेरी भक्ति करता है, वह सात्त्विक तामसी होता है। क्रोधी व्यक्ति अपने को ब्रह्म से भिन्न समझता है।

राजसी भक्ति भी तीन प्रकार की होती है—१.राजसाधमा २.राजसमध्यमा तथा ३.राजसोत्तमा। सुख के लिये की जाने वाली भक्ति राजसाधमा होती है। यश के लिये की जाने वाली भक्ति को राजसमध्यमा भक्ति कहते हैं।

जो पुरुष विषय, यश और ऐश्वर्य की कामना से प्रतिमादि में मेरा पूजन भेदभाव से करते हैं, वे राजस भक्त होते हैं। इसी प्रकार से सात्त्विकी भक्ति भी तीन प्रकार की होती है—कर्मक्षय के लिये की जाने वाली भक्ति सात्त्विकाधमा होती है। श्रीभगवान् की प्रीति के प्रयोजन से की जाने वाली भक्ति सात्त्विक मध्यमा तथा श्रीभगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिये जो भी भक्ति की जाती है, वह सात्त्विकोत्तमा भक्ति है।

यद्वा=अथवा ऐसा विभाग करना चाहिये, भक्ति तीन प्रकार की होती है—१.सात्त्विकी २.राजसी एवं ३.तामसी। इन तीनों में परस्पर गुण मिले हुए हैं, उसमें एक-एक में तीन-तीन भेद हैं और उनमें उत्तरोत्तर-पिछले-पिछले श्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार श्रवणादि के विषय नव (नौ) प्रकार की भक्ति अर्थात् राजस में तीन, तामस में तीन, सात्विक में तीन—इन नव के एक-एक में नव-नव श्रवणादि के भेद हैं। उसमें कर्ममिश्रा सगुणा भक्ति इक्यासी प्रकार की हुई। निर्गुणा भक्ति तो एक ही है—मदगुणश्रुतिमात्रेण............।

अथ फलरूपा भक्तिः

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः।।[1]
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।।
स एव भक्तियोगाय आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते।।[2]
न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः।।[3]
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्म्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे।।[4]
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्।।
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्।।[5]
राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां दैवं प्रियं कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भोक्तयोगम्।।[6]

इत्यादौ प्रेमलक्षणा भक्तिः फलरूपासु दुर्लभेति निरूपिता।

---

१. श्रीमद्भागवत १/७/१०। २. वही ३/२९/१३-१४। ३. वही, १०/१७/३७। ४. वही ६/११/२५। ५. वही ११/२०/३३-३५। ६. वही, ५/६/१८ ।

पुराणप्रवक्ता सूतजी कहते हैं—जो लोग आत्माराम=आत्म-परमात्मा तथा अनात्म-विषयक ज्ञानवान् हैं, जिनका अज्ञानरूप अन्धकार दूर हो गया है और जो सदा चिन्दानन्द परमात्मा में ही रमण करने वाले हैं, वे भी श्रीभगवान् की अहैतुकी=प्रेमलक्षणा भक्ति किया करते हैं; क्योंकि श्रीभगवान् के गुण ही ऐसे मधुर हैं, सबको अपनी ओर खींच लेते हैं। फिर परम वैष्णव श्रीशुकदेवजी महाराज तो श्रीभगवान् के भक्तों को अत्यन्त प्रिय और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन के पुत्र हैं। श्रीभगवान् के गुणों ने उनके हृदय को अपनी ओर खींच लिया और उन्होंने उससे विवश होकर ही इस विशाल श्रीमद्भागवत सद्ग्रन्थरत्न का अध्ययन किया।

भगवान् श्रीकपिलदेवजी, माता देवहूतिजी से कहते हैं—ऐसे निष्काम भक्त, दिये जाने पर भी, मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, एकत्व—सायुज्य मोक्ष तक नहीं लेते।

श्रीभगवत्सेवा व प्रेमलक्षणा भक्ति के लिये मुक्ति का तिरस्कार करने वाला यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है।

इसके द्वारा दैन्यादि गुणयुक्त शरणागत पुरुष तीनों गुणों को लाँघ कर मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है।

नागपत्नियों ने कहा—हे भगवन्! जो आपके चरणों की धूलि की शरण ले लेते हैं, वे शरणागत भक्त स्वर्ग का राज्य या पृथिवी की बादशाही नहीं चाहते हैं। न वे रसातल का ही राज्य चाहते हैं और न तो ब्रह्मा का पद ही लेना चाहते हैं। उन्हें अणिमादि योग-सिद्धियों की भी चाह नहीं होती। यहाँ तक कि वे जन्म-मृत्यु से छुड़ाने वाले कैवल्य मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते हैं।

वृत्रासुर ने कहा—हे समञ्जस! सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डल का साम्राज्य, रसातल का एकछत्र राज्य, योग की सिद्धियाँ—यहाँ तक कि मोक्ष भी नहीं चाहता।

श्रीभगवान् उद्धवजी से कहते हैं—वह सब मेरा भक्त मेरे भक्तियोग के प्रभाव से, यदि चाहे तो अनायास प्राप्त कर लेता है। मेरे शरणागत दैन्यादि गुणयुक्त एवं धैर्यवान् साधु भक्त स्वयं तो कुछ चाहते ही नहीं, यदि मैं उन्हें देना चाहता हूँ और देता भी हूँ तो भी दूसरी वस्तुओं की बात ही क्या, वे कैवल्यमोक्ष भी नहीं लेना चाहते हैं।

श्रीमद्भागवत-प्रवक्ता श्रीशुकदेवजी महाराज, राजा परीक्षित से कहते हैं—हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पाण्डव लोगों के और यदुवंशियों के

रक्षक, गुरु, इष्टदेव, सुहृद् और कुलपति थे; यहाँ तक कि वे कभी-कभी आज्ञाकारी सेवक भी बन जाते थे। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण दूसरे भक्तों के भी अनेकों कार्य कर सकते हैं और उन्हें मुक्ति भी दे देते हैं, परन्तु मुक्ति से भी बढ़कर जो भक्तियोग है, उसे सहज में नहीं देते हैं। इत्यादि फलरूपाओं में प्रेमलक्षणा भक्ति दुर्लभ है।

अथ श्रीभगवद्भक्तिमहिमा

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्।।[१]
त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।।[२]
अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्।।[३]
पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽच्युत ते गतिं पराम्।।[४]
सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्था क्षेमोऽकुतो भयः।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः।।[५]
पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्।।[६]
नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्।।[७]
न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता।
भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्।।[८]
वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।।

१. श्रीमद्भागवत १/५/१२। २. वही १/५/१७। ३. वही, १०/१४/२९। ४. वही १०/१४/५। ५. वही। ६. वही, ३/५/४५। ७. वही, ७/७/५१-५२। ८. वही ११/१२/९, ११/१४/२१।

यथाग्निना हेम मलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्।।[१]
नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह।।[२]
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।।[३]
न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्।।[४]
भवान् भक्तिमता लभ्यः दुर्लभः सर्वदेहिनाम्।।[५]
यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रंथंयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।।[६]

देवर्षि नारदजी भगवान् बादरायण से कहते हैं—व्यासजी! वह निरञ्जन, निर्दोष, निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् साधन है, यदि भगवान् अच्युत श्रीश्रीराधाकृष्णरूप परब्रह्म परमात्मा की भक्ति से रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती; फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओं में सदा ही अभद्र=अमङ्गलरूप ही है, वह काम्य कर्म=इच्छाविषयीभूत और जो श्रीभगवान् को अर्पण नहीं किया है, ऐसा अहैतुक=निष्कर्म कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकता है?

जो मनुष्य अपने धर्म का परित्याग करके श्रीभगवान् के चरणकमलों का भजन करते हैं, भजन परिपक्व हो जाने पर तो बात ही क्या है, यदि इससे पूर्व ही उनका भजन छूट जाय तो क्या कहीं भी उनका कोई अमङ्गल हो सकता है? परन्तु जो श्रीभगवान् का भजन नहीं करते हैं और केवल अपने धर्म का पालन करते हैं, उन्हें कौन-सा लाभ मिलता है?

ब्रह्माजी कहते हैं—अपने भक्तजनों के हृदय में स्वयं स्फुरित होने वाले हे देव! आपके ज्ञान का स्वरूप या भक्ति का स्वरूप और महिमा ऐसी ही है, उससे जीव-जगत् का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। फिर भी जो व्यक्ति आपके

---

१. श्रीमद्भागवत् ११/१४/२४/२५। २. वही १०/९/२१। ३. वही, २/३/१०। ४. वही २/२/३३। ५. वही ४/२४/५४। ६. वही ४/२२/२९।

युगल श्रीचरणकमलों का तनिक-सा भी कृपा-प्रसाद प्राप्त कर लेता है, उससे अनुगृहीत हो जाता है; वही आपकी सच्चिदानन्दमयी महिमा का तत्त्व जान सकता है। दूसरा कोई भी ज्ञान-वैराग्यादि साधनरूप अपने प्रयत्न से बहुत काल-पर्यन्त कितना भी अनुसन्धान करता रहे, वह आपकी महिमा का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है।

हे भूमन्=सर्वव्यापिन्! हे अच्युत! इस लोक में पहले भी बहुत-से योगी हो गये हैं। जब उन्हें योगादि के द्वारा आपकी प्राप्ति नहीं हुई, तब उन्होंने अपने लौकिक और वैदिक समस्त कर्म आपके श्रीचरणकमलों में समर्पित कर दिये। उन समर्पित कर्मों से तथा आपकी लीलाकथा से उन्हें आपकी भक्ति प्राप्त हुई। उस भक्ति से ही आपके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने बड़ी सुगमता से आपकी परागति (परमधाम) की प्राप्ति कर ली।

यह कल्याणस्वरूप समीचीनतम भक्तिपथ है, इस मार्ग में किसी प्रकार का भय नहीं है; जो सर्वथा निर्भय है। जिसमें श्रीभगवान् के प्रेमी भक्त सुशील साधु रहते हैं।

देवताओं ने कहा—हे देव! आपके कथामृत का पान करने से उमड़ी हुई भक्ति के कारण जिनका अन्तःकरण (चित्त) निर्मल हो गया है, वे भक्तजन वैराग्य ही जिसका सार है, ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त करके अनायास ही आपके वैकुण्ठधाम को चले जाते हैं!

भक्त श्रीप्रह्लादजी असुर बालकों से कहते हैं—दैत्यबालकों! श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के लिये ब्राह्मण, देवता, ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानों से सम्पन्न होना तथा दान, तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतों का अनुष्ठान पर्याप्त नहीं है। भगवान् श्रीहरि केवल निष्काम प्रेमलक्षणा भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं; और सब तो विडम्बनामात्र हैं।

श्रीभगवान् उद्धवजी से कहते हैं—प्रिय उद्धव! सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वश में कर लेता है, वैसा साधन न योग है, न साङ्ख्य, न धर्म-पालन और न स्वाध्याय, न त्याग ही मुझे प्राप्त करने में उतने समर्थ हैं, जितनी दिनों-दिन बढ़ने वाली मेरी प्रेमलक्षणा भक्ति। मैं सन्तों का प्रियतम आत्मा हूँ, मैं अनन्य भक्ति से ही पकड़ में आता हूँ। मुझे प्राप्त करने का यह एक ही उपाय है। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगों को भी पवित्र जातिदोष से मुक्त कर देती है, जो जन्म से ही चाण्डाल हैं।

जिसकी वाणी प्रेम से गद्‌गद हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है, एक क्षण के लिये भी रोने का ताँता नहीं टूटता, परन्तु जो कभी-कभी खिलखिलाकर हँसने भी लगता है। कहीं लाज छोड़कर ऊँचे स्वर से गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है, हे प्रिय उद्धव! मेरा वह भक्त न केवल अपने को; बल्कि सारे संसार को पवित्र कर देता है। जिस प्रकार अग्नि में तपाने पर सुवर्ण मैल छोड़ देता है, निखर जाता है, अपने असली शुद्ध रूप में स्थित हो जाता है, उसी प्रकार मेरे भक्त भक्तियोग के द्वारा आत्मा कर्म वासनाओं से मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त हो जाते हैं।

यह गोपिकानन्दन भगवान् अनन्य प्रेमी भक्तों के लिये जितने सुलभ हैं, उतने देहाभिमानी कर्मकाण्डी एवं अपने स्वरूपभूत ज्ञानियों के लिये सुलभ नहीं हैं। जो बुद्धिमान पुरुष हैं, वह चाहे निष्काम हों, समस्त कामनाओं से युक्त हों अथवा मोक्ष चाहते हों—उसे तो तीव्र भक्तियोग के द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान् अच्युत की उपासना करनी चाहिये। इस संसार के चक्र में पड़े हुए मनुष्य के लिये, जिस साधन के द्वारा उसे भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्य प्रेममयी प्रेमलक्षणा पराभक्ति प्राप्त हो जाय, उसके अतिरिक्त और कोई भी कल्याणकारी मार्ग नहीं है।

भगवान् श्रीसनत्कुमार ने राजा पृथु को उपदेश दिया कि हे राजन्! श्रीभगवान् का भजन (भक्ति) करना चाहिये—दैन्यादि गुणयुक्त (शरणागत) सन्त जिन भगवान् श्रीहरि के चरणकमलों की अङ्गुलिदल की छिटकती हुई छटा का स्मरण करके कर्मकोशरूपी हृदयग्रन्थी का नाश कर डालते हैं, समस्त इन्द्रियों को वश में करने वाले संन्यासी भी वैसा नहीं कर पाते; चूँकि वे भक्तिधन से शून्य हैं। इसलिये हे राजन्! तुम उन सर्वात्मा सर्वाश्रय सर्वाधार सर्वनियन्ता परमात्मा वासुदेव का भजन करो।

श्रीमद्भगवद्गीतासु—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन च परन्तप।।

(गीता ८/१२, ११/४८, ५२-५४)

भजनं भक्तिः=हरिभजन ही भक्ति है और श्रद्धावान् व्यक्ति ही हरिभक्ति करते हैं। श्रीगीताजी में कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।

(४/३८, ६/४७)

हे पार्थ! वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से लक्ष्य है। हे कुरुप्रवीर! मनुष्य-लोक में न ऋग्वेदादि चारों वेदों के अर्थसहित अध्ययन करने, बड़े-बड़े अग्निष्टोमादि यज्ञों के अध्ययन करने, न गौ, भूमि, सुवर्णादि के दान, न बड़े-बड़े श्रौत-स्मार्त कर्मों के अनुष्ठानों और न कठोर तपस्याओं से इस विराट् स्वरूपवाला मैं तेरे सिवाय किसी अन्य के द्वारा देखने के लिये शक्य हो सकता हूँ अर्थात् तुमने ही मेरा ऐसा रूप देखा है और किसी ने नहीं देखा। हे अर्जुन! मैं सर्वज्ञ परमात्मा न केवल वेदों के अध्ययनमात्र से, न ही पञ्चाग्नि-ताप अथवा शीत-ऋतु में जलवासादि तपस्याओं से, न हीं भूदान-कन्यान्नदानादि से और न ही श्रौत-स्मार्त यज्ञाद्यनुष्ठानों से इस प्रकार विराट् रूप में देखने के लिये योग्य हूँ अर्थात् मैं केवल यज्ञ, तप आदि से ऐसा नहीं देखा जा सकता, जिस प्रकार विराट् स्वरूप वाला मुझको तुमने देखा है। हे परन्तप! फलानुसन्धानशून्य निष्काम सेवा तथा प्रेमलक्षणा परा-भक्ति से श्रुत, दृष्ट, स्पृष्ट, भवन, विज्ञान—यह सब कुछ ब्रह्मात्मक ही है, इस प्रकार सर्वविज्ञान यथार्थ जानने से ऐसे विराट् रूपवाला मैं देखने के लिये योग्य हूँ, यानी देखा जा सकता हूँ। यथार्थ स्वरूप से यही परमार्थ वस्तु है; इस बात को जानने के लिये अर्थात् निश्चय करने के लिये ब्रह्म-भूमासर्वत्र व्यापक है। ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, ब्रह्म से सब अभिन्न हैं, मैं ब्रह्म का अंश हूँ—इस बात को देखने के लिये जीव-जगत् को सत्य जानकर मुझमें प्रवेश करने के लिये योग्य हूँ। गुरु के वचनों में और वेदशास्त्र में सत्य बुद्धि और दृढ़

विश्वास रखने वाला, गुरु की सेवा द्वारा अहर्निश ज्ञानप्राप्ति में तत्पर तथा इन्द्रियों को विषयों से रोकने वाला मुमुक्षु ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान को पाकर वह बहुत शीघ्र परा शान्ति=मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। हे अर्जुन! जो ब्रह्मज्ञ योगी गुरु और वेदशास्त्रवचनों में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखते हुए मुझ परमात्मा के ध्याम में लीन होकर एकाग्र मन से मेरा भजन (भक्ति) करता है, सभी योगियों से भी मेरा वह भक्त अत्यन्त श्रेष्ठ है—ऐसा माना गया है।

एवम्भूतश्रीभगवद्भक्तिप्राप्तये श्रीमद्भागवतभक्तैः श्रोतव्यं च सदादरात्। तदुक्तम्—

एवं भागवतं श्रुत्वा कृष्णभक्तिविभेदकृत्।
ततः प्रमुदितैर्भक्तैस्तालवीणादिभूषितैः।।
कारयेद्गीतनृत्यादि कुर्यादानन्दयन्स्वयम् ।
आदावन्ते कथायान्तु कीर्तयेत्तु सदा हरिः।।
संस्कृतैर्भाषाबद्धैश्च पद्यै रम्यै रसायनैः।

आह च भगवान्नारदः—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्।।

(श्रीमद्भा० १/५/२२)

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—इस प्रकार की भगवान् की भक्तिप्राप्ति के लिये भक्तजनों को भागवतरसिकों के सङ्ग श्रीमद्भागवत महापुराण को आदरपूर्वक सुनना चाहिये। अतः कहा गया है, इस प्रकार श्रीमद्भागवत सुनकर कृष्णभक्ति का विशेष भेद करने वाला उससे हर्षपूर्वक ताल व वर्गादि से विभूषित भक्तजन गीत-नृत्यादि स्वयं करें और करायें। सबको आनन्दित करते हुए भावविभोर होकर लोक-लज्जा से रहित होकर करना-करवाना चाहिये। कथा से पहले और पीछे सदा श्रीहरि का कीर्तन करें, सुन्दर रसायन संस्कृत=देववाणी से बद्ध पद्यों=श्लोकों से सुस्वर पाठ करें। श्रीनारद भगवान् कहते हैं—विद्वानों ने इस बात का निरूपण किया है कि अविच्युत=अस्खलित अर्थ यही मुख्य फल है, श्रीभगवान् के दिव्य जन्म-कर्मविषयक ज्ञान ही मनुष्यों की तपस्या है। वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान और दान का एकमात्र प्रयोजन

यही है कि पुण्यकीर्त्ति श्रीकृष्ण के गुण और लीलाओं का वर्णन किया जाय।

अथ भक्तेः पञ्चरसाः।

शान्तं दास्यं च वात्सल्यं सख्यमुज्ज्वलमेव च।
अमी पञ्चरसा मुख्या ये प्रोक्ता रसवेदिभिः।।

विभावानुभावसात्त्विकसञ्चारिभिः स्थायीभावाख्यभक्तिरसो भवति। यद्विषयको भावः सविषयालम्बनविभावः। यथा—श्रीकृष्णः। यो भावस्याधिकरणं स आश्रयालम्बनविभावो यथा—श्रीकृष्णभक्तः। ये स्मारका भूषणालङ्कारादयस्ते उद्दीपनविभावाः।ये भावज्ञापका गीतनृत्याद-यस्तेऽनुभावाः। ये चित्तादिक्षोभकास्ते सात्त्विकाः। ते चाष्टौ स्वेदरोमाञ्च-वेपथुसुरभङ्गवैवर्ण्यास्रुपुलकारतिनिर्वेदहर्षगर्वमदवितर्कमोहादयो व्यभिचारिणः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—अब भक्ति के पाँच रस का वर्णन करते हैं—१.शान्त, २.दास्य, ३.वात्सल्य, ४.सख्य और ५.उज्ज्वल—ये पाँच रस को जानने वाले बताते हैं। विभाव-अनुभाव-सात्त्विक-संचारि और स्थायीभाव भक्तिरस हैं। जिसमें भाव किया जाय वह विषय आलम्बन विभाव कहा जाता है जैसे कृष्णभक्त। जो भूषण-अलङ्कार आदि श्रीहरि का स्मरण कराते हैं, वे उद्दीपन विभाव हैं। जो भाव प्रकट करने गीत-नृत्यादि हैं ,वे अनुभाव हैं। जो चित्त आदि को क्षोभ कराने वाले हैं, वे सात्त्विक हैं और वे आठ हैं—१.स्तम्भ २.स्वेद, ३. रोमाञ्च, ४.वेपथु, ५.सुरभङ्ग, ६.वैवर्ण्य, ७.आँसू, ८.रति। निर्वेद, हर्ष, गर्व, मद, वितर्क, मोहादि व्यभिचारी हैं।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर या कान्त—इन पाँचों में से किसी एक भाव से प्रेमयुक्त होकर श्रीभगवान् की उपासना को रागात्मिका उपासना कही जाती है। अनुरागात्मिका उपासना में श्रीभगवान् के साथ अपना कोई एक सम्बन्ध-स्थापन ही मूल है। उपासक का अधिकार और चित्तवृत्ति के अनुसार इन पाँचों भावों में से किसी एक भाव का अवलम्बन करके उपासना की जा सकती है। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में इन पाँचों भावों की संक्षेप में आलोचना की जाती है।

१.श्रीभगवान् सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हैं; उनसे ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय होती है; वे ही सर्वकारण हैं—इत्यादि रूप से

श्रीभगवान् की महिमा की यथार्थ रूप से धारणा होने से उनके प्रति स्वभावत: भक्ति और अनुराग होता है, तब उनमें स्वत: ही परम निर्भरता आती है और आत्मसमर्पण होता है। उस अवस्था में उपासक का मन सर्वावस्था में परम निश्चिन्त और प्रशान्त हो जाता है। यह प्रशान्त भाव ही **'शान्तरस'** है। जो उपासक इस शान्तरस में प्रतिष्ठित होते हैं, उनका मन मान-अपमान, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धि, स्तुति-निन्दा, सुख-दु:ख, क्षुधा-तृष्णा, शीत-ग्रीष्म, रोग-शोक आदि किसी से भी विक्षुब्ध और अशान्त नहीं होता है; अपितु सर्वावस्था में उनका मन प्रशान्त रहता है। मन की इस प्रकार शान्त अवस्था में श्रीभगवद्भक्ति गाढ़ी होती है, अन्यथा चञ्चल अशान्त मन में श्रीभगवद्भक्ति स्थिर नहीं रहती है। वस्तुत: श्रीभगवान् की महिमा का ज्ञान होने से उनमें अचला भक्ति होती है, इसी को ही ज्ञानमिश्रा भक्ति कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञानी भक्त को ही श्रीभगवान् ने गीताशास्त्र में श्रेष्ठ कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् (गीता ७/१७-१८)। हे अर्जुन! मेरे चार प्रकार के भक्तों में से ज्ञानी भक्त ही नित्य-युक्त एकनिष्ठ भक्तिमान है। यह ज्ञानी-भक्त ही श्रेष्ठ है, ज्ञानी मेरी आत्मा ही हैं, यह मेरा मत है। वास्तविक जो ज्ञानलाभ करके ब्रह्मभूत, प्रसन्नात्मा और सर्वत्र समदर्शी हुए हैं, ऐसे ज्ञानी भक्त ही श्रीभगवान् में पराभक्ति-लाभ करते हैं, यह श्रीभगवान् ने स्वयं ही गीताशास्त्र में कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।
(१८/५४)

उपनिषद् के ऋषिगण इस शान्तरस के उपासक थे। श्रीनिम्बार्काचार्योपदिष्ट उपासना में शान्त रस की उपासना ने एक प्रधान स्थान को अधिकार में कर रखा है।

देवर्षि श्रीनारदजी के शिष्यों में भक्त प्रह्लाद इस शान्त रस के उपासक थे। यथा—**'कृष्णग्रहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्'** (भा०७/४/३७) भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रहरूप ग्रह ने प्रह्लाद के हृदय (मन) को इस प्रकार खींच लिया था कि उन्हें जगत् का कुछ ख्याल नहीं रहता था। चूँकि प्रह्लाद

समदर्शी, एकनिष्ठ, श्रद्धावान, भक्तिमान थे।

२. ऋग्वेद के सप्तम मण्डल ८९ सूक्त के सातवें मन्त्र में दास्यभाव के उपासक का वर्णन है—'अरे दासो न मीढुषे' भाव यह है कि श्रीभगवान् मेरे प्रभु और मैं उनका सेवक-दासमात्र हूँ। पाँचों भावों में से दास्यभाव ही सर्वसाधारण के लिये सहज और स्वाभाविक भाव है। जो दास होते हैं, वे सर्वावस्था में सम्पूर्ण रूप से प्रभु के अधीन होते हैं, उनका किसी प्रकार का स्वातन्त्र्य नहीं रहता है। यथार्थ दास प्रभु के अङ्गस्वरूप हो जाते हैं, उनकी स्वतन्त्र इच्छा और आत्मप्रीति नहीं रहती है, प्रभु की इच्छा ही उनकी इच्छा, प्रभु की प्रीति-सम्पादन ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है, यथार्थ दास प्रभु श्रीभगवान् की सेवा के उपकरण और यन्त्रस्वरूप हो जाते हैं।

हनुमानजी, गरुड़जी इत्यादि दास्यभाव के उपासक हैं। सख्य, वात्सल्य और मधुरभाव में भी श्रीभगवान् की सेवा और प्रीति-सम्पादन करना होता है, अतः दास्यभाव ही सख्य, वात्सल्य और मधुरभाव का मूल है। आत्मप्रीति का त्याग करके प्रभु की प्रीति-सम्पादन को ही जीवन का लक्ष्य करके यथार्थ दास न होने से सख्य आदि भाव भी नहीं आते हैं। वेदान्तिक विचार से देखा जाय तो जीव श्रीभगवान् का नित्य दास है, क्योंकि जीव भगवान् (ब्रह्म) का अंश है, अंश जीव की ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं है और कुछ भी स्वातन्त्र्य नहीं; अपितु ब्रह्म के सम्पूर्ण अधीन है, अतः दास्यभाव शान्तभाव का भी मूल है। हम पहले कह चुके हैं कि यथार्थ दास प्रभु के अङ्गस्वरूप हो जाते हैं।

३.सख्यभाव का जो उपासक है, वह श्रीभगवान् की अपने सखा और परम सुहृत् के रूप से भावना करता है। उसका यह भाव स्वाभाविक होता है। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के महापुरुष श्रीचतुरचिन्तामणि देवाचार्य नागाजी महाराज सख्यभाव के साधक थे।

४. वात्सल्यभाव का उपासक श्रीभगवान् की अपने पुत्ररूप से भावना करते हैं और पुत्र की भाँति स्नान, भोजनादि कराकर सेवा करते हैं। वे श्रीभगवान् की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञतादि की चिन्ता बिल्कुल नहीं करते हैं। वे श्रीभगवान् को सदा ही नन्द-यशोदा के समान पुत्रभाव से देखते हैं।

५. भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने दशश्लोकी में सखीसहस्रपरिवृत श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण की प्रेमलक्षणा भक्ति से उपासना का उपदेश किया है। इस

प्रेमविशेषलक्षणा भक्ति के अन्तर्गत मधुरभाव से उपासना है। यह माधुर्योपासना विभिन्न रूप से की जाती है। स्वामी, दयित, प्रिय या कान्त- भाव से श्रीभगवान् के साथ-सम्बन्ध स्थापन करके प्रेम से उनकी सेवा-पूजा को भी अनुरागात्मिका पूजा कहा जाता है। इस मधुरभाव से यह सेवा-पूजा दासी या सहचरीभाव से करनी होती है। सर्वप्रकार से पुरुषाभिमान और देहाभिमान-रहित होने से ही प्रेमी साधक दासी-भाव से या सहचरी-भाव से श्रीश्रीराधाकृष्ण की सेवा के अधिकारी हो सकते हैं। इस मधुरभाव की सेवा करने वाले प्रेमीभक्त भगवान् श्रीश्रीराधाकृष्ण की 'अष्टयाम' या अष्टकालीन लीलाओं का ध्यान, चिन्तन, कीर्तन और सेवा-पूजा में सदा तन्मय रहते हैं। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्रीश्रीभट्टजी ने अपने 'युगलशतक' ग्रन्थ में और प्रस्तुत ग्रन्थकार श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने अपने 'महावाणी' ग्रन्थ में श्रीश्रीराधाकृष्ण की अष्टकालीन लीला का वर्णन किया है। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विरक्त सन्त श्रीरूपरसिकजी, सङ्गीत सम्राट् श्रीहरिदासजी आदि बहुत से आचार्यों ने भी उनके रचित 'केलिमाल' आदि ग्रन्थों में श्रीश्रीराधाकृष्ण की लीला और मधुरभाव से उपासना का वर्णन किया है। जो इस प्रकार सखीभाव से उपासना न करके श्रीश्रीराधाकृष्ण को अपनी आत्मा; अतः परमप्रिय जानकर परमप्रेम से (प्रेमलक्षणा-भक्ति से) आराधना करते हैं, वे भी मधुरभाव के उपासक हैं। वस्तुतः अनुराग-पथ का प्रेमिक भक्त साधक श्रीभगवान् में आत्मसमर्पणपूर्वक उनका मन्त्र-जप, नाम-कीर्तन ध्यान और सेवा-पूजा में तन्मय होकर मिथ्या, क्रोध, हिंसा, परनिन्दा, परचर्या इत्यादि का त्याग करके, केवल मात्र शरीररक्षा का श्रीभगवत्प्रसाद किञ्चित् मात्र ग्रहण करके, सर्वजीव में दया और प्रीति का भाव रखकर, सर्वप्रकार से कठोरभाव को त्याग कर, मधुरभावयुक्त होकर काय, मन और वाक्य से श्रीभगवान् की सेवा में नियुक्त रहना और उनकी लीला और नित्यविहार की ध्यानरूप सेवा में रत रहना ही मधुरभाव की उपासना का स्वरूप है। इस प्रकार सेवा में श्रीभगवान् का आनन्द और प्रसन्नता ही भक्तों का एकमात्र लक्ष्य रहता है। इस नित्य विहार के चार अङ्ग हैं—१.परात्परतत्त्व परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण, २. उनकी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा ३.जीवात्मसमूरूप सहचरीवर्ग और ४.नित्य वृंदावनधाम। इस सहचरीभाव की उपासना में स्वसुखित्व और तत्सुखित्व एक हो जाते हैं।

प्रेमी भक्त प्रेमास्पद श्रीभगवान् को सर्वस्व अर्पण करते हैं। यही प्रेम का

नियम है। इस प्रकार के प्रेमी अनुरागी भक्तों के लिये विधि-निषेधात्मक शास्त्रों की आवश्यकता नहीं रहती है; क्योंकि विधि-निषेध प्रेम का बाधक होता है। इसलिये निम्बार्कीय श्रीध्रुवदासजी ने लिखा है—

सेवा हू ते दूर कियो विधिनिषेध जंजार।

(भक्तनामावली)

श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने भी लिखा है—

विधि-निषेध के जो धर्म तिनको त्यागि रहे निष्कर्म। (महावाणी)

१. स्तम्भ=असभ्य कंस के समाज से उत्पन्न हुए उस भययुक्त वाणी को सुनकर देवकी-वसुदेव बड़े भय से दोनों जड़ हो गये। ब्रह्माजी आश्चर्य से **स्तम्भि** हो गये—ब्रह्माजी की अति कौतुक से ग्यारह इन्द्रियों में चकाचौंधी हो गई। वह परब्रह्मरूप बालक, बछड़े में आ गये। उनके तेज से ऐसे चुप-चाप खड़े हो गये, जैसे गाँव की अधिष्ठात् देवी के निकट सोने के पुत्र आकर खड़े हो गये हों। स्वेद=पसीना, हर्ष, भय, क्रोध आदि से शरीर पसीना में भीग जाय, उसे स्वेद कहते हैं। उसमें हर्ष से स्वेद=पसीना, जैसेकि तन्त्रों में बताया गया है—आते हुए कृष्ण को देखकर उस प्यारे श्रीमुख पर स्वेदकण आ जाने से ऐसा मालूम पड़ा, मानो कुहरा के जले की बून्द गिरे । भय से स्वेद श्रीद्वारकाखण्ड में उल्लिखित है—पहले कृष्ण को दूसरे देश में छिपे देखकर कई स्त्रियाँ नहीं उठीं। जब जाना कि ये कृष्ण हैं, कौतुकरूप धारण किये हैं तो गोपियाँ बहुत डर गयीं। वे स्वेदकण से भीग गई। कृष्ण से विद्वेष करने वाले राजा क्रोध के वेग से आकुल हो गये, पसीना से सब अङ्ग भीग गये और मारने के लिये उद्यत हुए।

रोमाञ्च—यह रोमाञ्च निश्चय आश्चर्य की बात देखने से, हर्ष से उत्साह- भयादि से उत्पन्न होते हैं। उसमें रोम खड़े हो जाते हैं। शरीर-स्पर्शादि होते हैं। जैसे अर्जुन श्रीकृष्ण के शरीर में समग्र जगत् को अनेक प्रकार का देखकर बड़े विस्मय को प्राप्त हुआ। सब भिन्न-भिन्न एक स्थान में देखा तो आश्चर्य से उसके रोम खड़े हुए। हर्ष से रोमाञ्च का उदाहरण—श्रीमद्भागवतस्थ दशम स्कन्ध रासपञ्चाध्यायी में गोपियाँ श्रीकृष्ण को ढूँढती हुई पृथिवी से पूछने लगीं—हे पृथिवी! क्या तुमने तप किये जाने वाले केशव के चरणस्पर्श का उत्सव प्राप्त किया, तुम्हारे पुलक रोमाञ्च हो आये। इसी प्रकार शरीर ही का

यह उत्सव भगवान् वामन के पराक्रम नापने से अथवा वराह भगवान् के दाँत पर धारण किये आलिङ्गन से यह आनन्द प्राप्त हुआ अथवा श्रीभगवान् के चरणस्पर्श से यह रोमाञ्च पुलकाङ्कित परमानन्द प्राप्त हुए। उत्साह से रोमाञ्च के लिये तन्त्र में कहा गया है—वे श्रीकृष्ण के सखा युद्ध के लिये श्रीकृष्ण से युद्ध करने को उत्साहि, उनको रोमाञ्च आ गया और क्रिया में विकार हो गया। भय से रोमाञ्च—विश्वरूप के दर्शन से भयभीत अर्जुन, उनके ऊँचे रोमाञ्च—**ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः** (गी०११/१४)।

तत्पश्चात् आश्चर्य से युक्त, हर्षित रोम वाला=रोमाञ्च से भयभीत अर्जुन। अक्रूर यमुनाजी में भगवान् श्रीकृष्ण को देखकर अतिशय प्रसन्न हुये, परम भक्ति से युक्त हर्षित शरीर रोम वाला, भाव से मन और दोनों नेत्र भीग गये। फिर उसने भक्तिपूर्वक गदगद् वाणी से श्रीभगवान् की स्तुति की (श्रीमद्भा०१/३९/५६)। किरीटधारी अर्जुन ने काँपते हुए हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण को नमस्कार कर कहा (गी०११/३५)।

वेपथु—काँपना, जब श्रीकृष्ण, रुक्मी को मारने लगे तब रुक्मिणीजी को बड़े डर से अङ्ग में कम्पन आ गया, शोक से मुख सूख गया, कण्ठ रुक गया और सोने की माला गिर पड़ी। जब श्रीकृष्ण के चरणकमल पकड़ लिये तब दयालु-कृपालु श्रीकृष्ण मारने से निवृत्त हो गये।

वैवर्ण्य—रङ्ग बदल जाना, विषाद से, रोष से, भय आदि से अङ्ग का रङ्ग बदल जाना। भाव के जानने वालों की मलिनता का दूर होना। उसमें विषाद से वैवर्ण्य श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में—सारी गोपियों ने जब सुना कि कृष्ण और बलराम मथुरा जाने को तैयार हो गये और व्रज में क्रूर नाम के अक्रूर आये हैं, उससे उन्हें अतिशय व्यथा प्राप्त हुई। वे लोक-लज्जा का परित्याग कर गाने लगीं—गोविन्द दामोदर माधवेति (श्रीमद्भा१०/४४/१२)। भय आदि से वर्णविक्रिया जैसे—असभ्य कौरव जल से भरे नगर को गङ्गा में गिरता हुआ देखकर (असभ्याः जातसम्भ्रमाः कौरवाः तमेव शरणं जग्मुः) बलरामजी की शरण में गये (श्रीमद्भा १०/६८/४२-४३)।

अश्रु—आँसू हर्ष, रोष, विषाद आदि से नेत्र में जल का आ जाना आँसू है। भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह से धर्मराज युधिष्ठिर जरासन्धवध सुनकर आँसू छोड़ने लगे; प्रेम से कुछ कहा नहीं—**आनन्दाश्रुकलां मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किञ्चन** (भा०१०/७३/३५)। यशोदा मैय्या समझने लगी कि मेरी

सन्तान मर गयी; फिर उसे जीवित पाकर गोद में लेकर आलिङ्गन करती हुई बार-बार आँसू की कला=लड़ी छोड़ने लगी—**परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रु कला मुहुः** (श्रीमद्भा१०/१७/११)। अर्जुन को विषाद हुआ—स्वजनों का वध। यथा—

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।

(गी०२/१-१०)

पुलक—जब देवर्षि नारदजी के हृदय में श्रीहरि धीरे से प्रकट हुए तब उनके सारे अङ्ग प्रेम से भर गये; निरतिशय सुख से पुलकित होकर आनन्द के सागर में डूब गये और उनको अपना और इस लोक का ख्याल न रहा—**प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकोऽतिनिर्वृतः** (भा०१/६/१९)।

रति=अनुराग, श्रीभगवान् में रति=अनुराग। श्रीभगवान् में रति (अनुराग) देखिये—

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिस्तु मेऽनवद्या।।
सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु।।

(भा०१/९/३३,३५)

अर्थात् शस्त्रधारियों में वरिष्ठ सभी धर्मविदों में श्रेष्ठ श्रीभगवान् के भक्त क्रान्तदर्शी आत्मपरमात्म-ज्ञानवान गङ्गापुत्र श्रीभीष्म शरीर का परित्याग करते हुए श्रीकृष्ण की मूर्ति का वर्णन करते हुए रति की प्रार्थना करते हैं—

जिनका दिव्य अप्राकृत श्रीविग्रह त्रिलोकसुन्दर एवं श्याम तमाल के समान साँवला है, जिस पर सूर्यरश्मियों के समान सुन्दर पीताम्बर सुशोभायमान हैं और कमल के सदृश वपु घुँघराली अलकें लटकती रहती हैं, उन अर्जुन-सखा श्रीकृष्ण में मेरी रति-प्रीति-निष्कपट अनुराग हो। सखा के वचन को सुनकर तुरन्त ही जिन्होंने अपने और शत्रुओं के बीच में रथ को खड़ाकर उनके सैनिकों की आयु को दृष्टि से हरने वाले रथ में विराजमान पार्थसखा श्रीकृष्ण में मेरी रति=(अनवद्य अनुराग) हो।

मनसोवृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रहवणादिषु।।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैदनि रतिर्न कृष्ण ईश्वरे।।

(भा०१०/४७/६६-६७)

अर्थात् जीव तो नित्य ज्ञानस्वरूप होने पर भी अनादि माया से ढका होने से ज्ञान, धर्म, बन्ध और मोक्ष के योग्य है। अल्पज्ञ ब्रह्म के अंशरूप श्रीभगवान् से विमुख होने से निज कृत कर्मों से तिर्यक्-नर-देव योनियों में भटकते ही हैं; यह बात शास्त्रसिद्ध है। अत: नन्दादि गोप प्रार्थना करते हैं—हे उद्धवजी! अब हम यही चाहते हैं कि हमारे मन की एक-एक वृत्ति, एक-एक सङ्कल्प श्रीकृष्ण के चरणकमलों के ही आश्रित रहे। उन्हीं की सेवा के लिये उठे और उन्हीं में लगी रहे। हमारी वाणी नित्य-निरन्तर उन्हीं को प्रणाम करती रहे तथा उन्हीं के आज्ञापालन और सेवा में लगी रहे। हे उद्धवजी! हम बिल्कुल सच कहते हैं कि हमें मोक्ष की इच्छा बिल्कुल है ही नहीं। हम श्रीभगवान् की इच्छा से अपने कर्मों के अनुसार जिस योनि में जन्म लें, वहाँ शुभ आचरण करें, दान करें और उसका फल यही पावें कि हमारी अपने ईश्वर श्रीकृष्ण में उत्तरोत्तर भक्ति बढ़ती रहे।

हर्ष=आनन्द की पराकाष्ठा देखिये (भा०१०/८३/३८)—

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाञ्जनको यथा।
नत्वा मुनीन् सुसंहृष्टो धुन्वन् वासो ननर्त ह।।

जनकपुर के श्रुतदेव ब्रह्मण अपने घर में भगवान् श्रीकृष्ण को आते देखकर जनक की तरह मुनियों को नमन करके वस्त्र फिराते हुए बड़े हर्ष से नृत्य (नाचने) करने लगे।

गर्व—श्रीपुरुषोत्तम के आश्रय से (श्रीमद्भा१०/२/३३)।

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो।।

ब्रह्मादि देवगण एवं नारदादि मुनिगण कहते हैं—हे माधव श्रीपते! जैसे ज्ञान के गुमान वाले भ्रष्ट होते हैं, वैसे तुम्हारे दास-सेवक-भृत्य कहीं किसी

मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते हैं। आप में जिन्होंने सुहृदता बाँधी है, वे इस भक्तिमार्ग से भ्रष्ट=नष्ट नहीं होते हैं। आप द्वारा सुरक्षित वे निर्भय होकर विचरण करते हैं। हे प्रभो! इतना ही नहीं; देवताओं के सेनापति विघ्न करने वाले उनके सिर पर पैर धरकर निर्भय विचरते हैं, यही गर्व है। गर्व अनेक प्रकार के भी होते हैं; जैसे किसी को अपने रूप का गर्व है, किसी को कुलीनता का है इत्यादि। इसी प्रकार ऐश्वर्य का मद, विद्या का मद, धन का मद मनुष्यों को होता है।

अथ वितर्क-विमर्श से और संशयादि से जो तर्क उपस्थित होते हैं, उन्हें ऊह नाम तर्क कहते हैं। जैसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश—इन त्रिदेवों में कौन बड़ा है, सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों में यह विर्तक उत्पन्न हुआ—

श्रीशुक उवाच—

सरस्वत्यास्तटे राजन्नृषयः सत्रमासत।
वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान्।।

(भा० १०/८९/१)

संसार की माया-मोह में फँसे रहना है; परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप-गुण-माहात्म्य आदि का जो श्रवण-मनन और निदिध्यासन, निरन्तर ध्यान नहीं करते हैं, वे नर पशु कहलाते हैं। यही मोह है। लोभ पारमार्थ्य वस्तु को छोड़कर, भौतिक वस्तु की प्राप्ति का लालच है।

व्यभिचारभाव का वर्णन श्रीमद्भागवत (१०/४७/५९) में कहा है—

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनु भजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः।।

कहाँ ये वन-जङ्गल में विचरने-घूमने वाली स्त्रियाँ हैं, जाति से हीन गाँवों की गँवार व्यभिचारों से दुष्टा स्त्रियाँ और कहाँ परमात्मा श्रीकृष्ण में यह रूढभाव=अनन्य प्रेमभाव। अहो नन्दव्रज में रहने वाली ये स्त्रियाँ धन्य हैं, धन्य हैं। इससे सिद्ध होता है कि कोई भगवान् श्रीकृष्ण के गुण, स्वरूप, माहात्म्य और रहस्य को न जानकर भी उनसे प्रेम करे, उनका भजन करे, सेवा करे तो वे स्वयं अपनी शक्ति से, अपनी कृपा से उसका परम कल्याण कर देते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कोई अनजान में भी अमृत पी ले तो वह अपनी शक्ति से ही पीने वाले को अमर बना देती है।

परमात्मा श्रीकृष्ण में प्रेमलक्षणा विशेष भक्ति (उत्तमा भक्ति) का वर्णन

करके अब श्रवण-कीर्तनादि नवधा (नौ प्रकार की) भक्ति का वर्णन करते हैं, जिसको साधना भक्ति कहते हैं। इस साधन भक्ति के द्वारा क्रमशः उत्तमा भक्ति होती है। नव प्रकार की भक्तियों की प्रधानता को लेकर उसको ही दिखलाते हुए भक्त श्रीप्रह्लादजी ने कहा है—भगवान् श्रीविष्णु की भक्ति के नौ भेद हैं, जैसे—१.श्रीभगवान् के गुण-माहात्म्यादि का श्रवण, २.उन्हीं का कीर्तन, ३.उनके ही स्वरूप आदि का स्मरण, ४.उनके श्रीचरणकमलों की सेवा, ५.पूजा-अर्चना, ६.वन्दना, ७.दास्य, ८.सख्य, ९.आत्मनिवेदन। यदि भगवान् के प्रति ही समर्पणभाव से उपर्युक्त ९ प्रकार की भक्ति की जाय, तो हे पिता जी! मैं उसी को उत्तम अध्ययन समझता हूँ। (श्रीमद्भागवत ७/५/२३-२४)।

माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक श्रीभगवान् के स्वरूप-गुणादि का प्रतिपादनपरता का निश्चय करके श्रीभगवान् के नामादि शब्दों का प्रतिपादन करके ध्येय स्वरूपादि को प्रत्यक्ष देखते हुए श्रीहरि भजन के उपदेश करने वाले का शब्द ब्रह्म एवं परब्रह्म में निष्णात श्रीगुरुदेव के श्रीमुख से कानों द्वारा सुनना ही 'श्रवण' कहलाता है।

उनके नामों का प्रेम से धीरे-धीरे निरन्तर स्मरण करते हुए व स्वयं उच्चारण को 'कीर्तन' कहते हैं।

आत्मा और परमात्मा के स्वरूप के चिन्तन को ही 'स्मरण' कहते हैं। पादसेवन को ही 'परिचर्या' कहा गया है। अर्चन को 'पूजन' कहते हैं। कायिक, वाचिक व मानसिक रूप से भगवान् श्रीहरि के गुणों के स्तवन को ही 'वन्दना' कहते हैं। दास की भावना को ही 'दास्य' कहा है। मित्रत्व की भावना को ही 'सख्य' कहा है। अपना सब कुछ अर्पण करना ही 'सर्मपण' कहा है।

जिस प्रकार जिस गाय-घोड़ा आदि को जो व्यक्ति बेच देता है, उसके भोजनादि की चिन्ता बेचने वाला नहीं करता, उसी प्रकार से श्रीभगवान् को जिसने अपना सब कुछ समर्पित कर दिया, उसको भोजनादि की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। उसकी सारी जिम्मेदारी तो स्वयं प्रभु ही लेते हैं। सन्तों के परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण के नाम-गुण-लीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा, नमस्कार, दण्डवत् प्रणाम, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण ही नवधा भक्ति (साधना भक्ति) है।

अथ श्रवणम्

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद्यस्य लभ्यते।।[१]
को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः।
शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम्।।[२]
एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां कथासुधायामुपसम्प्रयोगम्।।[३]
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितंजनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्।।[४]
शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः।।[५]
न मेऽसवः परायन्ति ब्रह्मन्ननशनादमी।
पिवतोऽच्युतपीयूषं त्वद्वाक्याब्धिविनिःसृतम्।।[६]
नैवतिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्।।[७]

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में श्रीमन्नारदजी ने सनकादि ऋषियों से कहा— हे तपस्वियों! श्रीहरि कथा-श्रवण सभी धर्मों में श्रेष्ठ माना गया है; क्योंकि इससे वैकुण्ठ के अधिपति भगवान् श्रीकृष्ण की उपलब्धि होती है। ऐसे पुण्यात्मा भक्त जिनकी लीलाओं का गान करते रहते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्ण का कलिमलहारी पवित्र यश भला आत्म-शुद्धि की इच्छा रखने वाले कौन श्रवण न करें अर्थात् सभी श्रवण करेंगे।

महापुरुषों का मत है कि पुण्यश्लोकशिरोमणि भगवान् श्रीहरि के माहात्म्य गुणादि का गान करना ही मनुष्यों की वाणी का तथा विद्वानों के श्रीमुख से भगवत्कथामृत का पान करना ही उनके कानों का सब से बड़ा लाभ है। अकारण करुणा वरुणालय वात्सल्यादि गुणगणालय सर्वाधार सर्वात्मा

---

१. श्रीपद्मपुराण उत्तरखण्ड ६/७६। २. श्रीमद्भागवत १/१/१६। ३. वही ३/६/३७। ४. वही १/८/३६। ५. वही ११/२/३९। ६. वही २/८/२६। ७. वही १०/१/१३।

परमात्मा श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन एवं श्रवण सम्पूर्ण दुःखराशि को समाप्त कर देता है। फिर यदि हमारे हृदय में उनके श्रीचरणकमल की रज के सेवन का प्रेम जग पड़े तब तो कहना ही क्या है।

महारानी कुन्ती श्रीभगवान् की स्तुति करती हुई कहती हैं—हे विश्वात्मन्! भक्तजन बार-बार आपके पावन चरित्र का श्रवण, गायन, कीर्तन एवं स्मरण करके परम आनन्दित होते रहते हैं। वे ही अविलम्ब आपके श्रीचरण युगलकमलों का दर्शन पाते हैं; जो जन्म-जरा-मृत्यु-रूप प्रवाह को सदा के लिये रोक देते हैं।

इसलिये लज्जादि (सङ्कोचादि) को छोड़कर श्रीभगवान् की लीला, गुण, रूप, नाम, माहात्म्य कथा का श्रवण करना चाहिये। इस संसार (जगत्) में चार प्रकार के जीव होते हैं, जो हम पहले बता चुके हैं।

चक्ररथ को धारण करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसिद्ध जो दिव्य जन्म-कर्म और नाम 'गोविन्द दामोदर माधव' इत्यादि नामों से गाये जाते हैं, उनको प्रवक्ता के श्रीमुख से सुनना चाहिये। अगर सुनने वाला हो तो गान करने में लज्जा नहीं करनी चाहिये। लज्जा न करता हुआ जन सङ्ग से असङ्ग होकर इस मनुष्यलोक में हरिकीर्तन करता हुआ विचरण करे।

श्रीहरि की कथा-श्रवण का महत्त्व राजा परीक्षित् अपने अनुभव से कहते हैं—हे ब्रह्मन्! आप मेरे भूख-प्यास की चिन्ता न करें। मेरे कुपित प्राण ब्राह्मण के शाप के अतिरिक्त और किसी अन्य कारण से निकल ही नहीं सकते; क्योंकि आपके श्रीमुखचन्द्र से निकली हुई भगवान् श्रीहरि की अमृतमयी कथा का पान कर रहा हूँ। हे भगवन्! अन्न की तो बात ही क्या, जल का भी परित्याग किया है; फिर भी वह असह्य (असहनीय) क्षुधा=भूख पिपासा=प्यास जिसके कारण मैंने मुनि के गले में मृत सर्प=मरा हुआ साँप डालने का अन्याय किया था। मुझे तनिक भी नहीं सता रहे हैं, क्योंकि आपके श्रीमुख चन्द्रमा से झरती हुई श्रीभगवान् की सुधामयी लोकपावनी लीला-कथाओं का पान कर रहा हूँ।

अथ कीर्तनम्—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप! निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्।।[1]

---

१. श्रीमद्भागवत २/१/११

भक्त्याऽऽवेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन्।
त्याजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः।।[१]
मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं तव।।[२]
या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः।।[३]
गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च।।[४]

जो लोग इह लोक या परलोक की किसी भी प्रकार की अपनी इच्छा-विषयीभूत वस्तु चाहते हैं या इसके विपरीत संसार में दुःख का अनुभव करके जो इस विषय-विष-काम-वासनाओं से सर्वथा विरक्त हो गये हैं और निर्भय मोक्षपद को प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधकों को लिये तथा योगसम्पन्न ज्ञानियों के लिए भी समस्त शास्त्रों का यही निर्णय है कि वे भगवान् श्रीहरि के परम मङ्गलमय युगल नामों का तथा उनकी लीलाकथा, गुण-धाम-स्वरूप-माहात्म्य का प्रेम से सङ्कीर्तन करें अर्थात् गान करें। यह तो श्रीमद्भागवत प्रवक्ता श्रीशुकदेवजी महाराज का स्वानुभव वचन है। अब भगवान् श्रीशुक्राचार्य जी कहते हैं—लौकिक और वैदिक मन्त्रों के स्वर आदि से, अनुष्ठानपद्धति की देश, काल, पात्र और वस्तु की सारी भूलें हे ब्रह्मन् परमात्मन् भगवन्! आपके नाम-सङ्कीर्तनमात्र से ही सुधर जाती हैं। आपका नाम सारी त्रुटियों को पूर्ण कर देता है। यह नामकीर्तन की महिमा है। गङ्गापुत्र पितामह श्रीभीष्मजी कहते हैं—जिनके नामों का कीर्तन करने से भक्ति के द्वारा अपने मन को श्रीभगवान् में लगा देने से योगी शरीर का त्याग करते ही मुक्त हो जाते हैं।

इसलिये हरिकीर्तन करने वाले ही धन्य-धन्य हैं। इस बात को मथुरा नगरी में रहने वाली स्त्रियों के वचन से कहते हैं—व्रज की स्त्रियाँ गोपिकाएँ धन्य हैं, ये निरन्तर श्रीकृष्ण में मन-बुद्धि-चित्त लगा रहने के कारण प्रेम भरे हृदय से आसुओं के कारण गद्‌गद कण्ठ से वे इन्हीं की लीला कथाओं का तथा गोविन्द-दामोदर-माधव नामों का कीर्तन=गान करती रहती हैं। वे दूध

१. श्रीमद्‌भागवत ११/९/२३। २. वही ८/२३/२६। ३. श्रीमद्‌भा० दशम स्कन्ध। ४. वही।

दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकों को चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरों की सफाई करते; कहाँ तक कहें—सारे कामकाज करते समय श्रीकृष्ण के नामों का व गुणों का कीर्तन और गान करने में ही मस्त रहती हैं।

विवेकी पुरुष हरिकीर्तन ही करते हैं, इस बात को उद्धवजी के वचनों से स्पष्ट करते हैं—महाभागवत देवगुरु वृहस्पति के शिष्यों में श्रेष्ठ उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं—हे भगवन्! आप जब इस प्रकार मगधराज जरासन्ध का वध कर डालेंगे तब उनके कैद में पड़े हुए बीस हजार आठ सौ राजाओं की रानियाँ अपने महलों में आपकी इस विशुद्ध लीला का कीर्तन करेंगी। आपने उनके शत्रु का नाश कर दिया और उनके प्राणपतियों को छुड़ा लिया, ठीक वैसे ही जैसे गोपियाँ शङ्खचूड़ से छुड़ाने की लीला का; आपके शरणागत मुनिगण गजेन्द्रमोक्ष और जानकीजी के हरण के बाद उनके उद्धार की लीला का तथा हम लोग आपके माता-पिता को कंस के कारागार से छुड़ाने की लीला का गान करते हैं।

अथ स्मरणम्—

दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिःस्यात्।।[1]
आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः।।[2]
अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मा भक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्।।[3]
भूयादघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम्।
मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः।।[4]
तन्नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसारतामिह।।[5]
हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्।।[6]

स्मरण—श्रीभगवान् का स्मरण देवर्षि नारदजी के वचनों से कहते

१. श्रीमद्भागवत १०/६९/१८। २. वही १०/८२/४९। ३. वही १२/१२/५४।
४. वही ३/१६/३६। ५. वही १०/७३/१५। ६. वही ८/१०/५५।

हैं—हे भगवन्! आज मुझे आपके श्रीचरणकमलों के दर्शन हुए हैं। आप के श्रीचरणकमल सम्पूर्ण जनता को परम श्रेयमोक्ष देने वाले हैं। जिनके ज्ञान की कोई सीमा नहीं हैं, वे ब्रह्मा, शिवादि सदा-सर्वदा अपने हृदय में उनका निरन्तर स्मरण करते रहते हैं। वास्तव में वे श्रीचरण ही संसारसागररूपी कुँए में गिरे लोगों को बाहर निकालने के लिये अवलम्बन हैं अर्थात् मोक्ष के उपाय (साधन) हैं। आप ऐसी मुझ पर कृपा कीजिये कि आपके उन पदारविन्दों का स्मरण सदा, सर्वदा बना रहे और मैं चाहे जैसे रहूँ, उनके ध्यान में तन्मय रहूँ।

श्रीभगवान् का स्मरण गङ्गादि के प्रवाह की भाँति हमेशा करना चाहिये। इस बात को व्रज की गोपियों के वाक्यों द्वारा कहा है—हे कमलनाथ! इस संसारसागररूपी कूप से बाहर निकलने की इच्छा रखने वाली, सदैव गृह का सेवन करने वाली हमारी जैसी गोपिकाओं के हृदय में निरन्तर आपके श्रीचरणारविन्दों का स्मरण होता रहे, यही हम चाहती हैं। यद्यपि आप योगियों के द्वारा ही ध्यान (चिन्तन) करने योग्य हैं, फिर भी हमारी अभिलाषा यही है कि हमारे मन में सदैव आपकी स्मृति (स्मरण) बनी रहे। हरिस्मरण समस्त विपत्तियों से मुक्त कर देता है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों को छोड़कर जीवों की अन्य गति अर्थात् मोक्ष का दूसरा उपाय (साधन) नहीं है, यही निष्कर्ष निकला—**नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्।**

भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों का स्मरण सारे पाप-ताप और अमङ्गलों को समूल विनष्ट कर देता है। परम शान्तिका विस्तार कर देता है। श्रीभगवत्स्मरण से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

श्रीभगवद्भक्ति की प्राप्ति होती है एवं परमात्मा श्रीकृष्ण में विशेष अनुराग, उनके स्वरूप का ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है।

श्रीभगवत्स्मरणशील पुरुष का अपने कर्मों से उत्पन्न अनर्थ भी उपताप के लिये नहीं होता है। इस बात को श्रीभगवान् के नित्य पार्षद जय एवं विजय के शब्दों से कहते हैं—हे भगवन्! अवश्य ही हम अपराधी हैं, अतः आपने हमें जो दण्ड दिया है, वह बिल्कुल ही उचित है और हमें वह मिलना ही चाहिये। हमने त्रिलोकीनाथ भगवान् श्रीहरि का अभिप्राय न समझकर उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन किया है। इससे हमें जो पाप लगा है, वह आपके दिये हुए दण्ड से सर्वथा धुल जायेगा; किन्तु हमारी इस दुर्दशा का विचार करके यदि करुणावश आपको थोड़ा-सा भी अनुताप हो तो ऐसी कृपा कीजिये कि

जिससे उन अधमाधाम योनियों में जाने पर भी हमें '**श्रीभगवत्स्मरण**' को नष्ट करने वाला मोह प्राप्त न हो।

यह बात स्पष्ट होती है मगधराज जरासन्ध के द्वारा पकड़े गये राजाओं के वाक्यों से—हे शरणागतवत्सल श्रीभगवान् श्यामसुन्दर! आप हमें ऐसा उपाय बताने की कृपा करें। जिससे इस संसार में रहते हुए भी आपके श्रीचरण-कमलों की विस्मृति (विस्मरण) न हो अर्थात् आपके श्रीचरणारविन्दों की स्मृति=स्मरण सदैव बनी रहे। शिशुपाल इत्यादि शत्रु भी स्मरण से ही श्रीभगवद्भाव को प्राप्त हुए। वेदस्तुति में उल्लिखित है—तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् (श्रीमद्भागवत १०/८७/२३) श्रीभगवत्स्मरण का फल, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण वर्णन करते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।
अन्तकाले च मामैव स्मरन् मुक्त्वा कलेरवम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।[१]

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! जो पुरुष-सदा सर्वदा अनन्य चित्त होकर मुझ श्रीपुरुषोत्तम का स्मरण करता रहता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगी के लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् मैं उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ। जो पुरुष अन्तकाल में मुझ श्रीपुरुषोत्तम को ही स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह मेरे भाव को प्राप्त होता है; इसमें कुछ भी संशय नहीं है। इसलिये विवेकी जनों को हमेशा भगवान् श्रीहरि का स्मरण करना चाहिये।

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चेतो मय्येव प्रविलीयते।।[२]
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।[३]

जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयों में फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझ श्रीवासुदेव में लीन हो जाता है।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता ८/१४, ८/५। २. श्रीमद्भागवत ११ /१४/२७।
३. श्रीमद्भगवद्गीता ८/७।

इसलिये हे अर्जुन! तुम सभी कालों में सारी अवस्थाओं में खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, मल-मूत्र का त्याग करते समय, नहाते-धोते समय में मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो। इस प्रकार मन और बुद्धि को मुझे समर्पित करके निश्चित रूप से ही मुझे प्राप्त कर लोगे।

पादसेवनम्—

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः।।[१]
मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तमवन्दनं ते।।[२]
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।।[३]
नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम्।
यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद् ब्रह्माऽऽविरासीद् यत एष लोकः।।[४]
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्।।[५]

श्रीमद्भागवत-प्रवक्ता श्रीशुकदेवजी महाराज ध्यान-मग्न होकर श्रीभगवान् का स्तवन करते हुए कहते हैं—जिनके नाम, रूप, लीला, धाम, गुण-माहात्म्य के कीर्तन से, जिनके स्वरूप के स्मरण से, जिनके श्रीविग्रह के दर्शन से, जिनके श्रीचरणकमलों के सेवन से=वन्दन से, जिनके दिव्यातिदिव्य परम मङ्गलमयी लीलाकथाओं के श्रवण से और जिनके पूजन से लोगों के सारे पाप तुरन्त धुल जाते हैं, मैं उन सुश्लोक मौलि अकारण करुणा वरुणालय वात्सल्य आदि गुणगणालय शरणागत वत्सल श्रीभगवान् को बार-बार नमन करता हूँ।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण माता श्रीदेवकीजी के गर्भ में प्रकट हुए, उस समय ब्रह्मादि देवगण कंस के कैदखाने में आकर उनकी स्तुति करते हुए वहाँ इस प्रकार बताते हैं—हे ईश! कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सर्वसमर्थ सर्वशक्तिमान् सर्वनियन्ता भगवन्! आपने मत्स्य, हयग्रीव, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस,

---

१. श्रीमद्भागवत २/४/१५। २. वही १०/२/४०। ३. वही ११/५/३३।
४. वही १०/४०/१! ५. वही ४/८/४१।

राजेन्द्र (कोसलेन्द्र राम), विप्र (भार्गवेन्द्र परशुराम), विवुध (वामन) आदि रूपों में अवतार धारण कर जैसे पहले त्रिलोकी की रक्षा की है, वैसे अब भी पृथिवी का भार हरण कर आप हमारी रक्षा करें। हे यदूत्तम! हम आपके श्रीचरणकमलों की वन्दना करते हैं।

करभाजन नामक सिद्धेश्वर ने कहा है—हे प्रणतपाल! शरणागत-परिपालक! हे महापुरुष! हम सदा आपके श्रीचरणारविन्दों की वन्दना करते हैं। आप सदा शरणागत-रक्षक हैं। आपके पादारविन्द सदा ध्यान करने योग्य हैं, माया-मोह के कारण होने वाली सांसारिक पराजयों का अन्त कर देने वाले तथा अपने भक्तजनों को समस्त अभीष्ट का दान करने वाले आप सदा कामधेनु स्वरूप हैं। हे नाथ! आपके श्रीचरणकमलों से गङ्गा निकली है; अतः वे तीर्थों के भी तीर्थ बनाने वाले स्वयं परमतीर्थस्वरूप हैं। शिव, ब्रह्मा आदि देवगण सदा उन्हें वन्दन करते हैं। चाहे जो कोई उनकी शरण में आ जाय, उनकी रक्षा करने वाले हैं। अपने सेवक-दास-भृत्य-किङ्करजनों की समस्त आर्ति (दुःख) और विपत्ति के विनाशक तथा इस मृत्युरूप संसारसागर से सदा पार करने वाले हैं। हम आपके पादारविन्दों की सदा वन्दना करते हैं।

अक्रूरजी ने तीस श्लोकों से भगवान् श्रीकृष्ण के गुणानुवाद-सहित उनके विराट् रूप की तथा कतिपय मनोरम अवतारों की वन्दना की है। हे भगवन्! मैं मन, वाणी और शरीर से आपके श्रीचरणारविन्दों की वन्दना करता हूँ। परमाणु आदि जितने कारण हैं, उनके भी कारण आप हैं। आप सबके मूल कारण आदिपुरुष अविनाशी नारायण हैं। आपके नाभिकमल से ब्रह्मा प्रकट हुए, जिससे यह चराचर भूत उत्पन्न हुआ है।

यहाँ अक्रूरजी कितनी अच्छी एक बहुत ही विलक्षण बात बताते हैं। ऐसा सदुपदेश अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों में मिलना मुश्किल है। वह यह है—

पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभसदुपासनया मतिः स्यात्।

हे कमलनाभ! जब मनुष्य जन्म-जरा-मरण-रूप संसारप्रवाह से छूटने वाला होता है, तब साधु-सन्त-महात्माओं की उपासना सेवा-शुश्रूषा से उसकी मति आपमें लगती है।

श्रीभगवत्पादसेवन का फल बताते हैं—जिस पुरुष को अपने लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्षस्वरूप पुरुषार्थ की अभिलाषा हो, उसके लिये उनकी

प्राप्ति का उपाय एकमात्र भगवान् श्रीहरि के चरणकमलों की सेवा ही है। जिन्होंने पुण्यकीर्ति भगवान् मुकुन्द मुरारि के पादपल्लव की नौका का आश्रय लिया है, उनके लिये यह भवसागर बछड़े के खुर के गड्ढे के समान हैं, उन्हें परमपद (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है और उनके लिये आपत्तियाँ=विपत्तियाँ कभी नहीं आती हैं (भा०१०/१४/५८)।

अथार्चनम्—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥[1]
नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्यमिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम्॥[2]
अथाप्युपायो मम देवि चिन्त्यः सन्तोषितस्य व्रतचर्यया ते।
ममार्चनं नार्हति गन्तुमन्यथा श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात्॥[3]

श्रीदेवर्षि नारदजी प्रचेताओं से कहते हैं—जिस प्रकार वृक्ष के मूल (जड़) सींचने से उसके तना, शाखा, उपशाखा आदि सभी का पोषण हो जाता है, यानी छोटी-बड़ी डाल-पाल पत्ते सब शाखायें हरी-भरी हो जाती हैं। जिस प्रकार प्राण को भोजन देने से सारी इन्द्रियाँ तृप्त हो जाती हैं, पृथक्-पृथक् इन्द्रियों में अन्नलेपन नहीं करना पड़ता है। उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के अर्चन (पूजन) से सब देवताओं का पूजन हो जाता है।

जो प्राकृत विषयसुख उपभोग के लिए भगवान् श्रीहरि का अर्चन करते हैं, वे माया से विमोहित हैं, इस बात को ध्रुव के शब्दों से कहते हैं—हे प्रभो! इन शवतुल्य शरीरों के द्वारा भोगा जाने वाला इन्द्रियों और विषयों के संसर्ग से उत्पन्न सुख तो मनुष्यों को नरक में भी मिल सकता है। जो लोग इस विषयसुख के लालायित रहते हैं और जो जन्म-जरा-मरण के बन्धन से छुड़ा देने वाले कल्पवृक्षस्वरूप आपकी अर्चना=उपासना, आपकी प्राप्ति के सिवा किसी अन्य उद्देश्य से करते हैं, उनकी बुद्धि अवश्य ही आपकी माया के द्वारा ठगी गयी है=मारी गयी है।

श्रीभगवान् की अर्चना कभी भी निष्फल नहीं होती है, इस बात को स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—हे देवि! फिर भी तुम्हारी व्रतचर्या=अनुष्ठान-

१. श्रीमद्भागवत ४/३१/१४। २. वही ४/९/९। ३. वही ८/१७/१७।

अर्चन से मैं बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिये मुझे इस सम्बन्ध में कोई न कोई उपाय सोचना ही होगा; क्योंकि मेरा अर्चन व्यर्थ नहीं होना चाहिये; उससे श्रद्धा के अनुसार फल अवश्य मिलता है। इसलिये दुष्टभाव, शठता को छोड़कर अपनी ईमानदारी से कमाये हुए वित्तादि के अनुसार श्रीहरि का अर्चन करें।

अथ वन्दनम्—

ताम्बूलसुन्दरमुखं मधुरं ब्रुवन्तं विम्बाधरं स्मितयुतं सितकुन्ददन्तम्।
नीलालकावृतकपोलमनोभिरामं वन्दे चलत्कनककुण्डलमण्डनार्हम्।।[१]
यद्दर्शनं निगम आत्मरहः प्रकाशं मुह्यन्ति यत्र कवयोऽप्यजरा यतन्तः।
तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं वन्दे महापुरुषमात्मनि गूढबोधम्।।[२]
यद्वक्षःस्थलमन्दिरं प्रविलसन्माणिक्यमुक्तावली
दोलान्दोलनरागलोलहृदया निस्सीमभाग्योदया।
श्रीराधासमलङ्करोति करुणापीयूषपाथोनिधिं
वन्दे कुञ्जविहारिणं प्रतिदिनं राधानिवासालयम्।।[३]
वेणुनादविनोदाय गोपालायाहिमर्द्दिने।
कालिन्दीकूललोलाय लोलकुण्डलधारिणे।
वल्लवीवदनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने।
नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः।।[४]

हम भगवान् श्रीकृष्ण का वन्दन करते हैं, वे शरणागत भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण कैसे हैं? उसका वर्णन करते हैं—जिन सुन्दर श्रीमुखमें पान सुशोभित है, जो मधुर बोलने वाले हैं, जिनका अधर पके हुए कुन्दरू के समान लाल है, जिनके दाँत कुन्दपुष्प के समान श्वेत हैं। नीले और काले-काले घुँघराले बाल जिनके गाल पर सुशोभित हो रहे हैं तथा जो बहुमूल्य सुन्दर कुण्डलों को धारण किये हैं, हम ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण की सदा वन्दना करते हैं।

हे भगवन्! वेद में आपका साक्षात्कार कराने वाला वह ज्ञान पूर्ण रूप से विद्यमान है, जो आपके स्वरूप का रहस्य प्रकट करता है। ब्रह्मा-शिवादि बड़े-बड़े प्रतिभाशाली मनीषी उसे प्राप्त करने का यत्न करते रहने पर भी मोह में पड़ जाते हैं। आप ऐसे ही लीलाबिहारी हैं, विभिन्न मत वाले आपके सम्बन्ध में जैसा सोचते-विचारते हैं, वैसा ही शील-स्वभाव और रूप ग्रहण करके आप

१. श्रीगर्गसंहिता वृन्दावनखण्ड। २. श्रीमद्भागवत १२/८/४९। ३. आत्मपरमात्मतत्त्वदर्शी। ४. श्रीगोपालपूर्वतापिनी उपनिषद्।

उनके सामने प्रकट हो जाते हैं। वास्तव में ज्ञान अपने में छिपे हुए हैं, आप महापुरुष पुराणपुरुष श्रीपुरूषोत्तम हैं, हम आपकी सदा वन्दना करते हैं।

हम ऐसे श्रीराधाविहारी कृष्ण की वन्दना करते हैं, जो बाँसुरी की मधुर ध्वनि से विनोद करने वाले हैं, जिनके वक्षःस्थल पर दिव्यातिदिव्य मणियों, मोतियों से युक्त अतिसुन्दर माला सुशोभित हो रही है, जिनके साथ आन्दोलित होने वाली परमाह्लादिनी पराशक्ति राधा अपने को असीम भाग्योदय वाली मानती हैं, जो करुणारूपी अमृत के समुद्र के समान श्रीराधा से सम्यक् अलङ्कृत हैं, जो श्रीराधा के निवासस्थान हैं, हम उन कुञ्जविहारी भगवान् श्रीकृष्ण का प्रतिदिन वन्दन करते हैं। गायों को चराने वाले, पालने वाले और उनके संरक्षण करने वाले, कालियनाग का दमन करने वाले, यमुना के किनारे विहार करने वाले, अति सुन्दर कुण्डल धारण करने वाले, व्रजसुन्दरियों के नयनकमलों की माला धारण करने वाले, कमललोचनों से पूजित, नृत्य करने वाले एवं प्रपन्न जनों की अर्थात् अपनी शरण में आने वालों की रक्षा करने के लिये कटिबद्ध भगवान् श्रीकृष्ण के लिये नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है, बार-बार वन्दन है।

अथ दास्यम्—

सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमान्।
कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्।।[1]

हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम्।
नैवातृप्यन् प्रशंसन्तः पिवन् मर्त्योऽमृतं यथा।।[2]

यद्दोष्षु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्णनप्तृत्रिगर्तशलसैन्धवबाह्लिकाद्यैः।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि नोपस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि।।[3]

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते।।[4]

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः।।[5]

श्रीमद्भागवतशास्त्र में तीन दासभाव के श्रीभगवद् भक्त हुए—१.उद्धव २.युधिष्ठिर ३.और प्रह्लाद।

१. श्रीमद्भागवत १०/४७/५६। २. वही १०/७५/२७। ३. वही १/१५/१६। ४. वही-९/५/१५। ५. वही-१०/१२/११।

हनुमानजी और गरुड़जी तो श्रीभगवान् के नित्य दासभाव के भक्त हैं ही। भरतजी भी दासभाव से श्रीभगवान् की उपासना करते हैं—

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना।।
यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः।।
एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हति।।[१]

हरिदास उद्धवजी कभी यमुना नदी के तट पर जाते, कभी वृन्दावन के वनों में विचरते-विहरते और कभी गिरिराज की तलहटी, घाटियों में विचरते। कभी रङ्ग-विरङ्गे फूलों से लदे हुए वृक्षों पर ही रम जाते और यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने कौन-सी लीला की है यह पूछ-पूछ कर व्रजवासियों को भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का संस्मरण करा देते हैं।

जैसे मनुष्य अमृतपान करते हुए कभी तृप्त होते ही नहीं, वैसे ही सब लोग हरिदास राजर्षि युधिष्ठिर के राजसूय महायज्ञ की प्रशंसा करते हुए तृप्त नहीं हुए।

अर्जुन, युधिष्ठिर से कहते हैं—

द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, भूरिश्रवा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ और वाह्लिक आदि वीरों ने हम पर कभी न चुकने वाले अस्त्र चलाये थे, परन्तु जैसे हिरण्यकशिपु आदि दैत्यों के चलाये हुए अस्त्र-शस्त्र नृहरिदास प्रह्लाद का स्पर्श नहीं करते थे, ठीक वैसे ही उनके शस्त्रास्त्र मुझे छू तक नहीं सके; यह श्रीकृष्ण की छत्रछाया में रहने का ही प्रभाव था।

दुर्वासाजी, अम्बरीष से कहते हैं—

जिनके मङ्गलमय नामों के श्रवणमात्र से जीव निर्मल हो जाते हैं, उन्हीं तीर्थपाद भगवान् श्रीहरि के चरणकमलों के जो दास=सेवक हैं, उनके लिये कौन-से कर्तव्य शेष रह जाते हैं?

परा भक्तिसाधनरूप ज्ञान चाहने वालों के लिये स्वयं बृहत् (सबसे

१. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, ७३/२७/७२, ३२/१०१/१२

बड़ा) स्वरूप, गुण, शक्ति वस्तु है और उसके सुख अनुभूति ज्ञानस्वरूप, अनन्त ब्रह्मसुख है। ज्ञान, विराग, परा भक्ति सम्पन्न=दास्य भाव से युक्त भक्तों के लिये वे उनके उपास्य देवता हैं। माया से मोहित जनों के लिये जो नर बालक रूप से दीख रहे हैं, वे महान् पुण्यात्मा व्रजवासी ग्वाल-बालों के साथ खेल रहे हैं। उनके भाग्य का कौन वर्णन कर सकता है?

भगवान् श्रीरामचन्द्र के सेवक श्रीभरतजी कहते हैं—मैं भगवान् श्रीराम को लौटा करके उनके दीप्त तेज से सुस्थिर अन्तरात्मा के द्वारा उनका दास=सेवक होऊँगा। जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं, मैं जिनका दास हूँ। जो बिना परिश्रम के कर्म करने वाले हैं, उन राम के बारे में मुझे शीघ्र बताओ। इन सचिवों के साथ मैं सिर झुकाकर इस भाई-शिष्य-दास-सेवक को प्रसन्न करें; वे प्रभु श्रीराम प्रसन्नता प्रदान करने में समर्थ हैं

अथ सख्यम्—अर्जुन, सुदामा और उद्धव—ये तीनों महानुभाव भगवान् श्रीकृष्ण के सखा थे।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।[1]
अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः।
आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः।।[2]
कृष्णस्यासीत्सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः।।[3]
वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः।।
अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वां मे भृत्यः सुहृत्सखा।।[4]
किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्।
योऽरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां श्रीमत्किरीटतटपीठितपादपीठः।।[5]
न जन्म नूनं महतो सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये वत लक्ष्मणाग्रजः।।[6]

हे अर्जुन! आज मैंने वही बात योग-सम्बन्धी कही है; क्योंकि तुम मेरे

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता ४/३। २. श्रीमद्भागवत ११/३१/२१। ३. वही १०/८०/६। ४. वही १०/४६/१। ५. वही ११/२९/४। ६. वही ५/१९/७।

भक्त और सखा हो; इसलिये इस अत्यन्त रहस्यात्मक गोपनीय बात को मैंने तुमसे कहा है। हे परीक्षित्! अर्जुन अपने प्रियतम सखा भगवान् श्रीकृष्ण के विरह से पहले तो अत्यन्त व्याकुल हो गये; फिर उन्होंने उन्हीं के गीतोक्त सदुपदेश का स्मरण करके अपने मन को संभाला।

हे परीक्षित! सुदामा नामक एक ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्ण के सखा रहे; वे बड़े ही ब्रह्मज्ञानी, विषयों से विरक्त, शान्तचित्त और जितेन्द्रिय थे।

हे परीक्षित! उद्धवजी वृष्णिवंशियों में एक प्रधान पुरुष थे। वे साक्षात् वृहस्पतिजी के शिष्य और बुद्धिमानों में परम बुद्धिमान थे। वे भगवान् श्रीकृष्ण के प्रिय सखा और मन्त्री रहे। हे यदुनन्दन! इससे अत्यन्त गोपनीय बात भी मैं तुमसे कहूँगा; चूँकि तुम मेरे सेवक, सुहृत् और सखा हो।

हे प्रभो! आप सबके परम हितैषी सबके बन्धु हो, आप अपने शरणागत बलि आदि सेवकों के अधीन हो जायँ, यह आपके लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि आपने रामावतार ग्रहण करके प्रेमवश वानरों से सखाभाव का निर्वाह किया है। ब्रह्मादि देवगण अपने दिव्य किरणों को आपके श्रीचरण-कमल रखने की चौकी पर रगड़ते रहते हैं।

पवनपुत्र श्रीहनुमानजी कहते हैं—आपके ये व्यापार केवल लोक-शिक्षा के लिये ही हैं। न हमारा उत्तम कुल में जन्म है, न सुन्दरता है, न वाक् चातुरी, बुद्धि और श्रेष्ठ गुण है। अथवा उत्तम कुल में जन्म, सौन्दर्य, वाक्-पटुता, बुद्धि और आकृति आपकी प्रसन्नता का कारण नहीं हो सकता। लक्ष्मणाग्रज भगवान् श्रीराम ने हम वनवासी वानरों को अपना सखा बनाया है।

अथात्मनिवेदनम्–

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्।।
प्राणा दाराः सुता गृहाश्च सपरिच्छदाः।
राज्यं बलं मही कोश इति सर्वं निवेदितम्।।
धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः।।
यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय दुर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम्।
अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमिच्छेत्।।

समर्हयामास स तौ विभूतिभिर्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः।
ताम्बूलदीपामृतभक्षणादिभिः स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च।।

उपर्युक्तश्रवणादिनवलक्षणायाः भक्तेः फलमाह—

हरौ कुर्वन्ति ये नित्यं भक्तिं च नवलक्षणाम्।
संसारसागरं राजंस्ते तरन्ति सुखेन वै।।

(श्रीगर्गसंहितायामश्वमेधखण्डे)

श्रवणादिनवलक्षणया भक्त्या श्रीभगवच्चरणारविन्दलब्धास्तेषां भागवतानां नामोल्लेखो निम्नाङ्कितपद्ये वर्तते—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुपूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत्कृष्णाप्तिरेषां फलम्।।

(कल्याणभक्तिरङ्के)

अनन्याधिपतेः महात्मनः कृष्णस्य दैन्यादियुजि पुंसि भक्तिर्हि प्रजायते।

(श्रीभगवद्भाष्यकारोक्तेः)

श्रीमद्भागवत में प्रबुद्ध नामक एक सिद्धेश्वर कहते हैं—यज्ञ, दान, तप अथवा जप, सदाचार का पालन और स्त्री, पुत्र, घर, अपना जीवन, प्राण तथा जो कुछ अपने को प्रिय लगता हो, सबके-सब भगवान् श्रीहरि के चरणकमलों में समर्पण करना सीखना चाहिये।

श्रीमद्भागवत में राजा पृथु कुमारों से बताते हैं—हे ब्रह्मन्! प्राण, स्त्री, पुत्र, सभी प्रकार की सामग्रियों से भरा हुआ भवन, राज्य, सेना, पृथ्वी और कोश—यह सब कुछ आप ही आचार्य महापुरुषों का है; अतः आपके ही श्रीचरणारविन्दों में अर्पित है।

भक्त प्रह्लाद असुरबालकों को उपदेश करते हुए कहते हैं—वेदादि शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम—इन तीन पुरुषार्थों का भली-भाँति वर्णन है; आत्मविद्या, कर्मकाण्ड, न्याय (तर्कशास्त्र), दण्डनीति और जीविका के विविध साधन—ये सभी वेदों के प्रतिपाद्य हैं; परन्तु ये सब अपने निरपेक्ष परम हितैषी परमपुरुष भगवान् श्रीहरि को आत्म-समर्पण करने में सहायक हैं।

तभी मैं इन्हें सत्य का समर्थक मानता हूँ, अन्यथा ये सब निरर्थक हैं।

ब्रह्माजी श्रीभगवान् से कहते हैं—हे प्रभो! जो मनुष्य सच्चे हृदय से कृपणता छोड़कर आपके श्रीचरणकमलों में जल का अर्घ्य देता है और केवल दूर्वादल से आपकी सच्ची पूजा करता है, उसे भी उत्तम गति की प्राप्ति होती है; फिर बलि ने तो बड़ी प्रसन्नता से, धैर्य-स्थिरतापूर्वक आपको त्रिलोक का दान कर दिया है। तब यह दुःख का भागी कैसे हो सकता है?

इसके बाद दैत्यराज बलि ने बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण, चन्दन, ताम्बूल (पान), दीपक, अमृत के समान भोजन एवं अन्य विविध प्रकार की सामग्रियों से सुतल लोक में भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी की पूजा की और अपने समस्त परिवार, धन तथा शरीर आदि को उनके श्रीचरणकमलों में सम्यक् (भली-भाँति) रूप से अर्पित कर दिया।

ऊपर बतायी गयी—१.श्रवण २.कीर्तन ३.स्मरण ४.पादसेवन ५.अर्चन ६.वन्दन ७.दास्य ८.सख्य तथा ९.आत्मनिवेदनस्वरूप भक्ति का फल बतलाते हैं—हे राजन्! जो व्यक्ति नव प्रकार की श्रीभगवद् भक्ति प्रतिदिन करते हैं, वे इस जन्म-जरा-मृत्युरूप संसारसागर को सुखपूर्वक पार कर जाते हैं।

श्रीभगवान् की प्राप्ति के लिये ये नवधा भक्ति ही हैं। इसलिये श्रीभगवान् सुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने नवम (नवें) श्लोक में बताया है कि श्रवण आदि नवलक्षणा भक्ति द्वारा जो श्रीभगवान् को प्राप्त हो चुके हैं, उन श्रीभगवद् भक्तों का नामोल्लेख करते हैं—भगवान् श्रीविष्णु की कथा-श्रवण में राजा परीक्षित्, कीर्तन में व्यासपुत्र श्रीशुकदेव, स्मरण में प्रह्लाद, चरणों की सेवा में लक्ष्मी, पूजन में पृथु, अभिवन्दन में अक्रूर, दासभाव में हनुमान, सखाभाव में अर्जुन और सर्वात्मसर्वस्व-समर्पण में धर्मवित् राजा बलि हुए। इन नौ महापुरुषों को श्रीभगवान् की नवधा भक्ति के फल प्राप्त हुए।

श्रीनिम्बार्क भगवान् ने दशश्लोकी के नवम श्लोक में उपदेश किया कि दैन्यादि गुणयुक्त (शरणागत) पुरुष में अनन्य अधिपति महान् आत्मा श्रीभगवान् की कृपा तथा प्रेमलक्षणा भक्ति होती है। वह उत्तमा भक्ति और साधनरूपा भक्ति है अर्थात् परा-अपरा भक्ति।

दास्यरसे तु सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः परमकारुणिकः शरणागतपालकः भक्तवत्सलः प्रभुः श्रीकृष्णो विषयालम्बनः। अर्जुनोद्धवपरीक्षित्प्रभतयः आश्रयालम्बनः।

भक्ततुलसीपदचिह्नगुणगोपीचन्दनोच्छिष्टस्रग्गन्धमाल्यादय उद्दीपन-विभावाः। श्रीकृष्णोक्तकरुणादयोऽनुभावाः। स्तम्भादयोऽष्टौ सात्विकाः।हर्षा गर्वादयो हि सञ्चारिणः। स्नेहादिस्थायी। श्रीकृष्णवियोगे तु दश दश अङ्गेषु १.ताप, २.कृशता, ३.जगत्यलम्बः, ४.शून्यता, ५.अधृति, ६.जडता, ७.व्याधि, ८.रुन्मादो, ९.मूर्च्छित, १० मृतीति।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—अब ग्रन्थकार दास्यरस का निरूपण करते हैं—दास्यरस में तो सबका मालिक सर्वशक्ति परम दयालु-कृपालु अपनी शरण में आने वालों का पालन करने वाले भक्तवत्सल प्रभु श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। अर्जुन, उद्धव और परीक्षित इत्यादि आश्रयालम्बन हैं। शिष्य अर्जुन (शिष्यस्तेऽहं गी०२/७) दास भी हैं। **करिष्ये वचनं तव** (गी०१८/७३) यह स्वामी का आज्ञा पालन करना; पर सखा स्वाभाविक है। हम पीछे सख्यरस में वर्णन कर चुके हैं। भक्त, तुलसी, चरणचिह्न, गुण, गोपीचन्दन, उच्छिष्ट, माला, गन्धमाल्य आदि उद्दीपन विभाव हैं। श्रीकृष्णोक्त करुणादि अनुभाव हैं। स्तम्भ आदि आठ सात्त्विक हैं। हर्ष, गर्व आदि संचारी हैं। स्नेह आदि स्थायी हैं। श्रीकृष्ण के वियोग में तो दश दशा होती हैं, जैसे—अङ्गों में १.ताप, २.कृशता, ३.पृथ्वी कोप, ४.शून्यता, ५. अधृति, ६.जडता, ७.व्याधि, ८.उन्माद, ९. मूर्च्छित तथा १०. मरण। स्कन्दपुराण में लिखा है—दास्यरस का वास्तविक यथार्थ अर्थ यह है कि अपने स्वामी प्रियतम भगवान् श्रीहरि में अपने स्वाभाविक कर्म खान-पान इत्यादि अर्पण कर दें; वह भागवत धर्म हो जाय। जैसे जप एवं ध्यान आदि स्वाभाविक कर्म हैं। नारदीयपुराण में देवर्षि नारदजी ने कहा है—जिसकी ईहा=चेष्टा, मन, वाणी और कर्म द्वारा श्रीहरि की दासता (सेवकभाव) सारी अवस्थाओं में है, वह सब लोगों का भली-भाँति उद्धार कर देता है। सेव्य-सेवक सम्बन्ध दासभाव का कारण कहा जाता है। श्रीभगवान् ने कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

(गी०९/२६)

हे कुन्तीपुत्र! तुम जो खाते हो, जो होम करते हो, जो दान करते हो,

जो तप करते हो; वह सब मुझमें अर्पण कर दो। बस यही भागवत धर्म है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।

(गी० ५/१०)

मुझ परब्रह्म वासुदेव श्रीकृष्ण में समर्पण करके तथा फलों की अभिलाषाओं को छोड़कर केवल श्रीभगवान् की आज्ञा-पालनात्मक भजन बुद्धि से जो कर्म करता है, वह पापों में लिप्यमान नहीं होता; जिस प्रकार कमल, जल में रहकर भी अलग रहता है।

ब्रह्मज्ञानी जितेन्द्रिय श्रीसुदामाजी कहते हैं—

तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्।
महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः।।

(भा० १०/८१/३६)

कल्याणगुणों के आलय, महान् प्रभावशाली, उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण के साथ सहृदयता, सखाभाव, मित्रता एवं दासभाव, सेव्य-सेवक भाव मेरा जन्म-जन्म में बना रहे, मेरा मन उनमें लगा रहे और उनके सेवकों का सङ्ग मुझे प्राप्त होता रहे।

श्रीदुर्वासाजी श्रीभगवान् के सेवकों का (दासों का) महत्त्व-वर्णन करते हैं—

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे।
कृतागसोऽपि यद्राजन् मङ्गलानि समीहसे।।

(भा०९/५/१४)

अहो! यह बड़ी अत्याश्चर्य की बात है कि भगवान् श्रीहरि के दासों का (सेवकों का) आज मैंने माहात्म्य देखा कि हे राजन्! मेरे अपराध करने पर भी तुमने मेरा मङ्गल ही चाहा है; तुम्हें मारने के लिये कृत्यानल भेजा, तुमने सुदर्शनचक्र से मेरे प्राणों की रक्षा की है।

श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—**भगवन्भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम्।** अर्थात् हे भगवन्! मैं नाना योनियों में भटक रहा हूँ; मुझे तुम अपना दास्य योग बताओ।

श्रीमद्भागवत (११/२६/२७) में भगवान् ने दासों के आठ लक्षण बताये हैं—

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहङ्काराः निर्द्वन्द्वाः निष्परिग्रहाः।।

सन्त पुरुष किसी से कुछ अपेक्षा नहीं करते हैं। मुझमें उनका चित्त लगा रहता है। मैं जगत् की सृष्टि, पालन, लय का कारण हूँ—जानकर वे शान्त चित्त होकर सदा मेरा ध्यान करते हैं। वे सबको समान भाव में देखते हैं। किसी द्रव्य या वस्तु में उनकी ममता नहीं होती है। वे निरहङ्कारी होते हैं। जितने द्वन्द्व धर्म हैं, उनको सहन करते हैं; जैसे सुख-दुःख, जय-पराजय, शीत-उष्ण इत्यादि और परिग्रहशून्य होते हैं।

तत्र शान्तिभक्तिरसे निखिलजगदेककर्ता परमात्मा नारायणः परब्रह्म नराकृतिचतुर्भुजश्रीकृष्णविषयालम्बनः। अनन्तानवद्यः सर्वज्ञः सत्यसङ्कल्पत्वादिकल्याणगुणाकरः, अनवधिकातिशयानन्दस्वरूपः शङ्करेन्द्रादयो देवा आश्रयालम्बनः। उपनिषद्विचारादय उद्दीपनविभावाः, नासाग्रदृष्ट्यादयोऽनुभावाः। प्रलयवर्जिता अस्रुपुलकरोमाञ्चाख्याः सात्त्विकाः। निर्वेदस्मृत्यादयः सञ्चारिणः। शान्ति स्थायीति।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिकाः—शान्त भक्तिरस में सम्पूर्ण जगत् के एक ही कर्ता, धर्ता, संहर्ता अनन्त निर्दोष सर्वज्ञ सत्यसङ्कल्पत्वादि कल्याणगुणों की खान, जिससे बड़ा जिसके समान दूसरा कोई नहीं है; ऐसे आनन्दस्वरूप परमात्मा परब्रह्म नराकर चतुर्भुज नारायण ऋषि श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। रुद्र-इन्द्रादि देवगण आश्रयालम्बन हैं। उपनिषद् विचार आदि उद्दीपन भाव हैं। नाक के आगे दृष्टि रखना आदि अनुभाव हैं। प्रलय को छोड़ करके आँसू पुलक रोमाञ्च आदि सात्त्विक हैं। निर्वेद, स्मृति आदि सञ्चारी हैं। शान्तिरति स्थायी है।

विशेष बात यह है कि श्रीभगवान् जैसे द्विभुज, वंशी-विभूषित हैं, वैसे ही चतुर्भुज भी हैं—रूपमेतच्चतुर्भुजम् (भा०१०/८६/५४)।

एवं सख्यरसेऽपि चतुरशिरोमणिः सत्यसङ्कल्पो मेधावी सुन्दर सुवेशो द्विभुजः श्रीकृष्णो विषयालम्बनः मधुमङ्गलसुबलनामानः सखादयोऽनेकविधाः सखा आश्रयालम्बनाः। शृङ्गवेत्रादयः चोद्दीपनभावाः।

एकशय्यासनभोज्यविविधविचित्रपरिहासविहारबाह्यबाहकादिकेल-प्रभृतयोऽनुभावाः। स्तम्भादयोऽष्टौ सात्त्विकाः। हर्षगर्वाद्या सञ्चारिणः। सख्यरति स्थायीभावः दशदशा पूर्ववत्।

अथ वात्सल्यरसः। वात्सल्यरसे तु कोमलाङ्गः कलभाषणः सर्वलक्षणसंयुतः कौमारः लाल्यः बाल्यः श्रीकृष्णविषयालम्बनः। नन्दोपनन्द-रोहिणीयशोदाद्या आश्रयालम्बनाः। स्मितजल्पितचेष्टिताद्या उद्दीपनविभावाः।

अङ्गाभिमार्जनाशीर्वादनिदेशलालनपालनादयोऽनुभावाः। अत्राष्टौ सात्त्विकाः स्तनश्रुववस्तुविशेषः। हर्षशङ्काद्या व्यभिचारिणः। वात्सल्यं स्थायी। वियोगे दशदशा तु पूर्ववत्। शुक्लरसे च सर्वमाधुर्यकमनीयकिशोरमूर्तिः श्रीकृष्णो विषयालम्बनः। श्रीकृष्णप्रिया आश्रयालम्बनः। गुणवंशी-रववसन्तकोकिलाद्या उद्दीपनाः। कटाक्षस्मितादयोऽनुभावाः। सर्वेऽपि सात्त्विकाः। आलस्योग्रहीना निर्वेदादयो व्यभिचारिणः। प्रियता रति स्थायी। हास्यादीनामत्रैव भावत्वात् पञ्चैव रसाः।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—इस प्रकार सख्य रस में भी चतुरशिरोमणि सत्यसङ्कल्प अप्रतिहता धारणा शक्ति सुन्दर सुवेश दो भुजा वाले श्रीकृष्ण विषयालम्वन हैं। मधुमङ्गल-सुबल नाम के सखादि अनेक प्रकार के आश्रय आलम्बन हैं। शृङ्ग-वेत्र आदि उद्दीपन विभाव हैं। एक शय्या पर शयन, एक आसन पर वैठना, एक थाली में भोजन, नाना प्रकार की विचित्र परिहास-विहार चढ़ा-चढ़ी के खेल इत्यादि अनुभव हैं। स्तम्भ आदि आठ सात्त्विक हैं।

हर्ष-गर्व आदि संचारी हैं। सख्यरस स्थायीभाव है। दश दशा पूर्ववत् हैं।

अव वात्सल्यरस ध्यान से सुनिये—वात्सल्यरस में तो कोमल अङ्ग, मनमोहक, मनोहर, मधुर वचन समस्त लक्षणों से संयुक्त कौमार=पञ्च वर्ष पर्यन्त के बालकृष्ण विषय आलम्बन हैं। नन्द, उपनन्द रोहिणी-यशोदा आदि आश्रयालम्बन हैं। मन्द-मुस्कान बोलना-चपलता चेष्टा आदि उद्दीपन हैं। अङ्ग का अभिमार्जन, आशीर्वाद, आज्ञा, लालन-पालन आदि अनुभाव हैं। यहाँ आठ सात्त्विक हैं। स्तनों में से दूधक्षरण यह विशेष है। हर्ष-शङ्कादि व्यभिचारी हैं। वात्सल्यरस स्थायी है। वियोग में दश दशा पूर्ववत् हैं।

शुक्लरस में सभी माधुरी से भरे अतिसुन्दर किशोरमूर्त्ति अर्थात् हमेशा सोलह वर्ष अवस्था वाली मूर्त्ति श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। श्रीकृष्ण की प्यारी आश्रयालम्बन हैं। गुण, बाँसुरी-ध्वनि, वसन्त-कोकिल आदि उद्दीपन हैं।

कृपा-कटाक्ष, प्रेमभरी मुस्कान आदि अनुभाव हैं। ये सब सात्त्विक हैं। आलस्य और उग्रता को छोड़कर निर्वेद आदि व्यभिचारी हैं। प्रियता रति स्थायी हैं। हास्य आदि यही भाव है। रस पाँच ही हैं। हम पीछे लिख चुके हैं।

नाम और नामी में अभिन्नता देखिये; पद्मपुराण में लिखा है—

नाम चिन्तामणिः कृष्णः चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धः सदा मुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः।।

नाम चिन्तामणि वही कृष्ण हैं, चैतन्य रस विग्रह है। कृष्ण सदा सब ओर से पूर्ण हैं। सदा मुक्त हैं। नाम नामी से भिन्न नहीं है, एक ही है। स्मृति कहती है—

नामैव तव गोविन्द नाम त्वत्तः शताधिकम्।
ददात्युच्चारणान्मुक्तिं भवानष्टाङ्गयोगतः।।

हे गोविन्द! तुमसे और अष्टाङ्गयोग से निश्चय ही तुम्हारा नाम सौगुना अधिक है। तुम नाम उच्चारणमात्र से मुक्ति (मोक्ष) प्रदान करते हो।

श्रीमद्भागवत (११/२/४०) में कवि नामक योगीश्वर ने श्रीहरि नाम-कीर्तन के बारे में बताया है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः।।

इस प्रकार व्रत धारण करने वाला भक्त अर्थात् श्रीभगवन्नाम रटने का व्रत है जिसको, अपने प्यारे सखा के नाम-कीर्तन से उत्पन्न अनुराग, प्रेम का अङ्कुर उग जाता है, जिससे उस भक्त का चित्त पिघल जाता है। अब वह भक्त साधारण लोगों की स्थिति से ऊपर उठ जाता है। लोगों की मान्यताओं, धारणाओं से परे हो जाता है। अभिमान से नहीं, दम्भ से नहीं, स्वभाव से ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है, तो कभी मधुर स्वर से उनके गुणों का गान करने लगता है। कभी-कभी जब वह अपने प्रिय सखा को अपने नेत्रों के सामने दीखने लगता है, तब मतवालों के समान नाचने लगता है। वस्तुतः जीवात्मा का सखा परमात्मा ही है।

दक्ष प्रजापति इसीलिये पूर्वसिद्ध हंसगुह्यस्तोत्र से श्रीभगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—

न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन्।
गुणो यथा गुणिनोऽव्यक्तदृष्टे तस्मै महेशाय नमस्करोमि।।

(भा०६/४/२४)

यह जीव अपने सखा=परमात्मा के इसी शरीर में बैठा है, सखा के सखाभाव को नहीं जानता है, जैसे गुण विषय गुणी विषयी इन्द्रियों को नहीं जानता है। मैं उस अव्यक्त दृष्टि के विषयगोचर महेश को नमस्कार करता हूँ।

भगवती श्रुति स्वयं पुराण की बातों को प्रमाणित करती है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

(मु०उ०३/१)

जीव और ईश्वर दो पक्षी कभी न बिछुड़ने के कारण सखा हैं। दोनों का नित्य सम्बन्ध हैं। यह नाशवान् शरीर एक वृक्ष है, उसी में दोनों सखा जीवात्मा और परमात्मा घोंसला बनाकर रहते हैं।

समानमेकं वृश्च्यते छिद्यते इति वृक्षस्तं वृक्षवच्छेदनयोग्यं शरीरं परिष्वज्य वर्तेते। ओव्रश्चू छेदने। काटना।

दोनों सखा उपकार्य और उपकारकभाव से रहते हैं। गमन साधनरूप से वर्ण शब्द द्वारा बताया गया है। पक्ष-तुल्य समान ज्ञानादि गुणवान हैं। इतनी समानता होने पर भी जीव तो शरीररूप वृक्ष के फल अर्थात् शरीर सम्बन्ध से किये गये कर्मों का फल सुख-दुःख आदि को भोगता है। दोनों से भिन्न, दोनों के नियन्ता रूप से परमात्मा उसमें अनासक्त हैं। उसके फलों को न खाता हुआ अतिशय प्रकाशित कर रहा है। यही भगवान् की भगवत्ता है, यही ईश्वर की ईश्वरता है। यह परमात्मा की विलक्षणता है। इसीलिये कहा गया है—

अस्मिन् शरीरे सखा वसन् यस्य सख्युः सख्यं जीवः न वेद न जानाति तस्मै महेशाय नमस्करोमि।

जैसे अर्जुन नहीं जानते हैं; श्रीकृष्ण जानते हैं—

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप। (गी०४/५)

तस्मात् **जीवो ब्रह्मैव नापरः** कथनं नैव शोभते।

श्रीभगवान् के व्रजमण्डल की लीला में सहायक एवं उनसे अवस्था में बड़े सुभद्र, भद्र, भद्रवर्द्धन, गोभट, वीरभट बलभद्र आदि हैं।

समान उम्र वाले श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, सुबल और मधुमङ्गल आदि

हैं। छोटे में विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, वरुथ आदि हैं। वैष्णव सिद्धान्त में सारी क्रियायें वर्तमान में होती हैं। व्रजमण्डल में रहने वाले इन सखाओं के द्विभुज श्रीकृष्ण पौगण्ड अर्थात् पाँच वर्ष से प्रारम्भ कर ग्यारह वर्ष पर्यन्त विषयालम्बन है। वह जैसे—**एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत्।** (भा० ३/२/२६) अर्थात् श्रीकृष्ण छिपकर व्रज में बलरामजी के साथ ग्यारह वर्ष रहे, जैसे भस्मी में अग्नि छिपी रहती है। ब्रह्माजी श्रीभगवान् की पौगण्ड लीला का स्तवन करते हुए कहते हैं—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय।।
(भा० १०/१४/१)

वंशीधरं सकललोकभवादिहेतुं श्रीशं नमामि शरणं भजतं शरण्यम्।
ब्रह्मादिवन्द्यचरणं द्विभुजं महान्तं पीताम्बरं प्रियममोघवरं व्रजेशम्।।[1]

हे भगवन्! संसार में स्तुति करने योग्य एकमात्र आप ही हैं। मैं आप को प्रसन्न करने के लिए आपके लिये नमस्कार कर रहा हूँ। आपका यह अप्राकृत शरीर वर्षाकालीन मेघ के समान श्यामल है, उस पर बिजली के समान पीताम्बर चमक रहा है। आपके गले में घुँघची की माला, कानों में मकराकार कुण्डल तथा सिर पर मोरपंखों का मुकुट सुशोभित है। इन सब की कान्ति से आपके मुख पर अनोखी छटा छिटक रही है। वक्षःस्थल पर लटकती हुई वनमाला और नन्हीं सी हथेली पर दही-भात का कौर। बगल में वेंत और सिंगी और फेंटे में आपकी द्विभुजता का पहचान बताने वाली बाँसुरी शोभा पा रही है। कक्षा में श्रीजी का चिह्न कमल से सुकोमल परम सुकुमार श्रीचरण द्विभुज गोपवेश नन्दनन्दन नन्दबाबा के प्यारे बेटे व्रजवासियों के प्यारे श्रीकृष्ण को हमारा बार-बार नमस्कार है।

जिनके श्रीचरणकमलयुगलद्वय ब्रह्मादि देवगणों द्वारा वन्दनीय हैं, जो चौदह लोकों के कारण हैं, जो भजन करने वालों को शरण देने वाले हैं। जो पीले कपड़े धारण करने वाले हैं। जो सबके प्रिय हैं। जिनका वर अमोघ है। उन महान् व्रजेश्वर मुरलीधर श्रीधर द्विभुज रमाकान्त भगवान् श्रीकृष्ण को मैं मन, वाणी और शरीर से नमन करता हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण सखाओं के साथ एक जगह बैठे हैं—

---

१. **द्रष्टव्य**—श्रीमद्भागवते निम्बार्कवेदान्तस्यसमन्वयः (हिन्दीभाषानुवादसहितः)—डॉ० स्वामी द्वारकादासकाठियाबाबा।

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलैरभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः।
सहोपविष्टा विपिने विरेजुश्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः।।

सखाओं के बीच में भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हुए हैं। उनके चारों ओर सखाओं ने बहुत-सी मण्डलाकार पंक्तियाँ बना लीं और एक से एक सटकर बैठ गये। सबके मुँह श्रीकृष्ण की ओर हैं और सबकी आखें आनन्द से खिल रही थीं। वनभोजन के समय श्रीकृष्ण के साथ बैठे हुए ग्वाल-बाल ऐसे शोभायमान हो रहे थे, जैसे कमल की कर्णिका के चारों ओर उसकी छोटी-बड़ी पँखुड़ियाँ सुशोभित हो रहीं हों। अब श्रीभगवान् सखाओं के सङ्ग भोजन कर रहे हैं—

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः।।

(भा०१०/१३/११)

भगवान् श्रीकृष्ण बाँसुरी को कमर के फेंटे में आगे की ओर खोंस लिये और सिंगी और वेंत को बगल में दबा लिये, बाँयें हाथ में बड़ा ही मधुर घी मिलाया हुआ चिकना दही-भात का ग्रास था और अँगुलियों में अदरक-आँवला-नीबू आदि के अचार-मुरब्बे दबा लिये, उनके सखा ग्वाल-बाल उनको चारों ओर से घेरकर बैठे हुए थे और वे स्वयं सबके बीच में बैठकर अपनी विनोदभरी बातों से अपने पास बैठे सुहृद् मित्रों को हँसाते जा रहे थे। जो समस्त यज्ञों के एकमात्र भोक्ता हैं वे ही परमात्मा परब्रह्म व्रजवासी ग्वाल-वालों के साथ बैठकर इस प्रकार बाल-लीला करते हुए भोजन कर रहे हैं और स्वर्ग के देवता आश्चर्यचकित होकर यह अलौकिक श्रीभगवल्लीला का दर्शन कर रहे हैं।

नाना प्रकार के विचित्र परिहास विहार का वर्णन करते हैं—

नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः।
गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रसशंसतुः।।
क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः।।
पादसंवाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन्।।

(भा०१०/१५/१५-१७)

जब श्रीभगवान् के सखा ग्वालबाल नाचने लगते हैं और कभी ताल ठोंक-ठोंककर एक दूसरे से कुश्ती लड़ने लगते हैं तब दोनों भैय्या कृष्ण-बलदेव हाथ में हाथ डालकर खड़े हो जाते और हँस-हँसकर 'वाह-वाह' करके बढ़ाई करते हैं। कभी-कभी स्वयं श्रीकृष्ण ग्वाल-बालों के साथ कुश्ती लड़ते-लड़ते थक जाते हैं तो किसी सुन्दर वृक्ष के नीचे कोमल पल्लवों की बिछाये सेज पर किसी ग्वाल-बाल की गोद में सिर रखकर लेट जाते हैं। उस समय कई अपहतपाप्मा ग्वाल-बाल महात्मा श्रीकृष्ण का पादसेवन करने लगते हैं और दूसरे कई निष्पाप गोपबालक उन्हें बड़े-बड़े पत्तों या अँगोछियों से अच्छी तरह पंखा करते हैं।

अब आप लोग जरा ध्यान से बाह्य-वाहक आदि श्रीभगवल्लीला को सुनिये—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम्।।

(भा० १०/१८/२४)

श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा।
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन्।।

(भा० १०/१५/२०)

यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे।।

(भा० १०/१२/६)

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः।।
गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः।
कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता रुदत्य इव तस्थिरे।।

(भा० १०/१६/१०-११)

भगवान् श्रीकृष्ण के सखा ग्वाल-बालों ने तरह-तरह से ऐसे बहुत से खेल खेले, जिनमें एक दल के लोग दूसरे दल के लोगों को अपनी पीठपर चढ़ाकर एक निर्दिष्ट स्थान पर ले जाते थे। जीतने वाला दल चढ़ता था और हारने वाला दल ढोता था। हारे हुए श्रीकृष्ण ने श्रीदामा को अपनी पीठ पर चढ़ाया, भद्रसेन ने वृषभ को और प्रलम्ब ने बलरामजी को पीठ पर चढ़ाया। श्रीदामा नामक एक गोपबालक भगवान् राम तथा केशव के सखा रहे तथा

सुबल स्तोक कृष्ण (छोटे कृष्ण) आदि सखाओं ने बड़े प्रेम से बोला—अगर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण वन की शोभा देखने के लिये कुछ आगे बढ़ जाते तो पहले मैं छुऊँगा, पहले मैं छुऊँगा इस प्रकार आपस में होड़ लगाकर सब के सब उनकी ओर दौड़ पड़ते और उन्हें छू-छूकर आनन्दमग्न हो जाते हैं। कालीय दह में साँप के फणों से लिपटे हुए भगवान् श्रीकृष्ण को देखा नहीं, ऐसा देखकर उनके प्यारे सखा ग्वाल-बाल बहुत ही पीड़ित=दुःखित हुए और उसी समय दुःख, पश्चाताप और भय से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। चूँकि उन्होंने अपने शरीर-सुहृद्-धन-सम्पत्ति-स्त्री-पुत्र-भोग और कामनाएँ सब कुछ भगवान् श्रीकृण को ही समर्पित कर रखी है। गाय, बैल, बछिया और बछड़े बड़े दुःख से रँभाने लगे। श्रीकृष्ण की ओर ही उनकी टकटकी बंध रही थी। वे डरकर इस प्रकार खड़े हो गये, मानो रो रहे हों। उस समय उनका शरीर हिलता-डुलता तक नहीं था। सर्वलोकपितामह चतुर्मुख ब्रह्माजी इस सख्यरस का वर्णन करते श्रीभगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—

अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।।
एषां तु भाग्यमहिमाऽच्युत तावदास्तामेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते।।

(श्रीमद्भागवत १०/१४/३२-३३)

अहो, नन्द आदि व्रजवासी गोपों के धन्य भाग्य हैं। वास्तव में उनका अहोभाग्य है। जिनके सखा-मित्र परमानन्द-स्वरूप-सनातन-परिपूर्ण ब्रह्म आप उनके अपने सगे-सम्बन्धी और सुहृद्=निरपेक्ष हितकारी हैं।

हे अच्युत! इन सखाओं के भाग्य की महिमा तो इन्हीं में ही हैं। पर हम सभी शिवादि देवगण ग्यारह रुद्र के बड़े भारी भाग्य हैं, जो इनकी नासिका श्रोत्र नेत्रादि इन्द्रियों पर बैठकर बारम्बार अर्थात् आपके इन ब्रजवासी सखाओं की मन आदि ग्यारह इन्द्रियों को प्याले बनाकर हम आपके श्रीचरणकमलों का अमृत से भी मीठा, मदिरा से भी मादक मधुर मकरन्दरस का पान करते हैं। यद्यपि श्रीभगवान् के सखाओं की इन्द्रियों पर देवताओं का प्रवेश नहीं है, तथापि लोकरीति के अनुसार बताये हैं। इस प्रकार सख्यरस का संक्षिप्त वर्णन किया गया।

तदुक्तम्भवति—हृषीकाणाम्=इन्द्रियाणम् ईशः=स्वामी इति हृषीकेशः।
ग्यारह इन्द्रियों के स्वामी श्यामसुन्दर हैं। अब वात्सल्यरस का पान करें—

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ।।

(श्रीमद्भा० १०/९/३)

पुत्र के स्नेह से दोनों स्तनों में से दूध स्वाभाविक चूता जा रहा है, यही यशोदा मैय्या का वात्सल्यरस है। मैय्या के स्थूल कमर में रेशमी लहँगा डोरी से कसकर बँधा हुआ है अर्थात् जीवन में प्रमाद, आलस्य, निद्रा और असावधानी नहीं है। मैय्या के सुन्दर भौंह कम्पायमान हो रहे हैं, स्तनद्वय भी कम्पायमान हैं। मैय्या के हाथों के कङ्गन और कानों के कर्णफूल हिल रहे हैं। मुँह पर पसीने की बूँदे झलक रही हैं। चोटी में गूँथे हुए मालती के पुष्प गिरते जा रहे हैं, सुन्दर भौंहों वाली यश देने वाली यशोदा मैय्या इस प्रकार श्यामसुन्दर के लिये दही मथ रहीं हैं।

आगे यशोदा मैय्या श्यामसुन्दर से कहती हैं—

यशोदाजोहवीत् कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी।
कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब।

(श्रीमद्भागवत १०/११/१४-१५)

मैय्या ने जाकर कृष्ण को पुकारा, उस समय पुत्र के प्रति वात्सल्य स्नेह के कारण उनके स्तनों में से दूध क्षरण हो रहा था। वे जोर-जोर से पुकारने लगीं—मेरे प्यारे लाल कन्हैया! ओ कृष्ण! कमलनयन! श्यामसुन्दर! बेटा आओ, अपनी माँ का दूध पी लो। अलं विहारैः=खेलों से बस करो, हे पुत्रक! त्वं क्षुत्क्षान्तः क्रीडा श्रान्तोऽसि—तुम भूख से दुबले हो रहे हो।

व्रजराज नन्दबावा अपने लाला श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के नाना प्रकार के खेल-कूद और मीठी-मीठी वाणी, सौन्दर्य, माधुर्य, कीर्ति, गुण, प्रभावों को देखकर अपने को पूर्ण कृतकृत्य मानते थे—

नन्दः प्रमुदितो मेने आत्मानं पूर्णमाशिषाम्।

(भा० १०/८/२०)

श्रीनन्दजी यदुवंशियों के आचार्य श्रीगर्गजी से श्रीभगवान् के प्रभावों को सुनकर बहुत ही आनन्दित हुए, अपने को पूर्ण माना और सारी आशा-लालसाएँ पूरी हो गयीं, मैं अब कृतकृत्य हूँ—इस प्रकार वात्सल्यभाव के उपासक नन्द-यशोदा श्रीभगवान् को अपने पुत्ररूप में भावना करती हैं और पुत्र के समान स्नान-भोजनादि कराकर सेवा करती हैं। वे श्रीभगवान् की सर्वशक्तिमत्ता सर्वज्ञतादि की चिन्ता बिल्कुल नहीं करती हैं।

पयांसि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम्।
भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलप्रदः।।

(भा०१०/६/३९)

देवकीनन्दन भगवान् कैवल्य (मोक्ष) आदि सब प्रकार की मुक्ति और सब कुछ देने वाले हैं। उन्होंने ब्रज की गोपियों और गौओं का दूध, जो श्रीभगवान् के प्रति पुत्रभाव होने से वात्सल्यभाव की अधिकता के कारण स्वयं ही झरता और प्रभु भर पेट दूध पान करते रहे। इस प्रकार श्रीभगवान् के प्रति अगाध प्रगाढ़ वात्सल्य-स्नेह से वे तन्मय होकर प्रभु की सेवा करते थे। श्रीभगवान् की बाललीला, पूतनामोक्ष, शकटभञ्जन, तृणावर्त उद्धार, गोवर्द्धनधारण को देखकर आश्चर्यचकित होकर आनन्दित श्रीनन्दजी का श्रीभगवान् के प्रति वात्सल्यभाव देखिये—

नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रेत्यागतमुदारधीः।
मूर्ध्न्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे कुरुद्वह।।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—

कुरुषु उद्वहः श्रेष्ठं जन्म यस्य असौ कुरुद्वह—परीक्षित्! अर्थात् हे परीक्षित्! आप का कुरु-पाण्डव वंश में श्रेष्ठ जन्म है। श्रीनन्दजी बहुत ही उद्धारबुद्धि हैं; उन्होंने अपने पुत्र को मृत्यु के मुख से बचे हुए देखकर अपनी गोद में उठा लिया और बार-बार उसका सिर सूँघकर परमानन्द को प्राप्त हुए।

अब यशोदा और रोहिणी देवी का वात्सल्य-स्नेह देखिये—

तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः।।
तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम्।
दत्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम्।।
शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम्।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम्।।

(श्रीमद्भा०१०/८/२२-२३,२५)

वे दोनों भैय्या कृष्ण-बलदेव नन्हें-नन्हें दोनों श्रीचरणकमलों को व्रज की कीचड़ों में घसीटते हुए चलते हैं। उस समय उनके श्रीचरणारविन्दद्वय और कमल के घुँघरु रुनझुन बजने लगते हैं। वह शब्द बड़ा भला मालूम पड़ता है। यहाँ देखिये, व्रज की कीचड़ों में सुन्दर घोष-प्रघोष ध्वनि और प्रतिध्वनि नाद

और प्रणाद—यह अपूर्वता है। दोनों भाई स्वयं वह ध्वनि-प्रध्वनि सुनकर बड़े हर्ष से मन से खिल उठते हैं। कभी-कभी वे रास्ते से चलते, किसी अज्ञात व्यक्ति के पीछे ही हो लेते हैं। फिर जब देखते हैं कि यह तो कोई दूसरा है, तब वे डरपोक की भाँति डरकर अपनी माताओं—रोहिणीजी और यशोदाजी के पास लौट आते हैं। उनकी माताएँ अपने पुत्रों का यह खेल देखती हैं तो दया से उनके दोनों स्तनों से दूध की धारा बहने लगती हैं, जब उनके दोनों नन्हें-नन्हें से बालक व्रज की गली के कीचड़ों से सने अपने शरीर में अङ्गराग लगाकर लौटते हैं, तब उनकी सुन्दरता की अपूर्व झाँकी देखने को मिलती है। माताएँ उन्हें आते ही दोनों हाथों से उठाकर गोद में लेकर अपनी छाती में लगा लेतीं हैं और स्तन-पान कराने लगतीं हैं। जब वे माँ का दूध पीने लगते और पीते हुए बीच-बीच में मुस्कराते तो नन्दरानी और रोहिणीजी श्रीमुख को और दँतुलियों को देखकर बड़े आनन्द को प्राप्त होती थीं। श्रीकृष्ण और बलराम दोनों ही खेलने में बड़े चतुर-चपल थे; वे कहीं सींगवाले गाय आदि के पास दौड़ जाते, तो कहीं धधकती हुई आग से खेलने के लिये कूद पड़ते।

कभी दाँत से काटने वाले कुत्तों के पास पहुँच जाते हैं, तो कभी तलवार उठा लेते हैं। कभी कुएँ या गड्ढे के पास जल में गिरते-गिरते बचते, कभी मोर आदि पक्षियों के निकट चले जाते और कभी काँटों की ओर बढ़ जाते। बलराम-कृष्ण की माता अपने पुत्रों का निषेध करने के लिये सामर्थ्यवान नहीं होतीं, श्रीभगवान् की लीला लोक की भाँति होती है। जो मोक्षदायिनी होती हैं, सूत्रार्थ यही है। पूर्ण होकर के मन की असावधानी को प्राप्त होती। यह माताद्वय रोहिणी व यशोदा के सुख की पराकाष्ठा है। **लोकवत्तु लीला कैवल्यम्** (ब्र०सू०२/१/३२)

आशीर्वचन जैसे—

> **ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं पाहीति बालके।**
> **हरिद्रचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्यो जनमुज्जगुः।।**
>
> (श्रीमद्भा०१०/५/१२)

जो गोपकन्याएँ नन्दबाबा के राजभवन में श्रीभगवान् के जन्म-महोत्सव में आई हैं, वे नवजात शिशु को आशीर्वाद देते हुए कहती हैं—यह चिरंजीवी हो। हे भगवन्! इसकी रक्षा करो और लोगों पर हल्दी-तेल से मिला हुआ जल छिड़क देतीं तथा ऊँचे स्वर से मङ्गलगान करती हैं।

आज्ञापालन जैसे—

गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद् भगवान् बालवत् क्वचित्।
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत्।।
बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्।
बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन्।।
(श्रीमद्भा० १०/११/७-८)

सर्वशक्तिमान सर्वनियन्ता सर्वाधार सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण कभी-कभी गोपीजनों के नचाने से, फुसलाने से साधारण बालकों के समान नाचते हैं। सर्वज्ञ भगवान् सब जानते हुए कभी भोले-भाले अनजान बालक की तरह उद्गान करने लगते हैं। वे उनके हाथ की कठपुतली, उनके अधीन हो जाते हैं। कभी उनकी आज्ञा से पीढ़ा ले आते तो कभी दूसरे तौलने के बटखरे उठा लाते, कभी खड़ाऊँ उठा लाते तो कभी अपने प्रेमी भक्तजनों को आनन्दित करने के लिये पहलवानों की भाँति ताल ठोंकने लगते।

वात्सल्यरस के आभासमात्र से पूतना मोक्ष को प्राप्त हो गई; जैसे—

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयाऽपि हरये स्तनं दत्वाऽऽप सद्गतिम्।।
किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने।
यच्छन् प्रियतमं किं नु रक्तास्तन्मातरो यथा।।
(श्रीमद्भागवतम्-१०/६/३५-३६)

खून पीने वाली, लोगों के बच्चों को मारने वाली राक्षसी पूतना श्रीहरि को भी मार डालने की इच्छा से ही स्तन पिलाया; फिर भी उसे सद्गति प्राप्त हुई। जो परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण को श्रद्धा और भक्ति से माता के समान वात्सल्यभाव-स्नेह-अनुरागपूर्वक अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु और उनको प्रिय लगने वाली वस्तु समर्पित करते हैं, उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है?

वात्सल्यरस के श्रीभगवान् की किशोरमूर्त्ति की झाँकी का दर्शन—

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः।।
(श्रीमद्भा० १०/१५/४२)

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद् वासःकनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः।।
(श्रीमद्भा० १०/२१/५)

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्हधातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्।।

(श्रीमद्भा० १०/२३/२२)

श्रीमद्भागवतस्थ इन तीनों श्लोकों में सदा किशोरावस्था में शृङ्गाररस, माधुर्यरस, वात्सल्यरस का वर्णन है और भगवान श्रीहरि हमेशा किशोर अवस्था में ही रहते हैं—

अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम्।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम्।।

(श्रीमद्भा०३/२८/१७)

आनन्दमजरन्नित्यं श्रीगोपीजनजीवनम्।
अनन्ताचिन्त्यलावण्यं नमामि पुरुषोत्तमम्।।

(छा० उ० मङ्गलाचरणम्)

श्रीभगवान् के अनुयायी उनके सखा व्रजवासी ग्वाल-बालों एवं बलरामजी के साथ श्रीभगवान् गौएँ चराते हुए वृन्दावन में प्रवेश कर रहे हैं; उस समय भगवान् श्रीकृष्ण की घुँघराली अलकों पर गौओं के खुरों से उड़-उड़कर धूलों की छवि देखने में बहुत सुन्दर, सिर पर मोरपंख का मुकुट शोभायमान है, बालों में सुन्दर वनमाला है, कमलनयनों में मधुर चितवन, श्रीमुख पर मनोहर मुस्कान है, वे मधुर-मधुर वेणुवादन कर रहे हैं, सखा ग्वाल-बाल उनके यश का गान कर रहे हैं। वंशीधर की वंशी की ध्वनि सुनकर गोपियाँ एक ही साथ घर से बाहर निकल आयीं। उनकी आखें न जाने कब से श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये तरस रही थीं।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा ग्वाल-बालों के साथ वृन्दावन में प्रवेश कर रहे हैं; उनके सिर पर मयूर का मुकुट सुशोभित है, कानों पर कनेर के पीले-पीले पुष्प हैं, दिव्यशरीर पर पीताम्बर है, गले में पाँच प्रकार के सुगन्धित पुष्पों की बनी वैजयन्तीमाला है। रङ्गमञ्च पर अभिनय करते हुए श्रेष्ठ नट का-सा क्या ही सुन्दर दिव्य वेष है। बाँसुरी के छिद्रों को वे अपने अधरामृत से भर रहे हैं। उनके पीछे-पीछे ग्वाल-बाल उनकी लोकपावन कीर्ति का गान कर रहे हैं। इस प्रकार श्रीभगवान् के अपने चरणचिह्नों से श्रीधाम वृन्दावन रमणीय बन गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण के साँवले शरीर पर सुनहला पीताम्बर झिलमिला रहा है। गले में वनमाला शोभा पा रही है। मस्तक पर मोरपंख का मुकुट है। अङ्ग-

प्रयङ्ग में विविध धातुओं के अलङ्कार हैं। नये-नये कोपलों के गुच्छे शरीर में लगे हैं। नट का-सा दिव्य वेष है। एक हाथ अपने सखा ग्वाल-बाल के कन्धे पर रखे हुए हैं और दूसरे हाथ से कमल का फूल नचा रहे हैं। कानों में कमल के कुण्डल हैं। कपोलों पर घुँघराली अलकें लटक रहीं हैं और मुखकमल मन्द-मन्द मुस्कान की रेखा से प्रफुल्लित हो रहा है।

इस माधुर्य रसोपासन के रसिक जन जरा और भी ध्यान दें; जो देखने में बहुत सुन्दर हैं, जिनकी सदा किशोरावस्था है, समस्त लोक जिनको सदा नमस्कार करते हैं। जो अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये व्याकुल रहते हैं। जो नित्य किशोर अवस्था में रहते हैं; उन आनन्दमय, अनन्त स्वरूप, अचिन्त्य लावण्य-सौन्दर्य गोपीजनवल्लभ पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ। श्रीकृष्ण को प्रणाम करने वाले व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता है, यह बात महाभारत में लिखी है।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति सर्वशास्त्रविधिसूत्रार्थं वदन्नुपसंहरति श्रीभगवान् सुदर्शनचक्रावतारः जगद्‌गुरु निम्बार्काचार्यः—उपास्यरूपनित्यादिना।

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः।।

१. इमे पञ्च अपि अर्थाः साधुभिः ज्ञेयाः इत्यन्वयः। उपास्य श्रीकृष्णस्य रूपं=निखिलजगदेककारणत्वं सर्वस्वरूपश्रेष्ठत्वं सर्वमाधुर्यत्वम् अनन्तानवद्य-कल्याणगुणगणकरत्वम् अनन्यापेक्षमहिमैश्वर्यत्वादि।

२. उपासकस्य=जीवात्मनः तावद्रूपं शरीरेन्द्रियादिभ्योऽन्यत्वं प्रपन्नत्वादि। एते जीवात्मपरमात्मरूपे पूर्वं निरूप्यते।

३. कृपाफलं तु श्रीमद्भागवते प्रोक्तम्—

यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठताम्।।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्।
तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम्।।

एतदपि निरूपितं प्राक्।

४. ततो भक्तिरसः शान्तादि सोऽपि निरूपितः।

५. एतदाप्तेः=श्रीकृष्णप्राप्तेर्विरोधिनः=प्रतिबन्धकस्यरूपं भक्तापराधत्वं विषयासक्तत्वं उचितस्य परित्यागमनुचितस्य करणं विद्धैकादशीव्रतमित्यादि।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—१.उपास्यरूपम्—

उपास्य देवता सगुण परमेश्वर भगवान् प्रियाप्रियतम नित्य युगल-किशोर श्रीश्रीराधाकृष्ण जो अनन्त, अचिन्त्य, असंख्येय, कारुण्य, वात्सल्य, माधुर्य, सौहार्द्रादि कल्याणगुणों के आधार, सर्वशरण्य, सर्वोपास्य, सर्वनियन्ता, सर्वात्मक, निरवच्छिन्न आनन्दानुभूतिरूप अकारणकरुणावरुणालय मोक्ष के दाता, ये सारी बातें बगैर जाने उनकी उपासना करने की प्रवृत्ति नहीं होती हैं; इसलिये मुमुक्षु के लिये उपास्य के स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

२.तदुपासकस्य च—श्रीभगवान् के उपासक जीव जो ज्ञानस्वरूप, श्रीभगवान् के अंश, सुतरां सम्पूर्ण अधीन, श्रीभगवान् ही जो उनकी आत्मा हैं एवं वे ही जो उनकी एकमात्र गति हैं, ये सारी बातें बिना जाने उनके प्रति भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती; इसलिये उपासक को स्वीय जीवात्मस्वरूप का ज्ञान होना अनिवार्य है।

३.कृपाफलम्—श्रीभगवान् की कृपा का फल मोक्ष का स्वरूप अवगत न होने पर उसकी प्राप्ति के लिये उपासना में प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि मोक्ष के स्वरूप को अवश्य जानें।

४.भक्तिरसः ततः परम्—भक्ति का रस अर्थात् प्रेमानन्दस्वरूप फलरूपा भक्ति जिसे प्रेमलक्षणा पराभक्ति कहते हैं, उसके द्वारा जो श्रीभगवान् की प्राप्तिरूप मोक्षलाभ होता है, भक्तिरस को बिना जानें, वह प्रेमलक्षणा पराभक्ति प्राप्त करके मोक्षलाभ के लिये उपासना में प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये उस प्रेमलक्षणा पराभक्ति के स्वरूप को जानना चाहिये।

५.विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेः—श्रीभगवान् की प्राप्ति के जो-जो विरोधी हैं, उनका परित्याग करके ही साधक मोक्षमार्ग में अग्रसर हो सकते हैं, इसलिये विरोधी रूप को जानना एकान्त प्रयोजन है।

कर्म-निर्मित पुण्य अर्जित सब लोकों के अनुभवानन्तर सभी को नाशवान जानकर जगत्कारणब्रह्म श्रीकृष्ण की जिज्ञासा करनी चाहिये। इस प्रकार सारे शास्त्रविधि-विधान के जो सूत्रों के अर्थ को कहते हुए श्रीभगवान् सुदर्शनचक्रावतार जगद्गुरु निम्बार्काचार्य **'वेदान्तकामधेनु'** दशश्लोकी ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं—१.उपास्यदेवता परब्रह्मस्वरूप राधाकृष्ण का स्वरूप, २.उपासक जीवात्मा का स्वरूप, ३.श्रीभगवत्कृपा का फल, ४.श्रीभगवद्भक्तिरस तथा ५.श्रीभगवान् की प्राप्ति के विरोधी रूप से पाँच अर्थ=प्रयोजन साधुओं को जानना चाहिये। इसे **अर्थपञ्चक** कहते हैं।

उपास्य श्रीकृष्ण समस्त जगत् के एकमात्र कारण हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण से

श्रेष्ठ जगत्कारण रूप स्वतन्त्र थोड़ी-सी भी वस्तु पदार्थ नहीं है। सब माधुर्यरस भरे हैं। भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण-सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्य के सागर हैं; उन्हें देखे बगैर गोपीजनों के लिये एक-एक क्षण युग के समान हो जाता है।

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्।।

(भा०१०/१९/१६)

व्रज में व्रजसुन्दरियों को श्रीकृष्ण के विना एक-एक क्षण, सौ-सौ युग के समान मालूम पड़ता है। जब भगवान् श्रीकृष्ण गौओं को वन से चराकर नन्दालय में लौटे तब उनका दर्शन करके वे परमानन्द ब्रह्मानन्द में मग्न हो गयीं।

परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण अनन्त निर्दोष कल्याणगुणों की खान हैं तथा अनन्य अपेक्ष महिमा ऐश्वर्यादि। श्रीकृष्ण अनन्त हैं और उनके अनन्त कल्याण गुण हैं—**यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान्** (श्रीमद्भा०११/४/२)। श्रीभगवान् अनन्त कल्याण गुणों के आधार हैं—**मय्यनन्तगुणेऽनन्ते** (श्रीमद्भा०६/४/४८)।

निर्गुण शब्द का अर्थ है—प्राकृत हेय गुणहीन। सगुण शब्द का अर्थ है—समस्त कल्याणगुणों का आश्रय।

योऽसौ निर्गुण इत्युक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः।
प्राकृतेर्हेयसंयुक्तैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते ।।

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड)

शास्त्रों में जो जगदीश्वर कहा गया है, वह निर्गुण है। ब्रह्म को प्राकृत हेय गुणहीन बताया गया है।

विष्णुपुराण में ब्रह्म को ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज—इन सब कल्याणगुणों का आश्रय और प्राकृत हेय गुण से हीन कहा गया है—

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छक्तिवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः।।

(वि०पु०६/५/७९)

रुक्मिणीजी का पत्र देखें—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे।।

(श्रीमद्भा०१०/५२/३७)

हे त्रिभुवनसुन्दर! आपके गुणों को, जो सुनने वालों के कानों के रास्ते हृदय में प्रवेश करके एक-एक अङ्ग के ताप, जन्म-जन्म की जलन बुझा देते हैं तथा आपके अपने रूप सौन्दर्य-माधुर्य को जो नेत्र वाले जीवों के नेत्रों के लिये **अखिलार्थलाभ**=धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों के फल सुन करके हे अच्युत! मेरा चित्त लज्जा, शर्म को छोड़कर आपमें ही प्रवेश कर रहा है।

२. उपासक=जीवात्मा का स्वरूप शरीर-इन्द्रियादि से भिन्न प्रपन्नत्वादि लक्षण ये जीवात्म-परमात्मरूप में पहले निरूपण कर चुके हैं।

३. श्रीभगवत्कृपा का फल तो श्रीमद्भागवत में बताया गया है। देवर्षि नारदजी जो सुर और असुरों से स्तुत्य हैं, देव श्रीकृष्ण के समान उनका दर्शन है, सूर्य की भाँति वे लोकों में विचरण करते हैं, वैष्णवों में अग्रगण्य हैं, तद्यथा—सुरासुरेड्यो नारदः नारदो देवदर्शनः

अहो नारद धन्योऽसि विरक्तानां शिरोमणिः।
सदा श्रीकृष्णदासानामग्रणीर्योगभास्करः।।

(प०पु०उ०ख०)

वैष्णवशिरोमणि विरक्त शिरोमणि श्रीमन्नारदजी प्राचीनबर्हि से कहते हैं—जब जिस समय भगवान् श्रीहरि मन से वशीभूत होकर जिस पर कृपा कर देते हैं, वह लोक में मति को छोड़ देता है और वेद में परिनिष्ठा को छोड़ देता है अर्थात् लोगों से हमेशा अलग रहता है और कर्मकाण्ड में आग्रह नहीं करता है। असङ्ग होकर निरन्तर श्रीहरि का ध्यान करता है। यही श्रीभगवान् की कृपा का फल है।

ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्, सत्यं परं धीमहि, ध्यायेदजस्रं हरिम्।

आलोच्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुसम्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा।।

यह भी श्रीभगवत्कृपा का फल ही है।

स्वयं श्रीभगवान् 'कृपाफल' को बताते हैं—

वह मेरे अनन्य प्रेमी भक्तों का आश्रय लेकर उनसे मेल-जोल करता है, तब मैं उस पर कृपा करता हूँ। मेरी कृपा से वह परम सूक्ष्म चिन्मात्र अनन्त स्वरूप ज्ञानस्वरूप सत्यस्वरूप सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मस्वरूप मुझे प्राप्त कर लेता है। (श्रीमद्भा०१०/८८/९-१०)।

इसलिये हे उद्धव! तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति और

सुनने योग्य तथा सुने हुए विषय का भी परित्याग करके निरन्तर मेरा ही ध्यान करते हुए समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी मुझ एक की ही शरण सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करो, क्योंकि मेरी शरण में आ जाने से तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे (श्रीमद्भा० ११/१२/१४-१५)।

चौथे भक्ति का रस शान्त आदि, वह भी पीछे कह चुके हैं।

पाँचवें श्रीकृष्ण की प्राप्ति में विरोधी=बाधक यानी बाधा करने वाले रूप को कह रहे हैं—उसमें सबसे पहले भक्तजनों को सेवा-अपराधों से बचने के लिये हमेशा सावधान रहना चाहिये। जैसे कहा गया है—आगतं स्वागतं कुर्यात्=आये हुए का स्वागत करें। न जाने कौन किस वेश में आते हैं। सबमें तो वही बैठा है। विषयों में आसक्ति, उचित का परित्याग, अनुचित करना अर्थात् अनुकूलता को छोड़कर अनुचित यानी श्रीभगवान् से विमुख रहना। पाँचवें पूर्व तिथि विद्धा एकादशी आदि व्रत। व्रतोपवास के लिये जिज्ञासु व्यक्ति स्वधर्मामृतसिन्धु और निर्णयसिन्धु ग्रन्थ का अवलोकन करें।

आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीनिम्बार्क भगवान् ने एकादशी व्रतोपवास एवं भगवत्-भागवत जयन्तियों में तिथि का उदयकाल अर्द्धरात्र ४५ घटी पर ही स्वीकार किया है। स्वयं श्रीवेदव्यासजी ने भविष्यपुराण में कहा है—

उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे।
निम्बार्को भगवान् येषां वाञ्छितार्थप्रदायकः।।

श्रीनिम्बार्क भगवान् जिनके कुल में वाञ्छित फल प्रदान करने वाले हैं, उन्हें एकादशी तिथि के उपवास में उदयव्यापिनी तिथि ग्रहण करनी चाहिये।

कूर्मपुराण के अनुसार भी—

अर्द्धरात्रमतिक्रम्य दशमी दृश्यते यदि।
तदा ह्येकादशीं त्यक्त्वा द्वादशीं समुपोषयेत्।।

यदि अर्द्धरात्र का अतिक्रमण=लाँघकर अर्थात् ४५ घटी के उपरान्त दशमी तिथि प्राप्त हो तो एकादशी का त्याग कर द्वादशी का व्रत करना चाहिये। श्रीमद्भागवत में भी—

आरिराधयिषुः कृष्णं महिष्या तुल्यशीलया।
युक्तः सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम्।।

राजा अम्बरीष की पत्नी उन्हीं के समान धर्मशील, संसार से विरक्त एवं भक्तिपरायण थीं। एक बार उन्होंने अपनी पत्नी के साथ भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना करने के लिए एक वर्ष तक द्वादशी व्रत का ग्रहण किया। —

वर्जनीय नामापराध—

शास्त्रों में यह उपदिष्ट हुआ है कि नामापराधों से रहित होकर नाम-सङ्कीर्तन करना होगा अर्थात् जिससे कोई नामापराध न हो, उसके प्रति लक्ष्य रखकर सावधान होकर श्रीहरि का नाम-सङ्कीर्तन करना चाहिये।

पद्मपुराण के स्वर्गखण्ड के ४८/४७-५० श्लोक में दस प्रकार के नामापराध कहे गये हैं; जैसे—१.साधुनिन्दा, २.श्रीविष्णु से शिव का पृथक् ज्ञान, ३.श्रीगुरुदेव की अवज्ञा, ४.श्रुति और धर्मशास्त्रों की निन्दा ५.श्रीहरि नाम की महिमा-वर्णन का अर्थवाद या स्तुतिमात्र है, ऐसी कल्पना, ६.श्रीहरिनाम के माहात्म्ययुक्त अर्थ का त्याग कर अर्थान्तर कल्पना, ७.नाम मुझे पाप से मुक्त करेंगे—ऐसा विचार कर पापकार्य करना, ८.वर्णाश्रमादि धर्म, व्रत, दान, यज्ञादि को नाम के साथ समान ज्ञान, ९.श्रद्धाहीन अनिच्छुक बहिर्मुखी व्यक्ति को उपदेश-दान तथा १०.नाम की महिमा को सुनकर भी नाम नहीं करना और नाम में प्रीतिरहित होना। ये दस नामापराध श्रीभगवत्प्राप्ति और मोक्ष के विरोधी (प्रतिबन्ध) हैं, इसलिये जिससे ये सब नहीं हों, उसके प्रति लक्ष्य रखकर नाम का कीर्तन और जप करना चाहिये।

सेवापराध—

अर्चावतार (श्रीभगवद्विग्रह) सेवा-पूजा का उल्लेख पहले कर चुके हैं, उस सेवा-पूजा को भी ऐसे सावधान होकर करें, जिससे किसी प्रकार सेवापराध न हो। सेवा के द्वारा जब तक श्रीभगवान् में विशुद्ध प्रेमलाभ न हो, तब तक इन सेवापराधों से बचने के लिये सावधान रहना चाहिये। शास्त्र में ('स्वधर्मामृतसिन्धु' ग्रन्थ में उद्धृत आगमोक्त वचन में बत्तीस सेवापराध की बातें कही गयी हैं; जैसे—

१.यान में चढ़कर या पैर में पादुका लगाकर श्रीभगवान् के मन्दिर में गमन, २.देवोत्सव में विष्णुसेवा न करना, ३. विष्णु के सम्मुख उपस्थित होकर उनको प्रणाम न करना, ४.उच्छिष्ट (जूठा) अवस्था में या अशुद्धि अवस्था में श्रीभगवान् की वन्दना करना, ५. एक हाथ से श्रीभगवान् को प्रणाम करना, ७. श्रीविष्णु के सामने पैरों को फैलाना, ८.पर्यङ्क बन्धन (श्रीभगवान् के सामने वस्त्रादि के द्वारा पृष्ठ-जानु-जङ्घा बन्धन) ९.श्रीभगवान् के सामने शयन, १०.भक्षण, ११.मिथ्याभाषण, १२.जोर से बात करना, १३. परस्पर वार्तालाप करना, १४.रोना, १५.कलह करना, १६.एक को निग्रह करके दूसरे को अनुग्रह करना, १७. कर्कश शब्द बोलना, १८.कम्बल

के द्वारा शरीर को ढँकना, १९.किसी की निन्दा करना, २०.किसी की प्रशंसा करना, २१.श्लेषात्मक वाक्य या अश्लील वाक्य बोलना २२.अधोवायु का त्याग करना, २३.सामर्थ्य रहते हुए गौण उपचार से श्रीभगवान् की सेवा करना, २४.अनिवेदित वस्तुओं का भक्षण करना, २५. यथाकाल में उत्पन्न फलादि का श्रीभगवान् को अर्पण न करना, २६.दूसरे को भोजन कराकर अवशिष्ट वस्तु का श्रीभगवान् को अर्पण करना, २७.श्रीभगवान् के प्रति पीठ रखकर उपवेशन करना २८.सत् पुरुषों की निन्दा करना, २९.असत्=तुच्छ की स्तुति करना, ३०.श्रीगुरु के निकट मौन रहना, ३१.अपनी स्तुति करना और ३२.देवताओं की निन्दा करना।

ये सब श्रीभगवान् की प्राप्ति और मोक्षलाभ के विरोधी रूप (प्रतिबन्धक) हैं, इसलिये जिससे ये सब अपराध न हों, होने से निवृत्त हों, उसी प्रकार से सदा सावधानी से मोक्षार्थी व्यक्ति को श्रीभगवत्सेवा करनी चाहिये।

यह भी बिल्कुल सच है कि जितनी भी सावधानी से सेवा की जाय, मनुष्य के लिए कुछ न कुछ सेवापराध हो ही जाता है; इसलिये उन अपराधों के क्षालन का भी शास्त्रों में उपदेश है, वह यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

स्कन्दपुराण में लिखा है कि—

अहन्यहनि यो मर्त्यो गीताध्यायं तु सम्पठेत्।
द्वात्रिंशदपराधैस्तु ह्यहन्यहनि मुच्यते।।

अर्थात् जो व्यक्ति प्रतिदिन श्रीमद्भगवद्गीता के एक अध्याय का सम्यक् पाठ (अर्थसहित) करता है, पढ़ता है, वह प्रतिदिन उन ३२ अपराधों से मुक्त हो जाता है।

कार्तिकमाहात्म्य में बताया गया है—

तुलस्या कुरुते यस्तु शालग्रामशिलार्चनम्।
द्वात्रिंशदपराधान् वै क्षमते तस्य केशवः।।

जो व्यक्ति सुन्दर तुलसीदल के द्वारा नित्य शालग्राम शिला की अर्चना (पूजा) करता है, ब्रह्मा-महेश के जनक भगवान् श्रीकृष्ण उसके ३२ अपराधों को क्षमा कर देते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता धर्म की लालटेन है; इसलिये अवश्य प्रतिदिन गीता पढ़नी चाहिये। हम पीछे शालग्रामदेव की पूजा-अर्चना का माहात्म्य लिख चुके हैं।

मुक्तिस्तु निरतिशयानन्दरूपा अविद्यानिवृत्तिर्वा। केचित्तु दुरितनिवृत्तिमुक्ति-रित्याहुः। आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरित्यपरे। सिद्धान्ते तु भक्तिरेव मुक्तिः तथा चोक्तम्भवति पाद्मे—

न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते।
विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः।।
निःशेषधर्मकर्त्ता वाप्यभक्तो नरके हरे।
सदा तिष्ठति भक्तस्ते ब्रह्महापि विमुच्यते।।
निश्चला हि त्वयि भक्तिः सैव मुक्तिर्जनार्दन।
मुक्ता एव हि भक्तास्ते न सन्देहो यतो हरे।।

इति स्कान्दे।

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।।

इति श्रीमद्भागवते।

सालोक्यं=समानलोकवासः। सार्ष्टि=षड्गुणैश्वर्यम्। सामीप्यं=निरञ्जनः परमं साम्यमुपेतीति श्रुतेः।

अथ प्रपत्तिः श्रीमद्भागवते—

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च।।
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः।।

श्रीमद्भगवद्गीतासु-

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

सा च शरणागतिः षोढा आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिस्यतीति विश्वासः। गोप्तृत्वेवरणं तथा।।आत्मनिः क्षेपः कार्पण्यम्। षड्विधा शरणागतिरिति कुमारोक्तेः। शरणागतः श्रीमद्भागवते—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः।।
बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्।।
वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः।
शुष्कवादविवादेन कञ्चित्पक्षं समाश्रयेत्।।

स्थिरसुफलमनल्पं वाञ्छितं यो ददाति सकलगुणगणाढ्यो देव एकोऽद्वितीयः।
तमिह शरणमीशं सांख्ययोगाभिगम्यं प्रणमति जन एषः कृष्णचन्द्रं मुकुन्दम्।।१।।
वृन्दावनेशस्य कृपाकटाक्षतो ग्रन्थो हि सिद्धः श्रुतिसारभूतः।
सिद्धान्तरत्नाञ्जलिनामधेयः तनोतु मोदं सनकानुयायिनाम्।।२।।

इति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्तकश्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रपादपीठसमलङ्कृत-श्रीश्रीभट्टपादपद्मपरागभृङ्गेण श्रीहरिव्यासदेवाचार्यविरचितवेदान्त-सिद्धान्तरत्नाञ्जलौ चतुर्थः परिच्छेदः।।४।।

श्रीवृन्दावनचन्द्रिका—मुक्ति तो निरतिशय आनन्दरूपा है यानी अथाह आनन्द। अथवा अविद्या=अज्ञान की निवृत्ति ही मुक्ति यानी अज्ञानरूप अंधेरे का पर्दा दूर हो जाना ही मुक्ति है। कई कहते हैं कि पापों की निवृत्ति 'मुक्ति' है। दूसरे कुछ लोग बताते हैं—आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति ही मुक्ति है। वै[से] ही पद्मपुराण में कहा गया है—वैष्णवजनों को कर्मों का बन्धन और जन्म नहीं होता है। वे सदा भगवान् श्रीविष्णु के अनुचर होते हैं। मनीषियों ने इसी को मोक्ष बताया है। अभक्त समस्त धर्म-कर्म करता भी है तो नरक में जाता है। हे हरे! आप का भक्त ब्रह्महत्या भी करता हो तो पापों से मुक्त हो जाता है। हे जनार्दन! उसकी आपमें सदा निश्चला भक्ति है और वही मुक्ति है।

स्कन्दपुराण में आया है कि हे हरे! जो आपके भक्त हैं, वे मुक्त ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

श्रीमद्भागवत में वर्णित है—

१.सालोक्य, २.सार्ष्टि, ३.सामीप्य, ४.सारूप्य, ५.ऐक्य; अपने भक्तों को देने पर विना मेरी सेवा के वे ग्रहण नहीं करते हैं। सामीप्य अर्थात् समान लोक में निवास; सार्ष्टि अर्थात् छः गुण-ऐश्वर्य को प्राप्त हो जाना; सारूप्य अर्थात् समान रूप का लाभ। श्रुति में उल्लिखित है कि उपाधिरहित जीव परमात्मा की समानता को प्राप्त करता है।

अब प्रपत्ति अर्थात् शरणागति को कहते हैं—श्रीभगवान् उद्धवजी को और अर्जुन को प्रपत्ति का उपदेश करते हैं—हे उद्धव! तुम विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति और सुनने योग्य और सुने हुए को छोड़कर, मैं जो एक सब शरीरधारियों की आत्मा हूँ, मेरी शरण में हो जाओ और मेरी सहायता से तुम सर्वथा भयरहित हो जाओ। हे अर्जुन! तुम सब धर्मों का परित्याग करके एक मेरी ही शरण में आ जाओ। और वह शरणागति अर्थात् सर्वप्रकार धर्मविचार परित्याग करके श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करो।

'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वे० उ० ६/१८) इस श्रुति वाक्य में मुमुक्षु को श्रीभगवान् की शरणागति लेने के लिये कहा गया है।

श्रीगुरु और श्रीभगवान् में प्रपत्ति=शरणागति मोक्ष का एक विशेष साधन है, यह भी भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने कहा है, **यथा**—'शरणं साधनं विदुः' (प्रपन्नकल्पवल्ली-२)।

उन्होंने इसमें रामायण का प्रमाण दिखलाकर कहा है कि जब विभीषण मित्रभाव से भगवान् श्रीरामचन्द्र के शरणापन्न हुए तब वानरों में महाकौतूहल और परस्पर विवाद उपस्थित हुआ था। वे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी से बोले कि विभीषण शत्रु रावण का भाई है, अतः शत्रु है; उसको आश्रय देना अत्यन्त असङ्गत है। इसके उत्तर में भगवान् श्रीरामचन्द्र ने कहा है कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।
मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतद् विगर्हितम्।।

जो एक बार मात्र मेरा शरणापन्न होकर 'मैं तुम्हारा हूँ' कहकर प्रार्थना करता है, मैं उसे सभी प्राणियों से अभय प्रदान करता हूँ, यह मेरा व्रत है। यद्यपि उसका दोष रहे तथापि मित्रभाव से मुझे प्राप्त होने से (मेरी शरण ग्रहण करने से) मैं उसका किसी प्रकार से परित्याग नहीं करता हूँ, उसका परित्याग करना सत्पुरुषों के लिये निन्दनीय है।

भगवान् श्रीरामचन्द्र के इस वाक्य में से यह प्रमाणित होता है कि श्रीभगवान् के शरणागत होने से उस शरणागत के प्रति उनकी विशेष कृपा होती है और उनकी उस कृपा से इस मृत्युरूप संसारसागर से वह मुमुक्षु मोक्ष लाभ करता है।

श्रीमद्भागवत में करभाजन सिद्धेश्वर ने प्रपत्ति—शरणागति का सम्यक् वर्णन किया है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तुम्।।

हे राजन्! जो समस्त कर्मों का परिहार करके सर्वात्मभाव से शरण्य भगवान् श्रीमन्मुकन्द के शरणागत होता है, वह देव, ऋषि, प्राणी, कुटुम्ब, मनुष्य और पितृगण का किङ्कर नहीं होता है और उनसे ऋणी भी नहीं रहता है।

वहीं कवि नामक सिद्धेश्वर ने कहा है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाऽश्नतः स्युः तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायाऽनुघासम्।।
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन् ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्।।

(श्रीमद्भा० ११/२/४२-४३)

जैसे भोजन करने वाले व्यक्ति के प्रत्येक ग्रास में भी भोजन के साथ ही साथ एक ही काल में तुष्टि, पुष्टि (तृप्ति अथवा सुख जीवनशक्ति का सञ्चार) और क्षुधानिवृत्ति—ये तीनों ही एक साथ हो जाते हैं, वैसे ही जो शरणागत व्यक्ति श्रीभगवान् हरि की शरण लेकर उनका भजन करने लगते हैं, शरणागति काल में एक ही साथ संसार में विरक्ति, श्रीभगवद्भक्ति व श्रीभगवान् में अनवद्य अनुराग और श्रीभगवद् अनुभूति यानी श्रीभगवान् के स्वरूप का ज्ञान—इन तीनों की प्राप्ति होती है। हे राजन्! जो इस प्रकार शरणागति के द्वारा भगवान् अच्युत के श्रीचरणकमलों का भजन करते हैं, उन भागवत को संसार में विरक्ति, श्रीभगवान् में प्रेमलक्षणा भक्ति और श्रीभगवान् की अनुभूति (अनुभव)—ये सब निश्चित ही प्राप्त होते हैं। तब वे स्वयं परम शान्ति मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार से शुकशास्त्र श्रीमद्भागवत में शरणागति को मोक्ष का साधन कहा गया है।

अतः जीव अहङ्कार का परित्याग करके श्रीभगवान् की प्रपत्ति शरणागति (शरणापन्न) को ग्रहण करे। श्रीभगवान् की शरण में रहने वालों को श्रीभगवत्प्रपन्न कहते हैं। श्रीभगवत्प्रपन्नजन ही उनकी दैवीमाया से पार होकर मोक्षलाभ करते हैं। इस बात को स्वयं श्रीभगवान् ने गीताशास्त्र में कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

(गी० ७/१४)

मेरी यह गुणमयी दैवीमाया को अतिक्रमण करना निश्चय ही दुःसाध्य है। जो मेरे शरणागत होते हैं; वे ही इसको लाँघ सकते हैं। इस वाक्य में स्पष्ट यह हुआ है कि श्रीभगवान् की दैवीमाया का अतिक्रमण करने के लिये श्रीभगवान् की शरणागति लेनी ही पड़ेगी शरणागति लेने से ही उनकी माया से उत्तीर्ण होकर मोक्षलाभ किया जा सकेगा। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि सायुज्य-सामीप्य-सालोक्य इत्यादि मोक्ष के लिये भगवान् श्रीहरि की

प्रपत्ति—शरणागति लेना अत्यन्त आवश्यक है और मोक्ष का असाधारण कारण है।

आत्मनिक्षेप को ही शरणागति कहते हैं—

'प्रपत्तिश्चात्मनिक्षेपः' (प्रपन्नकल्पवल्ली ४) और आत्मा तथा आत्मीय के (अपना जो कुछ है, वे सबके—सबका) भार समर्पण को आत्मनिक्षेप कहा जाता है। यथा—आत्मात्मीयभरन्यासो ह्यात्मनिक्षेप उच्यते (प्रपन्नसुरतरुमञ्जरी) इस आत्मनिक्षेप के पाँच अङ्ग हैं; जैसे—१.आनुकूल्य का सङ्कल्प, २.प्रातिकूल्य का वर्जन, ३.श्रीभगवान् ही मेरी रक्षा करेंगे—यह दृढ़ विश्वास ४.श्रीभगवान को रक्षकत्व में वरण, ५.कार्पण्य (गर्वहानि)।

शरणागति के अधिकारी कौन हैं? उसे बतलाते हुए भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य कहते हैं—

अकिञ्चनोऽनन्यगतिः सर्वसाधनवर्जितः।
कार्पण्यादिसमायुक्तोऽधिकारी परिगीयते।
आचार्यदेवो विषयैर्विरक्तस्तत्त्वचिन्तकः।।

(प्रपन्नकल्पवल्ली २४-२५)

१.जो अकिञ्चन=जिसके पास श्रीभगवद् व्यतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है, २.अनन्यगति श्रीभगवान् को छोड़कर जिसके अन्य-गति प्राप्ति स्थान नहीं हैं, ३.सर्वसाधनवर्जित, ४.कार्पण्यादियुक्त, ५.आचार्यदेव, ६.विषयों से विरक्त एवं तत्त्वचिन्तक—वे ही शरणागति के यथार्थ अधिकारी हैं। १.परिग्रह ही दुःख के लिये है। मनुष्यों का जो प्रियतम वस्तु है, उसे जानकर जो अकिञ्चन है, वह अनन्त ब्रह्मसुख को प्राप्त करता है, २.अन्य साधनों की उपेक्षा करके केवलमात्र श्रीगुरुकृपा के ऊपर ही निर्भरशील होना ही 'अनन्यगति' है, ३.श्रीगुरु की शरणागति भिन्न अन्य कोई साधन की अपेक्षा-रहित होने को 'सर्वसाधनवर्जित' कहते हैं, ४.कार्पण्य=दीनता, ५.यथार्थ गुरुभक्त, गुरुसेवक ही आचार्यदेव, ६.इह लौकिक तथा पारलौकिक सर्वप्रकार भोग्य विषयों के प्रति आसक्तिहीन पुरुष को ही 'विषय-विरक्त' कहते हैं, ७.आत्म-परमात्म-अनात्म अर्थात् जीवात्म-परमात्म जड-जगत् तत्त्वत्रय के चिन्तनशील व्यक्ति को ही 'तत्त्वचिन्तक' कहते हैं।

छः प्रकार की प्रपत्ति के स्वरूप का अब वर्णन करते हैं—

१.आनुकूल्य का सङ्कल्प—श्रुति-स्मृति में सुना जाता है कि जो एक ही श्रीभगवान् सर्वात्म रूप में समस्त प्राणियों के उस-उस हृदय में प्रविष्ट होकर

सबका शासन कर रहे हैं; जैसेकि सबकी आखों में एक ही सूर्य होता है, ठीक वैसे ही ये परमात्मा विश्वात्मा श्रीकृष्ण सबके भीतर प्रविष्ट होकर सब पर शासन कर रहे हैं—**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा** (तै०अ०३-११) तथा श्रीगीताशास्त्र में स्वयं श्रीभगवान् ने कहा—

'अहमात्मा गुडाकेश' (गी०१०/२०) इत्यादि श्रुति-स्मृतिवाक्य द्वारा यह निश्चय होता है कि चेतन-अचेतन जीव-जगत् सबका अन्तरात्मा श्रीभगवान् ही है। इसलिए चराचर जीव-जगत् समस्त ही श्रीभगवान् का देह होने से सकल प्राणी का ही अनुकूल आचरण करना कर्त्तव्य रूप निश्चय ही आनुकूल्य का सङ्कल्प है। जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने कहा है—

चराचराणि भूतानि सर्वाणि भगवद्वपुः।
अतस्तदानुकूल्यं मे कर्तव्यमिति निश्चयः।।

(प्रपन्नकल्पवल्ली१०/११)

२. प्रातिकूल्य का वर्जन—

जैसे—जो समस्त आचरण श्रीभगवान् की प्राप्ति के प्रतिकूल है, उस समस्त का वर्जन ही है—प्रातिकूल्य का वर्जन। जैसे—१. शरीरेन्द्रियादि अनात्मवस्तु में आत्मबुद्धि, २.जीवात्मरूपी अपने में स्वातन्त्र्य बुद्धि, ३. अपने को श्रीभगवान् और श्रीगुरु से भिन्न अन्य का अधीन कहकर मान लेना। ४.निजी आत्मा का और आत्मीयवर्ग का श्रीभगवदधीनत्व विषय में संशय। ५.श्रुति-स्मृत्यात्मक श्रीभगवदाज्ञा की उपेक्षा। ६.असत् शास्त्र का अध्ययन। ७.श्रीभगवदवतार में मनुष्य-तिर्यगादि बुद्धि। ८.श्रीशालग्रामादि श्रीभगवदर्चा विग्रह में पाषाणमयत्व-ज्ञान अनीश्वरत्व अचेतनत्वादि बुद्धि। ९.श्रीभगवन्नाममन्त्रादि में शब्द सामान्यबुद्धि। १०.श्रीभगवत्सम्बन्धी कथा आख्यानादि में लौकिक आख्यान बुद्धि। ११.अनन्त, शुद्ध स्वाभाविक सार्वज्ञ्यादि कल्याणगुणसागर श्रीभगवान् में गुण शक्तिहीनत्व की कल्पना। १२.श्रीभगवान् के गुणसमूह को मायिक कहकर मान लेना। १३.श्रीगुरु में मनुष्यबुद्धि। १४.असत् सङ्ग—ये सब श्रीभगवत्प्राप्ति के प्रतिकूल हैं, इनका वर्जन ही प्रतिकूल का वर्जन है।

३. श्रीभगवान् ही मेरी रक्षा करेंगे यह दृढ़विश्वास। भगवान् श्रीरामचन्द्र ने स्वयं कहा है—

सकृदेव प्रपन्नो यः तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।

(वाल्मीकिरामायण)

जो व्यक्ति एकबार मेरा शरणापन्न होकर 'मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकार याचना करता है अर्थात् मुझे तुम्हारा कर लो इस प्रकार सर्वान्तःकरणसहित कहता है, मैं उसे सभी प्राणियों से अभयदान करता हूँ, यह मेरा व्रत है।

स्वयं भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

(गी०१८/३६)

समस्त धर्म (धर्माधर्म-विचार) का परित्याग करके मेरी शरण ग्रहण करो, मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर, तुम्हारी चिन्ता का कोई कारण नहीं है। श्रीभगवान् के ये समस्त प्रतिज्ञावाक्य और अनन्त असंख्य कारुण्यादि गुण का स्मरण करके वे निश्चय ही हमारी रक्षा करेंगे, शरणागत व्यक्ति इस प्रकार दृढ़ विश्वास करें। चूँकि दृढ़ विश्वास से ही वस्तु की प्राप्ति होती है।

४.गोप्तृत्ववरण—श्रीभगवान् सर्वशक्तिमान ब्रह्मेश कालादि के नियन्ता कारुण्यादि अनन्त असंख्य कल्याणगुणसागर होने पर भी प्रार्थना नहीं करने से वे रक्षा नहीं करते हैं, प्रार्थनारहित आत्मपराङ्मुख व्यक्तिगण की रक्षा करने पर जन्म-मृत्युप्रवाहरूप संसारसागर से उद्धार करने पर सर्वमोक्ष प्रसङ्ग की उपस्थिति होगी।

अर्थात् संसार के सकल व्यक्ति को मोक्ष की आपत्ति होगी। सबका मोक्ष हो जाने पर जगत् की सृष्टि-स्थित्यादि का लोप प्राप्त हो जायेगा, शास्त्रमर्यादा भी रक्षित नहीं होगी, अतएव वे निश्चय ही मेरी रक्षा करेंगे—यह दृढ़ विश्वास रखकर रक्षा करने के लिये सर्वदा प्रार्थना करनी होगी, तब ही वे रक्षा करेंगे। इस प्रकार प्रार्थना करने को गोप्तृत्ववरण कहते हैं। इस विषय में शास्त्रवाक्य है—

अप्रार्थितो न गोपायेदिति तत्प्रार्थना मतिः।
गोपायिता भवत्येवं गोप्तृत्ववरणं स्मृतम्।।

(प्रपन्नसुरतरुमञ्जरीधृतनारदपञ्चरात्रवचन)

गोप्तृत्ववरण मन्त्र निम्न प्रकार है—

प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर।
आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो।।
श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो।।

केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन।
गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव।।

(गोपालतापनीयोपनिषद्, पूर्वभाग, १५-१७)

५.कृपणत्व (गर्वहानि)—मोक्ष की प्राप्ति के लिये मेरे द्वारा बहुत उपाय का अवलम्बन करने पर भी वह सब असिद्ध हो रहा है, पुनः-पुनः बहुत प्रकार विघ्न उपस्थित होकर व्यर्थ कर रहा है, सुतरां मोक्षलाभ का साधन करने का मेरा कोई सामर्थ्य नहीं है, इस प्रकार ज्ञान होकर मोक्षलाभ के साधनविषय में, निज कर्तृत्वाभिमान-रहित (गर्वहानि) होने को कृपणत्व कहा गया है—

उपाया नैव सिद्ध्यन्तीत्युपाया विविधास्तथा।
इति या गर्वहानिस्तद् दैन्यं कार्पण्यमुच्यते।।

इस प्रकार पाँच प्रकार की शरणागति के अङ्ग का अनुशीलन करते-करते क्रमशः शरणागतभक्त श्रीभगवान् में परिपूर्ण आत्मसमर्पण घटते रहते हैं। मैं और मेरा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, स्त्री, पुत्र, विषय-सम्पत्ति इत्यादि सब के सब श्रीभगवान् के ही हैं, मेरा कुछ है ही नहीं, इस प्रकार बुद्धि में प्रतिष्ठित होकर अपनापन और मेरापन एवं ममत्व बुद्धि का परित्याग करके सर्वतोभावेन श्रीभगवान् में ही समर्पण करना पड़ेगा—करना होगा। इस प्रकार करना ही परिपूर्ण आत्मसमर्पण है। इस प्रकार जो कर सकते हैं, उन पर श्रीभगवत्कृपा होती है तथा श्रीभगवत्कृपा से अतिशीघ्र ही उनको सर्वाभीष्ट लाभ होता है एवं वे मोक्षलाभ के अधिकारी होते हैं।

'तदर्पिताखिलाचारता' ही है आत्मसमर्पण का लक्षण। आत्मसमर्पण करने वाले भक्त निजी सभी तरह की इच्छाएँ, सङ्कल्प, कायिक, वाचिक समस्त प्रकार के भाव व कार्य श्रीभगवान् के उद्देश्य को ही समर्पण करते हैं, श्रीभगवत्प्रीति ही उनका एकमात्र लक्ष्य होता है। अपनी आत्मप्रीति और इन्द्रियों की सेवा नहीं। स्वयं श्रीभगवान् ने गीताशास्त्र में यही बात कही है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्।।

(गी०९/२१)

अर्थात् हे कौन्तेय! तुम जो कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन (यज्ञ) करते हो, जो कुछ दान करते हो एवं जो कुछ तपस्याचरण करते हो; तत्समस्त ही मुझे अर्पण कर। इस भाव में सब कुछ ब्रह्मार्पण बुद्धि में करने पर श्रीभगवान् में सर्वविषय में सर्वभाव में आत्मसमर्पण करते रहने पर क्रम-

क्रम में साधक का श्रीभगवान् में ही आत्मविलय घट जाता है—आत्महोम हो जाता है एवं साधक कृतकृत्य हो जाते हैं। तब साधक 'मैं जो सब भाव में श्रीभगवान् का ही, मेरी श्रीभगवान् से पृथक् सत्ता नहीं, मेरी स्थिति प्रवृत्ति प्रभृति सब कुछ ही जो मैं सम्पूर्ण रूप में श्रीभगवान् के ही अधीन हूँ, कोई अवस्था में ही कुछ मात्र स्वातन्त्र्य नहीं, मैं जो श्रीभगवान् के ही अङ्गीभूत होकर रहता हूँ' इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभूति में श्रीभगवान् के साथ नित्य योग में प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार आत्मसमर्पण के द्वारा भक्त साधक श्रीभगवत्कृपा से श्रीभगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष प्राप्त करते हैं।

श्रीगुर्व्वाज्ञानुवृत्तियोग

नवधा साधन भक्ति, कर्मयोग, ज्ञानयोगादि साधनों में जो असमर्थ हैं, जिस प्रकार श्रीभगवत्प्रपत्ति बतायी गयी, उसी प्रकार प्रपत्ति के अङ्गों के अनुष्ठान को अत्यन्त दुष्कर जानकर उसमें सम्यक्‌रूप से अनुशीलन करने में असमर्थ जो सर्वप्रकार श्रीगुरु में आत्मसमर्पण करके निर्विचार केवल मात्र श्रीगुरू की आज्ञा का पालन करते हैं, इसे 'श्रीगुर्व्वाज्ञानुवृत्तियोग' कहते हैं। इस गुर्वाज्ञानुवृत्तियोग के द्वारा ही वे मोक्षलाभ करते हैं। इस गुर्वाज्ञानुवृत्तियोग को भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य स्वतन्त्र रूप में मोक्ष का एक साधन बतलाये हैं—

एवं गुरोः प्रेष्ठतमो ह्यात्मन्यासी दृढव्रतः।
सर्वबन्धविनिर्मुक्तः सायुज्यमधिगच्छति।।

(प्रपन्नकल्पवल्ली २७)

अर्थात् इस प्रकार जो दृढ़व्रत होकर श्रीगुरु में आत्मसमर्पण करता है, वह व्यक्ति श्रीगुरु का परम प्रियतम हो जाता है एवं संसारबन्धनों से सम्पूर्ण रूप में मुक्त होकर ब्रह्मसायुज्य (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। अतएव वर्तमान (यह घोर कलि) काल में यह श्रीगुर्वाज्ञानुवृत्तियोग सर्वश्रेष्ठ और सहज साधन है। जो इस साधन को करते हैं, वे किस भाव में आत्मसमर्पणपूर्वक श्रीगुरु की सेवा करेंगे, उस विषय में भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य अपने मन्त्ररहस्यषोडशी नामक ग्रन्थ में बतलाये हैं—

आदौ गुरौ न्यसेत् प्राणमात्मानं धनमेव च।
सर्वसम्बन्धविषयं कृत्वा सेवेत नित्यशः।।
देहेन्द्रियमनःप्राणैर्मायां हित्वा समाहितः।
भृत्यवत् पुत्रवत् सेवेत् प्रियावन्मित्रवत्तथा।।

पहले श्रीगुरु में अपने प्राण, मन, बुद्धि, धनादि का समर्पण करें एवं

उनको सकल प्रकार सम्बन्ध का विषय करके नित्य श्रीगुरु की सेवा करें। विषयासक्ति और कपटता का परित्याग करके एकाग्रचित्त से शरीर, इन्द्रिय, मन और प्राण के द्वारा श्रीगुरु की भृत्य के समान, पुत्र के समान एवं मित्र के समान अपना मानकर ही सर्वप्रकार से सर्वभावेन गुरुसेवा करें।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य अपने प्रपन्नकल्पवल्ली नामक ग्रन्थ में बतलाते हैं—

पुत्रमित्रकलत्राद्यैरीज्यन्ते प्रतियोगिनः।
तद्वत् स्वात्मभावेन शिष्यः सेवेत सद्गुरुम्।।२०।।
आत्मात्मीयत्वसम्बन्ध एतावान् वर्ण्यते बुधैः।
गुरोरात्मादिकं यत्तत् पृथक् नेक्षेत किञ्चन।।२१।।
एवं तद्भावमापन्नस्तदासौ सर्वभावतः।
भगवद्भावमाप्नोति पुनरावृत्तिवर्जितः।।२२।।

जिस प्रकार पुत्र पिता की, मित्र मित्र की, स्त्री पति की सेवा करती है; उसी प्रकार शिष्य सर्वात्मभाव से सद्गुरु की सेवा करे। शिष्य आत्मा और आत्मीयादि को गुरु से पृथक् न देखे। इसे ज्ञानिगण आत्मीयत्व सम्बन्ध कहते हैं। इस प्रकार शिष्य जब सब भाव में गुरु में आत्मात्मीय सम्बन्ध स्थापन करता है तब वह पुनरावृत्तिवर्जित होकर श्रीभगवद्भाव (मोक्ष) लाभ करता है। वस्तुतः श्रीगुरु में सर्वतोभाव में आत्मसमर्पण और श्रीगुरु की आज्ञापालनरूप सेवा के द्वारा ही शिष्य श्रीगुरु और श्रीभगवत्कृपा से आत्मज्ञान-लाभ करने में समर्थ होता है। यह बात श्रीभगवान् ने स्वयं गीताशास्त्र में कही है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

(गी०४/३४)

सारे जगत् के मूल कारण और जिनके निःश्वास से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है, वे ही पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजी से कहते हैं— ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, मुमुक्षु और मोक्ष की भी अपेक्षा न रखने वाले मेरे भक्त आश्रमों की मर्यादा में बद्ध नहीं हैं। वे चाहें तो आश्रमों और उनको छोड़-छाड़कर, वेद-शास्त्र विधि-निषेधों से परे होकर अकेले ही एकान्त स्थानों पर स्वच्छन्द विचरें। वह ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न परम बुद्धिमान् परम ज्ञानवान होकर भी बालकों के समान खेलें। कुशल-निपुण-चतुर-पारङ्गत होकर भी जडवत्=जड

की भाँति रहें। विद्वान् होकर भी पागल की तरह बात-चीत करें और समस्त वेद-विधियों के जानकार होकर भी पशुवृत्ति से रहें। उन्हें चाहिये कि वेदों के व्याख्यान करने में न लगें, पाखण्ड न करें, तर्क-वितर्क से बचें और जहाँ कोरा वाद-विवाद हो रहा हो, वहाँ कोई पक्ष न लें। आकाश के समान बाहर और भीतर परिपूर्ण एवं आवरणशून्य मुझ परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम को ही समस्त प्राणियों में और अपने हृदय में स्थित देखें। अपने ही लोग अगर हँसी करें तो करने दें, उनकी परवाह न करें, 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देह आत्मबुद्धि को और लोक-लज्जा को छोड़ दें। कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधे को भी पृथ्वी पर गिर कर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्राणाम करें—(श्रीमद्भा०११/१८/२८-३०, ११/२९/११-१६)।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः।

(भा०११/१९/५)

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

(गी०९/३३)

ज्ञान के साथ अपने जीवात्मस्वरूप को जानकर ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न होकर भक्ति-भाव से मेरा भजन करें।

जब तक यह देह नाश नहीं होता, तब तक अन्य सुखों के साधनों को छोड़कर अति शीघ्र ही मेरा भजन कर।

सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर निरन्तर ही मेरा भजन करो, ध्यान करो, मुझको प्रणाम करो।

ग्रन्थ की परिसमाप्ति में यह वक्तव्य है कि श्रीभगवान् किसी भी प्रकार साधनादि कर्मों के अधीन नहीं हैं।

वे स्वयंप्रकाश, स्वप्रकाशस्वरूप हैं, स्वेच्छामय हैं; कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सर्वसमर्थवान् हैं; जगत्सृष्टि-स्थिति-विनष्टि और मुक्ति के कारण हैं। वे कृपा करके निकट अपने को प्रकाश करेंगे, वही उनका दर्शनलाभ कर सकता है। अत: उनके कृपाप्रसाद के लिये ही साधनादि आवश्यक हैं, साधनादि स्वप्रकाश, स्वेच्छामय, परमस्वतन्त्र भी भगवान् को प्रकाश नहीं कर सकते। इसलिये वे स्वयं कृपा करके दर्शन देंगे, मेरे समीप अपने स्वरूप को प्रकट करेंगे—ऐसी श्रीभगवान् की प्राप्ति में प्रतीक्षा, आर्ति, व्याकुलता के साथ श्रीभगवद्दर्शन के लिये सदा प्रार्थना करते रहना चाहिये। जरा ध्यान देकर ब्रह्मस्तुति में देखें—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्।।

(श्रीमद्भा १०/१४/८)

हे भगवन्! मुझ पर कब आपकी कृपा होगी, इस प्रकार जो श्रीभगवान् की कृपा के लिये प्रतीक्षा करके तन-मन-वाणी से भगवान् श्रीहरि को नमन करते हुए (आत्मसमर्पण) अपने कर्मों के फल को अनासक्तभाव से भोग करते हुए जीवन धारण करते हैं, वे ही मुक्ति के हिस्सेदार होते हैं। हमारी भावना है—

शुद्धभावं समाश्रित्य जीवने सर्वथा चरेत्।
कायेन मनसा वाचा राधाकृष्णौ सदा भजेत्।।

जो सदा स्थायी अनन्त ब्रह्म सुख को देने वाला है, जो अनन्त, असंख्य कल्याणगुणों के सागर हैं, जिसके समान और जिससे बढ़कर कोई दूसरा नहीं है, यानी जिसके बराबर कोई नहीं हैं, वह अद्वितीय सद्वस्तु परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीवृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र सबको शरण देने वाला, सबका मालिक, सांख्य-योग द्वारा प्राप्य यह जन लोक उस मुक्तिदाता श्रीमन्मुकुन्द को मन, वाणी और शरीर से प्रतिदिन प्रणाम करते हैं।

उस अकारण करुणावरुणालय वात्सल्यादि गुणगणालय सकल लोक जन्मादि कारण, प्रपन्न परिपालक, ब्रह्मा शिवादि द्वारा सदा वन्दनीय, माया गुण दोष लेश-रहित, चिदचिच्छक्तियुक्त सर्वभिन्नाभिन्न वेदान्तवेद्य श्रीवृन्दावन-चन्द्रिका राधिका-श्रीवृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र की कृपा से यह श्रुति=वेद साररूप सद्ग्रन्थ पूरा हुआ है। भवाग्रज भगवदवतार श्रीसनक सनन्दन सनातन तथा सनत्कुमार के अनुयायी जनों को यह वेदान्तसिद्धान्तरत्नाञ्जलि परम आनन्द प्रदान करे एवं सुख-शान्ति का विस्तार करे।

जीवन-प्रदायिनी पुण्यसलिला माँ नर्मदा के उत्तर तट पर स्थित सैकड़ों वर्ष पुराने पीपल वृक्ष के नीचे झलौन घाट में बैठकर नित्यलीलाप्रवेश हमारे परमाराध्य सद्गुरुदेव अनन्त श्रीविभूषित योगिराज श्री १००८ स्वामी राधाविहारी-दासजी काठियाबाबा की अहैतुकी कृपादृष्टि से प्रस्तुत सद्ग्रन्थ की भक्ति-**नारदो देवदर्शनः।** वैराग्यवर्द्धिनी '**श्रीवृन्दावनचन्द्रिका**' नाम्नी सरल एवं सुबोध तथा राष्ट्रभाषा-हिन्दी में व्याख्या बहुजनहिताय बहुजनसुखाय तथा

सर्वभूतहिते रताः के अनुसार यथाधीत यथामति लिखी है। हमारे पूर्वाचार्य महापुरुष महानुभाव परम्परानुगत समस्त श्रीगुरुचरणों को देवभाषा संस्कृत में दो श्लोकों द्वारा हम हमेशा दण्डवत् प्रणाम करते हैं—

श्रीहंसं च सनत्कुमारप्रभृतीन् वीणाधरं नारदं
निम्बादित्यगुरुं च भास्करमितान् श्रीश्रीनिवासादिकान्।
वन्दे सुन्दरभट्टदेशिकमुखान् वस्विन्दुसंख्यायुतान्
श्रीव्यासाद्धरिमध्यगाच्चस परतः सर्वान् गुरून् सादरम्।।१।।
येऽभूवन् गुरवो नवापि च पुरा श्रीमत्स्वभूराम इ-
त्येते श्यामलपूर्वका इह सदा ते पञ्च पश्चादथ।
बन्द्यस्साम्प्रतमिन्द्रदास इति यश्श्रीकाष्ठकौपीनकृत्
सर्वांस्तान् विनतेन तेन मनसा भूयो नमामो वयम्।।२।।

अन्त में श्रीभगवान् और श्रीगुरु में पराभक्ति के उपदेश-सूचक श्रुति के सुप्रसिद्ध मन्त्र का स्मरण करते हुये इस सद्ग्रन्थ का समापन करते हैं—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

(श्वेताश्वेतरोपनिषद् ६/२३)

बस इतना ही जानना प्रयोजन है कि केवल श्रीगुरु का आश्रय ग्रहण करके साधन-भोजन करने से ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती; बल्कि उनके द्वारा उपदेश किये गये साधन को ग्रहण करके ब्रह्मज्ञानलाभ करना पड़ेगा। जिसकी इष्टदेव के प्रति एवं निकट ही उपनिषत्कथित ब्रह्मविद्या प्रकाशित होती है। अथवा यों समझें, श्रीभगवान् और श्रीगुरु में एक ही प्रकार की पराभक्ति जिसकी है, उसी के ही मध्य में श्रुति में उपदिष्ट ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है।

इति श्रीमन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रमतानुवर्तिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यत्यागमूर्ति-स्वामिधनञ्जयदासजीकाठियाबाबातर्कतर्कव्याकरणतीर्थपादपद्मान्तेवासी योगिराजस्वामिराधाविहारिदासजीकाठियाबाबाचरणारविन्दचञ्चरीक डॉ० स्वामी द्वारकादासकाठियाबाबाकृतव्याख्या 'श्रीवृन्दावन-चन्द्रिका' में चतुर्थ परिच्छेद समाप्त।।४।।

श्रीश्रीराधाकृष्णार्पणमस्तु।

●●●